आधुनिक
भारत
के
निर्माता

एम० आर० जयकर

वी० बी० कुलकर्णी

प्रकाशन विभाग

एम० आर० जयकर



आधुनिक भारत के निर्माता

एम० आर० जयकर

वी० बी० कुलकर्णी

[अनुवादक : दुर्गादत्त पंत]

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

प्रथम संस्करण जनवरी, 1984 (माघ 1905)

मूल्य : 18.00 रुपये

निदेशक; प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाऊस, नई दिल्ली-110 001 द्वारा प्रकाशित।

विक्रय केंद्र ● प्रकाशन विभाग

- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110 001
- कामर्स हाऊस, करीमभाई रोड, बालार्ड पीयर, बंबई-400 038
- 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700 069
- एल० एल० ए० आडीटोरियम, 736, अन्नासलै, मद्रास-600 002
- बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800 004
- निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस रोड, त्रिवेंद्रम-695 001
- 10 बी० स्टेशन रोड, लखनऊ-226 001
- स्टेट आर्किओलॉजिकल म्यूजियम बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन, हैदराबाद-500 004

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, नाशिक द्वारा मुद्रित।

इस पुस्तकमाला के सम्बन्ध में

इस पुस्तकमाला का उद्देश्य वर्तमान और भावी पीढ़ियों के लिए, भारत के उन यशस्वी पुत्रों और पुत्रियों के जीवन संघर्षों और उपलब्धियों की कथा को लेखबद्ध करना है, जिन्होंने हमारे राष्ट्रीय जागरण और स्वतंत्रता की प्राप्ति में प्रमुख भाग लिया। कुछ अपवादों को छोड़कर ऐसे प्रामाणिक जीवनचरित्र उपलब्ध नहीं हैं।

हमारी योजना प्रतिष्ठित नेताओं की संक्षिप्त जीवनियां, विषय की जानकारी रखने वाले व्यक्तियों से सरल भाषा में लिखवाकर छोटी-छोटी पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करने की है। न तो ये विस्तृत अध्ययन के इरादे से तैयार की जा रही हैं और न अधिक बड़ी जीवनियों का स्थान लेने के लिए हैं।

इन जीवनियों के लिखने का काम भिन्न-भिन्न लेखकों को सौंपना पड़ता है, अतः इन्हें कालक्रमानुसार प्रकाशित करना संभव नहीं हो सका। परंतु यह आशा है कि थोड़े ही समय में समस्त लब्धप्रतिष्ठ राष्ट्रीय नेताओं की जीवनियां इस पुस्तकमाला में प्रकाशित हो जाएंगी।

श्री० आर० आर० दिवाकर इस पुस्तकमाला के प्रधान संपादक हैं।

भूमिका

डा० एम० आर० जयकर ने अपना विस्तृत जीवन चरित्र लिखने की योजना बनाई थी। अपने जीवनकाल में वे उसके केवल दो भाग ही प्रकाशित करा सके, जिनमें 1873 से 1925 तक की घटनाओं का वर्णन था। तीसरे भाग की टाइप की हुई कापी तैयार थी, परन्तु छापी न जा सकी। इसमें आगे 1934 तक की घटनाओं का वर्णन था।

एक दशाब्दी से भी अधिक पहले, गोखले इंस्टीट्यूट ऑफ पॉलिटिक्स एण्ड इकानोमिक्स, पूना के निदेशक स्वर्गीय डा० डी० आर० गाडगिल ने मुझसे पूछा था कि क्या आप जयकर की जीवनी लिख सकेंगे। उस समय मुझे अवकाश न था, अतः मैंने सखेद इन्कार कर दिया था। अपने लम्बे जीवनकाल (1873–1959) में जयकर ने जो विशाल सामग्री एकत्रित की थी, वह उनके वसीयतनामा के अनुपालकों ने 1964 में भारत के नई दिल्ली स्थित राष्ट्रीय अभिलेखागार में दे दी थी।

दिसम्बर 1971 में प्रकाशन विभाग ने मुझसे लिख कर पूछा कि क्या आप जयकर की जीवनी लिखने को राजी हैं या नहीं। यद्यपि उस समय भी मैं अपनी नवीन पुस्तक 'इण्डिया एण्ड पाकिस्तान : ए हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ हिंदू-मुस्लिम रिलेशन्स' लिखने में अत्यधिक व्यस्त था, फिर भी नकारात्मक उत्तर भेजने की मेरी हिम्मत न हुई, विशेषरूप से इसलिए कि एक बार पहले भी मैं ऐसा कर चुका था। परन्तु मैंने समय मांगा, जो मुझे तुरन्त दे दिया गया।

फरवरी 1973 में, भारत के राष्ट्रीय अभिलेखागार में जयकर पेपर्स (जयकर सम्बन्धी सामग्री) का अध्ययन करने के बाद, अप्रैल 1973 में ही मैं अपने इस नए उपक्रम पर पूरा ध्यान दे सका। जयकर असाधारण परिश्रमी व्यक्ति थे और उन्होंने समकालीन महत्व की प्रचुर सामग्री का विशाल भंडार अपने पीछे छोड़ रखा था परन्तु, मैं अपनी आवश्यकता का बहुत थोड़ा सा अंश ही उससे ले सका।

अपने दीर्घ जीवनकाल में जयकर ने वकील, राजनीतिज्ञ, विधायक और शिक्षाविद आदि कई रूपों में भूमिकाएं अदा कीं। महात्मा गांधी, पंडित जवाहरलाल नेहरू और सरदार वल्लभभाई पटेल जैसे नेताओं की भूमिका से उनकी भूमिका की तुलना करना भूल होगी, परन्तु भारत के निर्माताओं में उनका स्थान सुरक्षित है। उदारवाद का सिद्धांत भी कदाचित उतना ही महत्वपूर्ण था जितना गांधीजी का सीधी कार्रवाई का सिद्धान्त। वस्तुतः जयकर जैसे लोगों की जीवनी से भी बहुत-कुछ सीखा जा सकता है, जिनके व्यक्तिगत सदाचार की ऊंची भावना उनके बौद्धिक उत्कर्ष के बराबर ही थी। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि जो काम मुझे सौंपा गया था वह मैंने जयकर की जन्म-शताब्दी के वर्ष और मास में ही पूरा कर दिया।

मैं भारत के राष्ट्रीय अभिलेखागार के निदेशक का कृतज्ञ हूं, जिन्होंने जयकर की सामग्री देखने की मुझे सुविधाएं दीं। बैरिस्टर ए० जी० मूलगांवकर को भी मैं धन्यवाद देता हूं, जिन्होंने अपने घनिष्ठ मित्र जयकर के व्यक्तिगत जीवन का परिचय मुझे दिया। पुणे विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० जी० एस० महाजनी और फर्ग्युसन कालेज, पुणे के भूतपूर्व प्रिंसिपल डा० डी० डी० कर्वे भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने विश्वविद्यालय सम्बंधी विविध मामलों पर मेरे साथ विचार-विमर्श किया।

मेरी पत्नी श्रीमती निर्मला वी० कुलकर्णी ने परिशिष्ट तैयार करके मुझे अनुगृहीत किया तथा श्री वी० ए० ई० रसक्विन्हा ने सहायता देकर मेरा काम काफी हल्का किया।

वी० बी० कुलकर्णी

19 नवम्बर, 1973

14, शान्ति निकेतन,
कीर्ति कालेज के सामने,
दादर, बम्बई-400 028

विषय सूची

अध्याय 1

विरासत

इस जीवन चरित्र के नायक डा० मुकुंदराव रामराव जयकर एक महान् महाराष्ट्री और प्रख्यात भारतीय थे। वे विद्वान थे और उन्होंने हिंदू अध्यात्म-शास्त्र एवं अपने धर्म के अन्य प्रभूत साहित्य का गंभीर अध्ययन किया था। तत्वतः वे तार्किक थे, परंतु देश के अति प्राचीन धर्म में उनकी अविचल निष्ठा थी। उनका यह विश्वास था कि धर्म, अपने अविकृत सिद्धांतों के जरिए, मानवजाति की शांति एवं प्रगति के लिए बहुत कुछ कर सकता है। संस्कृत के अच्छे ज्ञाता होने के कारण, उसके माध्यम से हिंदू विद्या की विशाल निधि तक उनकी सीधी पहुंच थी। अपने दीर्घ एवं यशस्वी जीवन में वे देश की प्राचीन भाषा के प्रति गहरा प्रेम और आदर-भाव प्रदर्शित करते रहे। भारतीय संस्कृति के महान विद्वान और प्रतिभाशाली भाषा-शास्त्री सर विलियम जोंस की भांति उनका भी यही मत था कि "संस्कृत की संरचना अद्भुत है—यह ग्रीक से अधिक पूर्ण, लैटिन से अधिक विपुल और दोनों से अधिक परिष्कृत है।"

जैसा कि हम इस पुस्तक में आगे पढ़ेंगे, जयकर एक प्रख्यात वकील थे। वे हिंदू विधि, विशेष रूप से दत्तक ग्रहण संबंधी जटिल विधान में पारंगत थे। उनके समय में दत्तक ग्रहण विधि मुकदमेबाजी का प्रमुख स्रोत थी। यह वकीलों के लिए अत्यधिक लाभदायक और मुकदमेबाजों के लिए अत्यधिक हानिकारक थी। देश की प्राचीन विद्या के अपने ज्ञान तथा उन प्रमाणों के अधिकारिक स्रोत तक जाने की अपनी योग्यता के कारण जिन पर वे कानून निर्भर थे, उन्हें उस विधि की व्याख्या में जो सुविधा मिलती थी, वह दूसरे वकीलों को प्राप्त न थी। इसके अतिरिक्त वे मंजे हुए और धाराप्रवाह बोलने वाले वक्ता थे तथा अपने दृष्टिकोण को मार्मिक एवं प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत कर सकते थे। जिस समय देश में बड़े-बड़े व्याख्यानदाताओं की प्रचुरता थी, उस समय वे व्याख्यानदाता के रूप में खूब चमके, विशेष रूप से अंग्रेजी में। मंच कोई भी हो, उनका भाषण सुनने के लिये उत्सुक श्रोतागण सदा भारी संख्या में खिंचे चले आते थे। मुझे स्मरण है, 1930 से आरम्भ होने वाले दशक में, एक बार जब एक कालेज के अंग्रेज प्रिंसिपल से, जो स्वयं अच्छा वक्ता थे, सुसंस्कृत श्रोताओं

की एक सभा को, जयकर के भाषण के बाद, संबोधित करने के लिए कहा गया तो उसने खुल्लमखुल्ला अपनी झिझक स्वीकार कर ली ।

जयकर आलस्य और फूहड़पन के कट्टर शत्रु थे तथा उन्नीसवीं शताब्दी के एक जर्मन राजनेता की भांति उनके विषय में भी यह कहा जा सकता था कि वे सचमुच स्वभाव से ही ऐसे व्यक्ति थे जो काम में ही सुख का अनुभव करते थे पर आराम को हराम समझते थे । 86 वर्ष की परिपक्व वृद्धावस्था में भी मनुष्यों और वस्तुओं में उनकी दिलचस्पी कम नहीं हुई । वे अश्रांत डायरी-लेखक थे और अपने क्रियाकलाप का रिकार्ड रखते थे; विस्तार तथा सूक्ष्म विवरण में कदाचित ही कोई रिकार्ड उसकी बराबरी कर सकता हो । ऐतिहासिक लेखन के लिए उनके परिश्रम और उत्साह का यह प्रमाण है कि उनके पत्र-व्यवहार की कम–से–कम 1,158 फाइलें राष्ट्रीय अभिलेखागार में जमा की गई हैं। भारत के समकालीन इतिहास के अध्येताओं को 'जयकर पेपर्स' में पर्याप्त एवं प्रामाणिक सामग्री मिलेगी । 'जयकर पेपर्स' में पत्र-व्यवहार की एक हजार से भी अधिक फाइलों के अतिरिक्त, उनकी डायरियों की 55 फाइलें तथा समाचार-पत्रों की कतरनों की 261 जिल्दें हैं, इसके अलावा खुली कतरनों के तीन संदूक भी हैं । रिकार्ड के इतने विशाल अम्बार को पढ़ने में पूरा जीवन लग सकता है ।

राजनीति जयकर का प्राण थी, परंतु उसका प्रभाव जितना बुद्धि पर था, उतना मन पर न था । देश की स्वाधीनता के लिए वे कार्य में विश्वास करते थे, परंतु सीधी कार्रवाई में नहीं, न तो क्रांतिकारियों की और न गांधीवादी कांग्रेसियों की । वे अपने को अनुक्रियात्मक सहयोगवादी कहते थे जिसका अर्थ था कि वे देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ना तो चाहते थे परंतु देश के कानूनों को बिना तोड़े । अपने समय के उदारवादियों की भांति उनका भी यही विश्वास था कि जानबूझ कर कानून तोड़ने के लिए चलाए जाने वाले जन आंदोलन देश के भविष्य के लिए गंभीर खतरे से भरे हुए हैं । उनकी दृष्टि में 'सत्याग्रह' अराजकता का व्याकरण था । ये शब्द ब्रिटिश राजनेता लार्ड एसक्विथ के हैं, जिनका प्रयोग डा० आंबेडकर ने, स्वतंत्र भारत के नए संविधान को संविधान सभा में प्रस्तुत करते समय अधिक प्रसंगानुकूल और असरदार ढंग से किया था । जैसा कि हम आगे पढ़ेंगे जयकर महात्मा गांधी के अनेक महान् गुणों की प्रशंसा करते थे, परंतु संविधानवादी होने के कारण वे सविनय अवज्ञा के गांधीवादी तरीके के विरुद्ध थे ।

जयकर आदर्श महाराष्ट्री बुद्धिवादी थे, जो मनोवेग या भावना को कभी भी तर्क या बुद्धि पर हावी नहीं होने देते थे। वे अपने प्रांत, उसकी जनता और उसकी उपलब्धियों पर गर्व करते थे। साथ ही, वे अपनी मातृभूमि के परम भक्त थे। वस्तुतः देश के प्रति उनका प्रेम, वीरता, सहिष्णुता और प्रगतिशीलता महाराष्ट्र से उनके मोह के कारण पैदा हुई थी जो और दृढ़ होती गयी थी। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है: "महाराष्ट्र एक महान् देश, वीरों की भूमि है, उसके नेता निःस्वार्थी, आदरणीय, साहसी व्यक्ति हैं, जिनका सदा गर्व और सम्मान के साथ उल्लेख किया जाना चाहिए।"

शताब्दियों पहले, महाराष्ट्र के संतों, विद्वानों और कवियों ने जातिवाद और अंधविश्वास के बंधन तोड़ डाले थे और निर्भीकता से मानवजाति की एकता की उद्घोषणा कर दी थी। लोगों में आध्यात्मिक और धर्मनिरपेक्षता दोनों ही विषयों में समता का भाव विकसित हो जाने से अपनी विरासत की प्राचीनता और श्रेष्ठता के बारे में नई चेतना तथा उसे नया रूप देने का दृढ़ संकल्प पैदा हो गया था। इसी एकता और 'मिशन' की भावना ने मराठों को अपने लिए राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने तथा देश की संप्रभुता के लिए प्रयत्न करने की शक्ति प्रदान की थी।

जयकर महाराष्ट्र के गौरव से भली भांति अवगत थे, परंतु वे इतने भावुक न थे, कि एक अपुनरावर्तनीय अतीत के स्वप्नलोक में रहना पसंद करते। वे उन महान् महाराष्ट्रियों के काल में रहते थे, जिनमें से अनेक आधुनिक भारत के निर्माता बने। उन्हीं के उदाहरणों से उन्होंने अपनी स्थानीय देशभक्ति को राष्ट्रव्यापी देशभक्ति में बदलना सीखा। उन्होंने लिखा : "विश्व का इतिहास बताता है कि नवयुवकों के मस्तिष्क में अपने देश के प्रति प्रेम और अपने महापुरुषों के प्रति आदर के जो भाव पैदा हो जाते हैं, वे स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण तैयारी सिद्ध होते हैं।"[1]

तेरहवीं शताब्दी के अन्त में महाराष्ट्र के पतन के बाद जब फिर से उसका उदय हुआ, उससे जयकर ने बहुत कुछ सीखा, जैसा कि हर विचारशील व्यक्ति सीखता है। दक्षिण में देवगिरि, जो यादव वंश के शासन में था और जो चिर-काल से धर्म का केन्द्र और गढ़ समझा जाता था, मुसलमानों के विजय के ज्वार

1. द स्टोरी आफ माई लाइफ, खंड 1, एशिया, 1958 पृ० 10

को रोकने में बुरी तरह असफल रहा। वहा का शासक रामचन्द्र कमजोर था और उसमें कोई राजनीतिक सूझ-बूझ न थी। वह हिन्दू राजनीति के पुराने सिद्धांतों पर चलता था और उसने अपने आक्रमणों से पड़ोसी हिन्दू शासकों को अपना शत्रु बना लिया था तथा दक्षिण के समस्त क्षेत्र को कमजोर कर दिया था। उत्तर की ओर से जो खतरा सिर पर मंडरा रहा था, उसकी उसने घोर उपेक्षा की, जिसका कड़वा फल उसे चखना भी पड़ा।

1294 में अलाउद्दीन खिलजी के हमले से हिन्दू राजवंश नष्ट हो गए और समस्त दक्षिण भारत रक्तरंजित होकर औंधा गिर गया। खड्गबाहु महाराष्ट्र को लकवा मार चुका था और वह देश के धर्म एवं संस्थाओं को कोई सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता था। उसको अनेक लड़ाकू जातियों ने अपनी तलवारें बेच कर नए शासकों के यहां नौकरी कर ली थी। मध्याह्न में ही अन्धकार छा गया था। पराजय और नैतिक ह्रास के इस युग में सन्तों, विद्वानों और कवियों की एक नई मंडली जनता में आशा और मुक्ति के सन्देश का प्रचार करने के लिए देश में प्रादुर्भूत हुई। इन मुक्तिदाताओं का उद्देश्य सामाजिक और आध्यात्मिक था, राजनीतिक नहीं था। परन्तु उनके उपदेश इतने प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी होते थे कि उन्होंने महाराष्ट्र में समस्त जीवनक्रम में शीघ्र ही क्रान्ति पैदा कर दी।

तेरहवीं शताब्दी के अन्त में, अद्भुत प्रतिभाशाली और साहित्य मर्मज्ञ ज्ञानेश्वर ने महाराष्ट्र में महान् धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण आरम्भ किया। उन्होंने गीता के आधार पर, धर्म और अध्यात्मशास्त्र पर, एक महत्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ लिखा और अपने नाम पर उसका नाम 'ज्ञानेश्वरी' रखा। यह मराठी का अत्युत्तम ग्रन्थ है तथा शैली के सौन्दर्य और विचारों की उत्कृष्टता में अद्वितीय है। अब भी भक्त और विद्वान सभी इसे बड़े चाव और श्रद्धा से पढ़ते हैं। आधुनिक महाराष्ट्र के निर्माता एम० जी० रानडे ने इस महान् ग्रन्थ के बारे में लिखा है : "मराठी भाषा में जो कुछ गरिमा और विशेषता है, सब ज्ञानेश्वर के कारण है।" उन्होंने यह भी लिखा है : "भाषा के अर्थ-गाम्भीर्य को समझने के लिए 'ज्ञानेश्वरी' पढ़नी चाहिए।"

अपने महान् ग्रन्थ की रचना मराठी भाषा में करके ज्ञानेश्वर ने जनसाधारण और विद्वज्जन के बीच की दीवार को तोड़ दिया तथा यह सिद्ध करने के लिए

एक नई परंपरा यह डाली कि उच्च विचार संस्कृत की ही भांति जनता की भाषा में भी प्रकट किए जा सकते हैं। उनके चरित्र की श्रेष्ठता, उनकी प्रतिभा एवं सद्गुणों की दुर्लभता तथा अपनी महान् आध्यात्मिक विरासत के प्रति जनता की चेतना जागृत करने की कुशलता ने उनके प्रति व्यापक प्रशंसा और आदर की भावना पैदा कर दी। अधिकांश लोगों के लिए उनका नाम प्रेरणा का स्रोत बन गया, जैसा कि वह अब भी बना हुआ है।

वेद विद्या के इस महान् तत्वदर्शी का इस संसार में अवस्थान बहुत कम समय, मुश्किल से 25 वर्ष, तक रहा। उन्होंने ज्ञान और मानवता का जो दीपक जलाया, उसका प्रकाश समस्त महाराष्ट्र में फैला और उसने प्रेम और समता के संदेश को फैलाने में उनका अनुकरण करने के लिए संत कवियों की एक विशाल मंडली को प्रेरित किया। ये ईश्वर भक्त सभी जातियों और वर्गों के थे तथा भक्ति के दृढ़ बंधन से एक दूसरे से बंधे थे। पंढरपुर उनकी भक्ति का केंद्र बन गया तथा अधिष्ठाता देवता 'विठोबा' उनकी पूजा और आराधना के विषय बन गए। इस महान भक्ति आंदोलन के जनक ज्ञानेश्वर तो ब्राह्मण थे, परंतु नामदेव—दर्जी, गोरा—कुम्हार, जोगा—तेली, सावंता—माली, नरहरि—सुनार, तुकाराम—व्यापारी, चोखामेला—हरिजन, सेना—नाई, जनाबाई—नोकरानी और कान्होपात्रा—नर्तकी, थे।

ये संत जन साधारण को विश्वास और सामाजिक समानता का उपदेश देते थे, ताकि वे अंध-विश्वास और कर्मकांड के बंधनों से शीघ्र मुक्त हो सकें, और इस काम के लिए उनकी सबसे बड़ी योग्यता थी। उनका नीची जातियों में जन्म लेना। जनता के सभी वर्गों में धर्म का प्रचार करने तथा विश्वास में एकता और जीवन को अनुशासित दृष्टि प्रदान करने के लिए उन्होंने अविश्रांत परिश्रम किया। जिस समता के सिद्धांत का उन्होंने उपदेश दिया उसने 'वारकरी' आंदोलन का रूप ले लिया। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य जातिप्रथा में अंतर्निहीत सामाजिक विषमताओं को मिटाना था। विषय के अधिकारी एक विद्वान का कहना है: "वारकरी के समता संबंधी उपदेश दक्षिण के मराठों को बहुत अच्छे लगते हैं क्योंकि युद्ध और शांति दोनों में वे समता के इच्छुक रहते हैं।"

महाराष्ट्र के अनेक लोकप्रिय धर्मोपदेशकों ने इस्लाम के लोकतांत्रिक सिद्धांत स्वीकार कर लिए। जिन्होंने इन सिद्धांतों को अपने प्रचार का विषय

बनाया, उनमें नामदेव, एकनाथ और तुकाराम प्रमुख थे । नामदेव चौदहवीं शताब्दी के संत थे । यद्यपि उनका जन्म दर्जी जाति में हुआ था, फिर भी उन्होंने जो गीत लिखे उनमें अलौकिक सौन्दर्य था । उनमें इतने लोकप्रिय उपदेश भरे पड़े थे कि वे सुदूर पंजाब तक जा पहुंचे और सिखों के "ग्रंथ साहब" में आदर के साथ उनका उल्लेख किया गया । एकनाथ सोलहवीं शताब्दी के एक ब्राह्मण उपदेशक थे । वे सामाजिक विषमता के कट्टर विरोधी थे और स्वयं नीची जातियों और गिरे हुए लोगों में रह कर अपने उपदेशों को चरितार्थ करके दिखाते थे ।

विठोबा की स्तुति में विरचित तुकाराम के गीतों ने असाधारण लोकप्रियता प्राप्त की । उनके अभंगों नें धर्म को अंधविश्वास के जाल से निकाला और उसे एक विशिष्ट अर्थ और अभिप्राय प्रदान किया तथा जनता में नई चेतना पैदा की । तुकाराम शिवाजी के समकालीन थे । यद्यपि वे राजनीतिक प्रचारक न थे, फिर भी उनके उपदेशों ने उनके अनुयायियों को अनजाने में कट्टर देशभक्त बना दिया तथा मुक्ति सेना को महत्वपूर्ण रंगरूट दिए । शिवाजी के एक दूसरे समकालीन स्वामी रामदास बौद्धिक प्रतिभावाले संत थे । वे इस पक्ष में न थे कि तात्कालिक सामाजिक और राजनीतिक बुराइयों से लड़ने में नरमी बरती जाए । उन्होंने हिंदुओं से कहा कि वे असहाय बन कर अपने भाग्य को कोसने के बजाय जीवन के प्रति अधिक उत्साह दिखाएं और स्वयं अपने भाग्य के विधाता बनें । वे ब्राह्मण थे और जिम्मेदारियां स्वीकार किए बिना विशेषाधिकारों की मांग करने के लिए अपनी ही जाति पर कठोर आघात करते थे । शिवाजी से उनका कितना संबंध था, इस विषय में इतिहासकारों में मतभेद हो सकता है, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि उनके जीवन्त उपदेशों ने महाराष्ट्र को एक सूत्र में बांध दिया, और वहाँ की जनता को नया संकल्प प्रदान किया । विषय के दो विद्वानों ने कहा है : "स्वामी जी के दर्शन की प्रमुख विशेषता थी क्रियाशीलता ।" उनका दावा है कि "उन्होंने अपने उपदेशों से मराठा राज्य की नींव डालने में जितनी सहायता की उतनी उससे पहले किसी अन्य संत ने नहीं की थी ।"[2]

जिस प्रकार अधिकांश शिक्षित महाराष्ट्री इससे अवगत हैं, उसी प्रकार जयकर भी थे । उनका घर एक शिशु-विद्यालय था, जहां उन्होंने अपनी मातृभूमि के प्राचीन ज्ञान के बारे में तथा नई विद्या में जो कुछ सारभूत था, वह सब सीख

---

2. एस० के० बेलवलकर और आर० डी० रानडे लिखित "हिस्ट्री आफ इंडियन फिलॉसफी", खंड 7, आर्यभूषण प्रेस, 1933, पृ० 20

लिया था। उनकी माता, जो उनके जन्म के एक वर्ष के अंदर ही विधवा हो गई थीं, एक धर्मात्मा महिला थीं। उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि उनका इकलौता बेटा, जो उनके जीवन की आशा और सुख का साधन था, एक सुविज्ञ एवं दूरदर्शी हिंदू के रूप में सुशिक्षित होना चाहिए। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा : "मेरी माता शाम को प्रतिदिन भारत के गौरव-ग्रंथों—रामायण, महाभारत और शिवलीलामृत तथा अन्य कई भक्ति काव्यों के अंश पढ़ कर सुनाया करती थीं तथा उसी ढंग से मुझे प्रशिक्षित करती थीं, जिसका प्रतिपादन युवकों के लाभ के लिए इन ग्रंथों में किया गया था। मेरे सहपाठी भी प्रायः उनका प्रवचन सुनने आया करते थे। उनमें से कुछ बाद में, शिक्षा के क्षेत्र में तथा अन्यत्र ऊंचे-ऊंचे पदों पर पहुँच गए।"

निश्चय ही, वे अपने पुत्र में उन वीरों के प्रति प्रशंसा की भावना भरने में नहीं चूकीं, जो महाराष्ट्र की खोई हुई स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त करने के लिए बहादुरी के साथ लड़े। ऐसे वीर मुक्तिदाताओं में शिवाजी का स्थान संभवतः सबसे ऊंचा था। जयकर ने लिखा है : "मेरी माता ने आरंभिक अवस्था में ही महाराष्ट्र के ऐतिहासिक महापुरुषों की जीवनियां मुझे दे दी थीं। इन वीरों में शिवाजी महान का स्थान निश्चय ही सबसे पहला था। मेरी माता ने उनके जीवन-चरित्र में व्यक्तिगत पुट लगा दिया था। वे शिवाजी की महानता, उत्कृष्ट देशभक्ति, निर्भीक साहस, निर्मल गुण तथा स्वाधीनता और स्वतंत्रता के उदार विचारों के मुख्य स्रोत के रूप में उनकी माता जीजाबाई के मार्गदर्शी प्रभाव का निरंतर उल्लेख करती जाती थीं।"[3]

जयकर की माता ने प्रांतीयता के कारण शिवाजी को आदर्श माना हो, यह बात नहीं है। शिवाजी केवल प्रांतीय नेता नहीं थे। उनका कार्यक्षेत्र सभी संकीर्ण सीमाओं, क्षेत्रीय सीमाओं और राष्ट्रीय सीमाओं को भी पार कर गया था। उनकी लड़ाई मुस्लिम संप्रदाय के विरुद्ध नहीं थी, बल्कि उस व्यवस्था के विरुद्ध थी, जिसने राजनीतिक और आर्थिक शक्ति का एकाधिकार मुठ्ठी भर लोगों के हाथों में दे दिया था। इसलिए उन्होंने अपने हृदय में शत्रुता की कोई भावना रखते हुए काम करने का निश्चय नहीं किया था, अपितु गलती को सुधारने और दोनों संप्रदायों को मिलजुल कर काम करने का आधार प्रदान करने के स्पष्ट

3. "द स्टोरी आफ माई लाइफ" खंड 1, पृ० 6, 10

2—262 M. of I & B/ND/82

उद्देश्य से किया था। उनके जीवन के उद्देश्य को अन्यथा समझना इतिहास सम्मत न होगा। उन्होंने मुसलमानों को अपनी सेवा में रखा था। ऐसा उन्होंने प्रतीक रूप में नहीं किया था, बल्कि अपने राज्य की सरकार को दोनों संप्रदायों की सरकार राजनीत्योचित नीति के अनुसार किया था। संपूर्ण मराठा इतिहास में, मुसलमानों को सरकार में विश्वास और उत्तरदायित्व के पद दिए गए। सेना में उदारता से उनकी भर्ती की जाती थी और विशेष रूप से शिवाजी के समय में नौ-सेना के तो वे आधार-स्तंभ बने हुए थे। किसी भी समय शिवाजी ने या उनके उत्तराधिकारियों ने उन्हें पराया नहीं समझा और न उनकी निष्ठा पर संदेह किया।

इसलिए इसमें कोई संदेह नहीं कि जयकर की माता चाहती थीं कि उनका पुत्र इसी महापुरुष के जीवन से मार्गदर्शन प्राप्त करे। शिवाजी की मृत्यु के बाद, मराठों को भारी हानि उठानी पड़ी, परंतु पेशवाओं की अधीनता में उन्होंने अपनी स्थिति में उल्लेखनीय सुधार कर लिया। पेशवा अपनी प्रजा के लिए संपूर्ण देश पर संप्रभुता स्थापित करने के बिल्कुल नजदीक पहुँच गए थे। सर रिचर्ड टेंपल ने, जो 1877 से 1880 तक बंबई का गवर्नर था, लिखा है कि दक्षिण के पर्वतीय लोगों की स्मरणशक्ति बहुत तेज थी तथा उन्हें भारतीय इतिहास के लिए अपने योगदान पर गर्व था। उसने यह भी लिखा है कि मैंने भारत में तीन दशाब्दियों से अधिक समय तक सेवा की, परंतु मैंने देश के किसी भाग में कभी इतनी उत्कट एवं प्रगाढ़ राष्ट्रीय और राजनीतिक महत्वाकांक्षा नहीं देखी, जैसी कि महाराष्ट्र में थी।

प्रांत में सदा ही एक ऐसा जनवर्ग था, जो भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व से कभी समझौता न कर सका तथा जो उसे समाप्त करने के लिए उत्सुकता से क्रांतिकारी तरीके अपनाता रहा। 1920 से आरंभ होने वाले दशक में महात्मा गांधी के सत्याग्रह आंदोलन के शुरू होने तक, महाराष्ट्र के अनेक युवक साहसिक एवं खतरनाक कार्य करते हुए, देश के लिए अपने प्राणों की आहुति दे चुके थे। उनमें प्रमुख थे वासुदेव बलवंत फड़के जिसे एक प्रसिद्ध इतिहासकार ने 'भारत में उग्र राष्ट्रवाद का जनक' कहा है। फड़के ने 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से 6 वर्ष पहले ही विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया था।

जयकर स्वभावतः अपने देशवासियों के वीरोचित कार्यों से पुलकित हो उठे थे। वे बंबई में पैदा हुए थे और बंबई में ही उनका पालन-पोषण हुआ था। हाल के वर्षों तक बंबई को महाराष्ट्र से अलग और भिन्न समझा जाता था, परंतु वे अपने को मराठा जीवन की मुख्य धारा से अलग नहीं कर सकते थे। राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए आंदोलन चाहे किसी रूप में हो, उससे उनकी स्वाभाविक सहानुभूति हो जाती थी। फड़के को वे अपना आदर्श वीर समझते थे, यद्यपि उस समय वे केवल 6 वर्ष के थे, जब फड़के ने अपना असफल विद्रोह शुरू किया था। समान विचार वाले बच्चे, जिनमें से अधिकांश आठ या दस वर्ष के थे, गुप्त रूप से एकत्र हुए और उन्होंने खिलौना धनुष-बाण जैसे प्राणघातक हथियार हाथ में लेकर शिवाजी और फड़के की तरह विदेशी शासन से लड़ने का निश्चय किया। परंतु बाल देशभक्तों का यह समूह उस समय छिन्न-भिन्न हो गया, जब वे हाई स्कूल में पहुंचे।

महाराष्ट्र के अनेक लोगों की भांति जयकर का भी यही विश्वास था कि ब्रिटिश राज उनके प्रांत से विशेष द्वेष रखता है। विदेशी लोग युद्धप्रिय महाराष्ट्रियों को गैर जुझारू जाति कह कर उनकी निंदा करते थे, और इस प्रकार निकृष्टतम कपटनीति के दोषी बन गए थे। के० एम० पणिक्कर ने लिखा है : "मराठों में राष्ट्रीयता की उत्कट भावना थी तथा वे शेष जन-समुदाय से पृथक नहीं किए जा सकते थे। उनमें लड़ने की सर्वोत्कृष्ट योग्यता और वीरता थी; परंतु अब वे लड़ाकू नहीं समझे जाते थे।"[4]

महाराष्ट्र में सरकार के संरक्षण के बिना शिक्षा के प्रसार के प्रयत्न भी संदेह की दृष्टि से देखे जाते थे। लोकमान्य तिलक देश भक्त होने के साथ-साथ महान् विद्वान और शिक्षाशास्त्री भी थे। उन्होंने अपने साथियों के सहयोग से पुणे में जनवरी 1880 में न्यू इंगलिश स्कूल स्थापित किया था। साथियों में गोपाल गणेश आगरकर, विष्णु शास्त्री चिपलुणकर और नामजोशी थे। इनमें से प्रत्येक अपने-अपने विषय का धुरंधर था। पांच वर्ष बाद इसी शहर में फर्गुसन कालेज अस्तित्व में आया। धर्म के लिए युद्ध करने वाले इन्हीं देशभक्तों ने, जो राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा के महत्व को समझते थे, डेकन एज्युकेशन सोसाइटी

---

4. के० एम० पणिक्कर लिखित "एशिया एंड वेस्टर्न डोमिनेंस" जार्ज ऐलिन एंड अनविन, 1959, पृ० 113

की स्थापना की । जिस उत्साह और कुशलता से यह सोसाइटी अपने नियंत्रण में चलने वाली संस्थाओं का संचालन करती थी, जिसके कारण यह शीघ्र ही विख्यात हो गई । इनमें जो लोग पढ़ाते थे, उनमें गोपाल कृष्ण गोखले और सर रघुनाथ पी० परांजपे थे । गोखले महान राजनीतिक नेता और उदारता के आदर्श थे तथा परांजपे ने बहुत दिनों तक विभिन्न रूपों में देश की सेवा की ।

डेकन एज्युकेशन सोसाइटी की प्रसिद्धि से ब्रिटिश नौकरशाहों के गर्व को बहुत चोट पहुँची । बंबई सरकार के सार्वजनिक शिक्षा निदेशक ली वार्नर ने इसके बारे में लिखा : "पुणे की एक देशी समिति ने, जिसे आमतौर से 'देशभक्त समिति' कहा जाता है, हाल ही में फर्गुसन कालेज स्थापित किया है और देश-भक्ति के नाम पर अपील करके इसने हमारे हाई स्कूलों से निकले सर्वोत्तम विद्यार्थियों को आकर्षित किया है । पुणे के ब्राह्मण तथा अन्य हिंदू समाज के शिक्षित लोग इनसे अधिक अच्छे विद्यार्थी नहीं दे सकते । इसका विश्वास है कि यह परीक्षा केंद्र में सभी प्रतिस्पर्धियों से आगे निकल जाएगी । इसका तर्क है कि अध्यापकों को जो वेतन दिया जा रहा है, वह उनके महत्व का सूचक नहीं है । कालेज चाहता है कि जहां तक हो सके, पढ़ाने के लिए कोई यूरोपीय अध्यापक न रखा जाए । वह यह भी चाहता है कि विद्यार्थियों पर उसके स्वतंत्र संस्थापकों की देशभक्ति की भावनाओं की छाप डाली जाए । भारत के और किसी शहर में ऐसा और कोई प्रयोग नहीं हो रहा । यह प्रयोग शिक्षा की अपेक्षा अन्य दृष्टिकोण से अधिक दिलचस्प है ।"[5]

इस प्रकार जयकर को महान परम्पराएं उत्तराधिकार में प्राप्त हुईं । एक ओर तो अपने धर्म में उनकी श्रद्धा अगाध और अकृत्रिम थी और दूसरी ओर महाराष्ट्र के संतों ने उन्हें शिक्षा दी थी कि वे मानव की एकता को कभी न भूलें । इसके अतिरिक्त, घर पर उनके पालन-पोषण तथा बंबई शहर के महा-नगरीय वातावरण ने उनके मानसिक क्षितिज को इतना विस्तृत कर दिया था कि जाति, धर्म या संप्रदाय के बंधन कभी भी उनकी जीवन-दृष्टि को प्रभावित न कर सके । सौभाग्य से बंबई और महाराष्ट्र दोनों में उनके समकालीन राज-नीतिक नेता बहुत अच्छे थे । उन्होंने गोखले के गांभीर्य और तिलक की कर्मठता

5. डी०वी० ताह्मणकर लिखित "लोकमान्य तिलक", जान मुरे, 1956 एस० 34

से प्रेरणा प्राप्त की। यद्यपि वे राष्ट्रीय मुक्ति के कार्य में पूर्ण निष्ठावान थे, फिर भी गोखले के उदाहरण ने उन्हें बम और पिस्तौल का मार्ग अपनाने से रोक लिया। तिलक के राजनीतिक दर्शन में भी उन्हें बहुत कुछ अनुकरणीय दिखाई दिया। तिलक ने घोषणा की थी कि स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा। अपने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने अपनी ही रणनीति अपनाई थी। अपने देशवासियों के लिए उनका उद्घोष था—"शिक्षा दो, आंदोलन करो और संगठित हो जाओ"। इस सिद्धांत पर आधारित राजनीतिक आंदोलन न तो प्रार्थना और याचना के रूप में था और न ऐसा था, जिसमें सशस्त्र विद्रोह अनिवार्य हो। ऐसा आंदोलन जयकर के स्वभाव के अनुकूल था।

अध्याय 2

आरम्भिक वर्ष

मुकुंदराव जयकर का जन्म 13 नवंबर, 1873 को बम्बई में हुआ था। वे मध्यवर्गीय पठारे-प्रभु परिवार के थे। पठारे-प्रभुओं का एक छोटा किंतु सर्वगुण सम्पन्न समुदाय था। वे इस द्वीप नगर के सबसे पुराने वाशिंदों में हैं और यथार्थ में इस के इतिहास में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। संप्रदाय के रूप में उनकी उत्पत्ति के बारे में अथवा उनके मूल स्थान के बारे में अधिक कुछ ज्ञात नहीं है, परंतु इतना जरूर मालूम है कि विगत अनेक शताब्दियों से वे बंबई में ही रह रहे हैं। किंवदन्ती के अनुसार, वे भीमदेव या राजा बिंब के साथ यहां आए थे और बिंब ने 1293 ई० के लगभग माहिम द्वीप को बसाया था। माहिम अब बंबई महानगर का एक उपनगर है। जिस प्रकार आर्य लोग कई शताब्दियों तक भारत आते रहे, उसी प्रकार पठारे-प्रभु भी कई शताब्दियों तक बंबई आते रहे होंगे।[1]

पठारे-प्रभुओं की एक अलौकिक विशेषता यह है कि वे तलवार और कलम जैसे परस्पर-विरोधी हथियार समान कुशलता से चलाते हैं। इतिहास में वे धर्म के दुर्धर्ष रक्षक के रूप में प्रसिद्ध हैं परंतु जब पुर्तगालियों ने द्वीप पर आधिपत्य स्थापित कर लिया, उनका फौजी जोश काफी ठंडा हो गया था। अब वे तलवार को कलम में बदल चुके थे तथा हिंदू और मुस्लिम दोनों शासनों के अधीन असैनिक प्रशासन में पर्याप्त दक्षता प्राप्त कर चुके थे।

उन्हें अपनी विरासत पर गर्व था, अतः पुर्तगालियों के धर्मपरिवर्तन संबंधी अभियान से बचने के लिए वे भारी संख्या में द्वीप को छोड़ कर चले गए। संसार पुर्तगालियों का इसलिए अति कृतज्ञ है कि उन्होंने पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में खुले समुद्रों में आश्चर्यजनक साहसिक कार्य किए, जिनके फलस्वरूप युगांतकारी खोजें हुईं और मानव-ज्ञान का विस्तार हुआ। परंतु औपनिवेशिक शक्ति के रूप में वे नितांत अयोग्य थे। अपने संकीर्ण धार्मिक विश्वास पर उनका अनुचित गर्व और दूसरों के धर्म से अकारण घृणा उतनी ही निन्दनीय थे, जितनी आत्मिक

---

1. द गजट आफ बाम्बे सिटी ऐंड आइलेंड खंड, 1, 1909, पृष्ठ 241–47

विकृति। जिन विदेशी लोगों पर उन्होंने अपना आधिपत्य जमाया, उनका विश्वास और आदर प्राप्त करने की चेष्टा करने के बजाए, वे पोप के आध्यात्मिक सैनिकों के रूप में काम करना अधिक पसंद करते थे। किसी भी विवेकपूर्ण शासन में बंबई को महानगर के रूप में विकसित करना सम्भव था, परंतु पुर्तगाली साम्राज्यवादियों में इतनी राजनीतिज्ञता न थी। वे यह भी नहीं समझ पाए कि सम्पन्न समुदायों का बम्बई से पलायन उनके अनिष्ट का सूचक था।

जून 1661 की आंग्ल-पुर्तगाली संधि के अनुसार, जब बंबई अंग्रेजों के अधिकार में आया, तब जयकर के शब्दों में, अपने 'प्रिय द्वीप' को लौटने वालों में पठारे-प्रभु सबसे पहले थे। दूरदर्शी होने के कारण वे यह समझते थे कि उनके लचकीले बनने से ही उनका अस्तित्व कायम रह सकेगा। अंग्रेज इस बात को भली भांति जानते थे कि बंबई को एक बड़े वाणिज्यिक एवं औद्योगिक केंद्र के रूप में विकसित किया जा सकता है तथा उसके द्रुत विकास के लिए वे प्रतिभा और साहसिकता को प्रोत्साहन देते थे, फिर चाहे यह प्रतिभा और साहसिकता किसी में भी क्यों न हो। पठारे-प्रभुओं में परिस्थिति के अनुकूल अपने को ढालने की प्रतिभा थी, अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि नई व्यवस्था से उन्हें बहुत लाभ हुआ।

जयकर ने अपनी जाति के भाग्यचक्र का सुंदर चित्र खींचा है। पठारे-प्रभु पुनः अपने शांतिपूर्ण व्यवसाय में लग गए थे, इस बात का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है "यदि तलवार ने उन्हें गौरव प्रदान किया था तो कलम अब धन दे रही थी। यह कहा जाता है कि अठारहवीं शताब्दी में वे बंबई में सबसे अधिक धनी थे। आज यद्यपि यह स्वर्णयुग भी अविस्मरणीय अतीत के गर्भ में समा गया है, उनकी नवीनतम उपलब्धियाँ कम दिलचस्प नहीं हैं, भिन्न जरूर हैं और वह भिन्नता केवल यह है कि अब प्रभुओं के घरों में सोने की मुहरों की खनखनाहट सुनाई नहीं देती।[2] उनके समय में उनकी जाति के लोग समृद्धि के शिखर से नीचे उतर आए थे परंतु, अपेक्षाकृत अवनति के दिनों में भी वे अपने उन नागरिकता, उदारता, खिलाड़ीपन, आतिथ्य तथा अन्य सामाजिक एवं पारिवारिक गुणों के लिए विख्यात थे, जिनका उस समय की परिस्थितियों में स्पष्ट रूप से अभाव था।"

---

2. 'द स्टोरी आफ माई लाइफ' खंड 1, पृ० 15।

जयकर का जन्म उनके परिवार की दृष्टि में अच्छी घड़ी में नहीं हुआ था, परंतु उनके अपने ग्रह संपूर्ण लंबे और घटनापूर्ण जीवन में लगभग सदा ही उनके पक्ष में रहे। परिवार के ज्योतिषी ने, जो अपनी सही बातों के लिए प्रसिद्ध था, भविष्यवाणी की कि मुकुंद के जन्म के एक वर्ष के अंदर ही उनके पिता रामराव की मृत्यु हो जाएगी। यह भीषण भविष्यवाणी बच्चे के जन्म-दिन से तेरहवें दिन की गई थी। इस दुःखद घटना के बारे में जयकर ने अति गंभीर करुणभाव से लिखा है "यह कहना कठिन है कि मेरे ग्रह वास्तव में इतने खराब थे, परंतु घटना निश्चय यही घटी और मेरे जन्म के एक वर्ष के अंदर ही मेरे पिता की मृत्यु हो गई।" यह दुःखद घटना परिवार के लिए और विशेष रूप से जयकर की माता सोनाबाई के लिए एक भीषण आघात थी। अन्य किसी बच्चे के अभाव में सोनाबाई अपना समस्त स्नेह अपने इकलौते बेटे पर लुटाने लगीं।

रामराव की मृत्यु जिस ढंग से हुई, उससे एक स्थायी महत्व की शिक्षा मिलती है। अंग्रेज निश्चय ही पुर्तगालियों की तुलना में अच्छे शासक थे, परंतु भारतीयों के साथ, जो उनकी प्रजा थी, समानता का व्यवहार करना उनके लिए असंभव था। वे प्रायः इस तरह से बोलते और व्यवहार करते थे मानो वे लोकोत्तर जाति के व्यक्ति हों और समस्त मनुष्य जाति को अपने अधिकार में करने के लिए स्वर्ग से आदेश लेकर आए हों। जयकर के पिता बंबई सचिवालय में एक कनिष्ठ अधिकारी थे। वे 'तीव्र बुद्धि के लिए और साथ ही तीव्र स्वभाव के लिए भी' प्रसिद्ध थे। एक दिन एक वरिष्ठ ब्रिटिश अधिकारी से उनका बुरी तरह झगड़ा हो गया। झगड़ा क्या था, इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। रामराव ऐसे व्यक्ति न थे जो अपना अपमान सह लेते। झगड़े के दुःखद परिणाम से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होंने अपमान करने वाले अपने वरिष्ठ अधिकारी से कुछ बुरा-भला कह दिया होगा। परंतु यह घटना उनके लिए घातक सिद्ध हुई। जयकर ने लिखा है "उन्होंने माकूल प्रत्युत्तर दिया, घर आए, बिस्तर पर लेट गए और मस्तिष्क में रुधिर स्राव हो जाने से तीन दिन के अंदर ही मर गए। उनके चिकित्सक ने बताया कि मस्तिष्क में रुधिर-स्राव उनके वरिष्ठ अधिकारी के अपमानजनक व्यवहार से उत्पन्न प्रबल क्षोभ के कारण हुआ था।"

रामराव की असामयिक मृत्यु से परिवार में घोर अंधकार छा गया। इसके आघात से जयकर की माता तथा नाना-नानी की तो कमर ही टूट गई। एक मर्मस्पर्शी वाक्यावली में जयकर ने बताया है कि उनके पिता की मृत्यु के

बाद, दुःख की काली घटा किस प्रकार उनके परिवार पर मंडराने लगी। उन्होंने लिखा है "मेरे जैसे परिवार में इतना गंभीर दुःख एक विलक्षण घटना थी। इसे केवल वे ही लोग समझ सकते हैं, जिन्होंने अपने शोकाश्रु को चुपचाप श्रद्धा से पीना सीखा है। मेरी माता, नानी और नाना शायद ही कभी इस घटना का जिक्र करते हों, परंतु उनकी दैनिक पूजा-आराधना में, उनकी बाह्य प्रसन्नता में और सजावट में, यह हर समय उनके मनों में छिपी रहती थी। उनके हृदयों में दुःख उसी प्रकार छिपा हुआ था जिस प्रकार भूमि में विशाल ज्वालामुखी छिपा होता है, जिसके अनंत गर्भ में प्रचंड अग्नि भरी होती है, जिसका पता तब चलता है जब नीले धुएं की एक बारीक रेखा कभी उसकी गहराइयों से बाहर निकलती है।" मेरी युवती माता दुःख के बोझ से दब गई। मैं प्रायः उन्हें "आंखों में आंसू रोके, पूजा-घर में, अपने पिता के एकमात्र उस फोटोचित्र के सामने, जिसे उस पारिवारिक पूजा कक्ष में टांगने की अनुमति दे दी गई थी, अदृष्ट एवं अश्रुत प्रार्थनाएं करते हुए देखा करता था।"

उनके नाना वासुदेव जगन्नाथ कीर्तिकर भी उसी प्रकार दुःख से अभिभूत थे। उनकी पुत्री को कष्ट और आत्मत्याग के साथ आजीवन वैधव्य का भार ढोना था, ये सोचकर वे बहुत दुःखी रहते थे। कीर्तिकर एक उत्कृष्ट वकील और प्रसिद्ध विद्वान थे तथा उनके बहुत से मित्र थे। वकालत के व्यवसाय में वे अपनी ईमानदारी, गौरव और साहस के लिए प्रसिद्ध थे।

जयकर की माता अनुकरणीय आत्म संयम के साथ अपने दुःख को ढोती रहीं। वे अपने जीवन की एकमात्र शांति अपने पुत्र में ही देखती थीं। उन्होंने उसे अपनी भावी जिम्मेदारियों के लिए तैयार करने का निश्चय किया और इस काम को एक प्रकार का मिशन बना लिया। यद्यपि उन्होंने उसे अपने मातृ स्नेह से सराबोर रखा, पर लाड़-चाव से बिगड़ने न दिया। वे उसे निरंतर याद दिलाती रहती थीं कि वह अपने माता-पिता के मकान में नहीं रह रहा, अपितु नाना-नानी के संरक्षण में रह रहा है, जिनकी संपत्ति पर अपने अधिकार का वह कोई दावा नहीं कर सकता। उसके पिता की मृत्यु पर उसकी माता को 3,000 रु० की छोटी सी रकम मिली थी, जो उनकी कुल पैत्रिक संपत्ति थी। इसलिए उसने अपने पुत्र को यह निर्देश दिया था कि वह अपने चारों ओर विद्यमान सुविधाओं को अपनी न समझे तथा अत्यंत सादा जीवन जीना सीखे।

जयकर अपनी माता के दृष्टिकोण को समझ गए और तदनुसार ही उन्होंने अपने जीवन को ढाल लिया। वे लिखते हैं "उदाहरणार्थ, मुझे याद है, रात को मैं किसी अलग डेस्क पर या किसी आरामदेह कुर्सी पर अथवा किसी अलग कमरे में नहीं पढ़ता था, अपितु उस जीने पर बठकर पढ़ता था, जो हमारे शयनकक्ष तक जाता था। एक सीढ़ी को मैं मेज के रूप में इस्तेमाल करता था। नारियल के तेल का एक दीपक, जो तीन दिन चलाना पड़ता था, मैं ऊपर की सीढ़ी पर रख लेता था, बीच की सीढ़ी को मैं मेज के रूप में इस्तेमाल करता था और नीचे की सीढ़ी पर स्वयं बैठता था। शयनकक्ष में जाने के समय से पहले ही मुझे अपनी पढ़ाई खत्म करनी पड़ती थी।"

सोनाबाई एक धर्मात्मा महिला थीं, जिन्हें अपने धर्म के ग्रंथों का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने कुछ गौरव ग्रंथों में जिनमें दोनों महाकाव्य शामिल थे और 'शिवलीलामृत' जैसे भक्ति काव्यों में भी अपने पुत्र की रुचि पैदा की। जिस प्रकार सभी कर्तव्यपरायण पुत्र, चाहे वे प्रतिष्ठित हों या न हों, अपनी माता का आदर करते हैं, उसी प्रकार जयकर भी करते थे। उन्होंने अत्यंत दूरदर्शिता से उन वर्षों में, जिनमें सर्वाधिक संस्कार पड़ते हैं, उनके जीवन का मार्ग निर्दिष्ट किया। लगभग दस वर्षों के बाद, उन्हें साने गुरुजी के दो मराठी ग्रंथों—'श्याम' और 'शाम की माता' पढ़ने का मौका मिला, जिनमें उन्होंने अपनी माता का चित्र देखा। कुछ वर्षों तक स्कूल में जयकर की प्रगति साधारण रही, परंतु उनकी माता के उपदेश ने उनकी छिपी हुई शक्तियों को जागृत कर दिया, जिससे वे विशेष योग्यता के साथ परीक्षाएं पास कर सके। उन्होंने एल्फिन्स्टन हाई स्कूल में शिक्षा प्राप्त की, जो अध्यापन में उच्च स्तर के लिए प्रसिद्ध था। जयकर ने एक घटना का उल्लेख किया है, जिसका महत्व इतने समय के बाद भी कम नहीं हुआ। यद्यपि उनकी जाति ब्राह्मण जाति से कुछ ही नीची थी, पर वे ब्राह्मण न थे। हाई स्कूल में प्रवेश लेने के बाद, उन्हें अंग्रजी और अपनी मातृभाषा मराठी के साथ एक वैकल्पिक भाषा और चुननी थी। उनके समय में, अधिकांश अब्राह्मण लड़कों से कहा जाता था कि वे संस्कृत न लें, फारसी लें। भारत की प्राचीन भाषा का अध्ययन करने से उन्हें निरुत्साहित करने का कारण यह बताया गया कि उसे सीखने में कठिनाई होती है। परंतु वास्तविक कारण यह था कि कट्टरपंथी ब्राह्मण अध्यापक अब्राह्मण लड़कों के 'देववाणी' सीखने के प्रयत्न पर आपत्ति करते थे। क्या स्त्रियों और शूद्रों के लिए वेद पढ़ना निषिद्ध नहीं था? यदि शूद्रों को संस्कृत पढ़ने की

अनुमति दे दी जाती, तो उन्हें प्राचीन ज्ञान के विशाल भंडार तक सीधे ही, पहुंच जाने से कौन रोक सकता था ?

घर में विद्या की उत्तम परंपरा होने के कारण, जयकर ने स्वभावतः संस्कृत ली, परंतु उनके ब्राह्मण अध्यापक ने आपत्ति की। अपने नाना के समर्थन से, जो स्वयं संस्कृत के अच्छे विद्वान थे; वे अपनी बात पर दृढ़ रहे और अपने कट्टर अध्यापक द्वारा किए गए अपमान और दी गई सजा की उपेक्षा कर दी। हाई स्कूल के प्रिंसिपल वामन आबाजी मोदक को, जो ब्राह्मण ही थे, दैवयोग से लड़के के उत्पीड़न के बारे में पता चल गया। शेष कहानी स्वयं जयकर के मुख से सुनिये, "उत्पीड़न के नौवें दिन, प्रिंसिपल मोदक, अपनी सामयिक गश्त के दौरान क्लास के निरीक्षण के लिए आए और मुझे अलग बैठे देखकर पूछताछ करने के लिए अंदर आए। अध्यापक ने कोई उत्तर न दिया, परंतु मेरे सहपाठियों ने सब कुछ सचसच बता दिया। प्रिंसिपल ने मुझे दूसरे ही दिन से क्लास में बैठने की आज्ञा दे दी।"

एक शिक्षा-संस्था में भी, निराधार ही, उनके विरुद्ध भेदभाव का जो प्रयास किया गया, उसका उनके दिमाग पर गहरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने प्रौढ़ जीवन में ऐसे अन्याय से लड़ने का निश्चय कर लिया। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है --"मैं इस घटना का उल्लख कुछ विस्तार से करता हूँ क्योंकि मेरे दिमाग पर इसका जो प्रभाव पड़ा, उसने बाद के वर्षों में मेरे रवैये को निश्चित कर दिया, जो ऊंची जातियों के सामाजिक या धार्मिक अत्याचार से पीड़ित जातियों या व्यक्तियों के उत्थान के लिए किए गए सभी प्रकार के सार्वजनिक और निजी कार्यों के मैत्रीपूर्ण समर्थन और सहयोग का था।"

मैट्रिक परीक्षा पास करने के बाद, जयकर सेंट जेवियर्स कालेज में भर्ती हो गए। उच्च शिक्षा के लिए यह उत्तम संस्था थी और अब भी है। उसके इस तेजस्वी विद्यार्थी ने लिखा है कि वहां पढ़ने से मुझे बहुत लाभ हुआ। परंतु कालेज की कुछ बातें उन्हें अच्छी न लगीं। क्लासें बड़ी थीं और उनमें अधिक भीड़ रहती थी, प्रथम वर्ष की कक्षा में ही तीन सौ से अधिक विद्यार्थी थे। जयकर मौलिकता, पहल और बौद्धिक आयाम में विश्वास करते थे। परंतु कुछ प्राध्यापकों की आदत विद्यार्थियों को पहले से तैयार किए हुए नोट लिखाने की थी, जिससे उन्हें बड़ी निराशा होती थी। परीक्षा पास करने के लिए निश्चय ही वे प्राध्यापकों के नोटों की आवश्यकता समझते थे और उस सीमित दृष्टिकोण

से उसका स्वागत करते थे। परंतु वे विद्यार्थियों की जिज्ञासा बढ़ाने के लिए गुरु और शिष्य के मध्य घनिष्ठ संपर्क आवश्यक समझते थे, क्योंकि तभी उनके दिमाग के अधिक से अधिक विकास की आशा की जा सकती थी। उन्होंने व्यंग्य करते हुए लिखा है "श्यामपट्ट पर लिखते समय प्राध्यापक के चेहरे के बजाय उसकी पीठ ही अधिक दिखाई पड़ती थी। परंतु हमें यह सब 'अरुचिकर औषधि' पीनी ही पड़ती थी, क्योंकि और कोई विकल्प ही न था।"

जयकर ने 1895 में बी०ए० की डिग्री प्राप्त की और संस्कृत की उच्च शिक्षा के लिए उसी शहर में स्थित एलिफन्स्टन कालेज में भर्ती हो गए। नए कालेज में पढ़ाने का ढंग उनकी रुचि के अनुकूल था। कालेज के अध्यापकमंडल में संस्कृत के अनेक विद्वान थे, जिन्होंने परंपरागत विधि से प्राचीन साहित्य का गहन अध्ययन किया था। वे विद्यार्थियों को केवल परीक्षा उत्तीर्ण करने की आसान विधि नहीं बताते रहते थे, बल्कि ऊंची से ऊंची विद्या में पारंगत होने के लिए स्वयं परिश्रम करने के लिए अधिक से अधिक प्रोत्साहन देते थे। उनका कर्तव्य ज्ञान की खोज में युवकों का मार्गदर्शन करना था। उनके तरीके प्रायः प्राचीन शिक्षा-पद्धति पर आधारित थे, जो बड़े प्रभावी थे।

जयकर ने एलिफन्स्टन कालेज के प्राध्यापकों और उनकी अध्यापन विधि के बारे में बड़े अनुराग से लिखा है, क्योंकि संस्कृत पर अधिकार प्राप्त करने में उन्होंने उनकी बहुत सहायता की थी। उनके पास अगाध ज्ञान और विलक्षण स्मृति थी तथा उनके चरणों में बैठ कर ज्ञान प्राप्त करना आनंद का विषय था और विशेषाधिकार भी था। उन्होंने लिखा है: "मैंने एलिफन्स्टन कालेज में वैकल्पिक विषयों के रूप में अंग्रेजी और संस्कृत ली और दो वर्ष बड़े आनंद से बिताए।" उन्होंने 1897 में गेटे और कारलाईल के ग्रंथों पर केवल एक निबंध लिख कर एम० ए० की डिग्री प्राप्त की। उन्होंने लिखा है कि अन्य लाभों के साथ-साथ "इस अध्ययन से मुझे बाद में अपनी बौद्धिक स्वतंत्रता की खोज में सतत प्रेरणा प्राप्त हुई।"[3]

अपना व्यवसाय चुनने में जयकर ने अपने नाना कीर्तिकर के चरण-चिन्हों पर चलने का निश्चय किया। बम्बई के वकील समुदाय में कीर्तिकर का स्थान बहुत ऊंचा था। प्रथम एल० एल० बी० परीक्षा पास करने के बाद, विधि के

3. वही पुस्तक, पृष्ठ 18

अध्ययन के लिए जयकर, 20 अप्रैल, 1901 को जलयान द्वारा इंग्लैंड के लिए रवाना हो गए। परन्तु स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण उन्हें शीघ्र ही बम्बई लौटना पड़ा। वे बड़े निराश थे, परन्तु उनकी माता ने उन्हें द्वितीय एल० एल० बी० के लिए पढ़ने और वकालत के व्यवसाय के लिए योग्यता प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया। तदनुसार उन्होंने पढ़ाई की और 1902 के अन्त में कानून की डिग्री प्राप्त की। परन्तु वे ब्रिटिश डिग्री प्राप्त करने की अपनी चिरपोषित लालसा को न रोक सके। इसलिए, अप्रैल 1903 में, वे दुबारा इंग्लैंड गए। उनका उद्देश्य बी० सी० एल० डिग्री के लिए आक्सफोर्ड में पढ़ना था परन्तु उनके भाग्य में पुनः निराशा ही बंदी थी। यद्यपि वे अपने साथ काफी परिचयपत्र ले गए थे तथा उनके पास अपनी शिक्षा संबंधी एवं कानूनी योग्यताएं थीं, फिर भी, जब वे बेलियोल के मास्टर डा० एडवर्ड केअर्ड से मिलने गए, तो उस 'क्रूरदृष्टि' एवं "सिलविल्ली पोशाक पहने" स्काटलैंडवासी को प्रभावित न कर सके।

उस विद्वान ने उनसे कहा कि भारतवासियों के लिए विश्वविद्यालय का कोटा पहले ही पूरा हो चुका है, अतः आपको प्रवेश नहीं मिल सकता। जयकर ने यह तर्क उचित न समझा। उन्होंने मास्टर से कहा "मैं मीलों दूर से यहां आया हूँ, ऐसे देश से, जहां दूर-दूर से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आया करते थे, जिन्हें पैदल भारत पहुंचने में कभी-कभी तीन-तीन वर्ष तक लग जाते थे। इन भारतीय विश्वविद्यालयों में 'कोटा' की कोई बात न थी, विदेशी विद्यार्थी विश्वविद्यालयों के जीवन में भाग लेने के लिए मुक्त रूप से भर्ती किए जाते थे तथा कुछ वर्ष वहां रहने और पढ़ने के बाद, विश्वविद्यालयों में उपलब्ध आवास और शिक्षा का पूरा लाभ उठा कर वे अपने घरों को लौट सकते थे। जितनी अधिक दूर उनका घर होता था, उतनी ही जल्दी उन्हें प्रवेश और आवास की सुविधा मिलती थी।"

परन्तु, प्रवेश के लिए उस युवक की पटुतापूर्ण दलील अनसुनी कर दी गई। डा० केअर्ड ने उन्हें सुझाव दिया कि वे किसी गैर-कालेजीय संस्था में भर्ती हो जाएं और 'यथासमय' डिग्री ले लें। जयकर ने यह सुझाव नापसन्द कर दिया और अपनी नापसन्दगी स्पष्ट रूप से जाहिर कर दी। उन्होंने मास्टर से कहा "मेरे पास डिग्रियों का अम्बार है। मैं यहां एक और डिग्री लेने नहीं आया हूँ बल्कि इस महान विश्वविद्यालय के सामाजिक जीवन का लाभ उठाने आया हूं, जो केवल

यहां रहने से और विद्यार्थियों के क्रियाकलाप में पूरा भाग लेने से ही प्राप्त हो सकता है।'' कोई दलील डा० केअर्ड को अपना विचार बदलने के लिए न मना सकी। जयकर बहुत निराश हुए और उन्हें अपने इस विचार में संशोधन करना पड़ा कि "भारत ब्रिटिश राष्ट्रमंडल का एक महत्वपूर्ण सदस्य है।" परन्तु बाद के वर्षों में, उनके प्रभावशाली मित्रों मर्क्विस लोथियन और प्रोफेसर एडवर्ड थाम्पसन के सत्प्रयत्नों से, विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डाक्टर आफ सिविल लाज' (डी० सी० एल०) की उपाधि प्रदान कर दी और इस प्रकार शुरू के वर्षों में जो निराशा हुई थी, उसकी कुछ अंशों तक क्षतिपूर्ति हो गई। बाद के वर्षों में, विख्यात पुरुष के रूप में, वे प्रायः आक्सफोर्ड जाया करते थे, तब विश्वविद्यालय के अधिकारी, जिनमें 'डायआर्की' के प्रसिद्ध लेखक लियोनिल कुर्टिस और सर माइकेल सैडलर शामिल थे, उनका हृदय से स्वागत करते थे।

जयकर ने अपनी निराशा पर सोच-विचार करने में व्यर्थ समय नष्ट नहीं किया। सौभाग्य से उन्हें मार्क एल० रोमर के कानूनी चम्बर में स्थान मिल गया। रोमर के संबंध अच्छे-अच्छे लोगों से थे और वे बहुत ही सफल वकील माने जाते थे। उस समय उनका चैम्बर रईसी ठाट का सूचक माना जाता था और सीखने वाले विद्यार्थी स्वभावतः उसमें प्रवेश पाने के लिए उत्सुक रहते थे। जयकर को तीन युवा अंग्रेजों से सुलटना पड़ा, जो अपनी विश्वविद्यालय शिक्षा पूरी करने के बाद चैम्बर में भर्ती हो गए थे। वे बड़े शरारती थे और उनकी शरारत में जातीय विद्‌वेष की बू आती थी। कुछ दिनों तक तो जयकर उनकी छेड़खानी को चुपचाप सहते रहे और रोमर से भी कभी शिकायत नहीं की, परन्तु जब उन्होंने अति कर दी, तो जयकर ने उन्हें आड़े हाथों लिया, जिसका नतीजा यह हुआ कि उनके साथ उनके संबंध एकदम बदल गए। बाद में, जब जयकर को, उनके रंग के कारण, लन्दन के एक होटल में जाने से रोक दिया गया, तो उन्होंने उनका पक्ष लिया। रोमर की सादगी और लोकतान्त्रिक दृष्टिकोण से जयकर बहुत प्रभावित हुए। वे एक धनी आदमी थे, फिर भी घर जाने के लिए वे अपनी गाड़ी कभी-कभी ही मंगाते थे। उन्होंने एक युवती को, जो एक विधिवेत्ता की रिश्तेदार थी, अपने चैम्बर में काम करने की अनुमति देने से इसलिए इन्कार कर दिया, क्योंकि उनके अधिकांश शिष्य उसे अपने पास नहीं रहने देना चाहते थे। परन्तु जयकर को शिष्य कक्ष में एक युवती की उपस्थिति पर कोई आपत्ति न थी।

जयकर ने लिखा है कि रोमर के चैम्बर में काम करने से मैंने बहुत-कुछ सीखा। अपने भारतीय शिष्य के घर लौटने के बाद भी बहुत दिनों तक रोमर की उसमें दिलचस्पी बनी रही। जयकर दो वर्षों तक उनके पास रहे। इन दो वर्षों में उन्होंने अनेक कानूनी मामलों की जानकारी प्राप्त कर ली तथा यह भी देख लिया कि उस समय के प्रसिद्ध अंग्रेज वकील और न्यायाधीश न्यायालयों में किस प्रकार काम करते थे। कानूनी अध्ययन पूरा करने के बाद 1905 के हिलैरी टर्म में उन्हें बैरिस्टरी प्रदान की गई। बैरिस्टरी का प्रस्ताव इंग्लैंड के मुख्य न्यायाधीश लार्ड अल्वरस्टोन ने किया और कोर्ट आफ अपील के लार्ड जस्टिस रोमर ने उसका समर्थन किया। यह निःसंदेह बड़े सम्मान की बात थी कि उनकी बैरिस्टरी के प्रस्ताव का समर्थन इतने प्रभावशाली ढंग से किया गया। बम्बई लौटने पर, उन्हें 17 अप्रैल, 1905 को, अधिवक्ता के रूप में शपथ दिलाई गई। इस प्रकार उन्होंने अपनी वकालत शुरू की, जो कुछ वर्षों के अवरोध को छोड़ कर, तब तक चलती रही, जब 1937 में उन्होंने भारत के संघीय न्यायालय के न्यायाधीश का पद स्वीकार कर लिया। वकील के रूप में उनकी प्रसिद्धि के बारे में आगे एक पृथक अध्याय में विचार किया जाएगा।

जयकर अपने नाना कीर्तिकर के बहुत ऋणी थे, वे उनके लिए शक्ति के पुंज थे। कीर्तिकर ने 45 वर्ष तक न्यायालय में वकालत की तथा अपने महान गुणों से, जिनमें योग्यता और ईमानदारी भी शामिल थी, अपने व्यवसाय को सम्मान और गौरव प्रदान किया। जयकर ने अपने नाना की तुलना ब्रिटिश राजनेता एच० एच० एस्क्विथ से की है। कीर्तिकर कदाचित राजनीति में अधिक रुचि नहीं रखते थे, परन्तु वकील, विद्वान और दार्शनिक के रूप में उनकी उपलब्धियां आश्चर्यजनक थीं। इन गुणों में उन्होंने चरित्र की दुर्लभ विशुद्धता और जोड़ ली थी, जिससे उनके बहुत से मित्र और प्रशंसक बन गए थे। अगस्त 1911 में उनकी मृत्यु पर उनकी स्मृति में उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलियां अर्पित की गईं। सर लारेंस जेन्किन्स ने, जिन्होंने पहले उन्हें "नम्रता और शिष्टता का गुलाब" कह कर उनकी प्रशंसा की थी, उनकी मृत्यु पर कहा कि "अपने सभी कार्यों और कृत्यों में वे पूर्णतया ईमानदार थे तथा उस व्यवसाय में, जिसे उन्होंने अपनाया था, किसी व्यक्ति द्वारा प्राप्त किया जाने वाला यह सबसे बड़ा सम्मान है।"

अपने दौहित्र के धार्मिक विश्वासों को सुदृढ़ करने तथा उसकी स्वाभाविक विद्या-वृत्ति को जागृत करने में कीर्तिकर ने कम भूमिका नहीं निभायी। उन्होंने जयकर

को हिन्दू दर्शन का गहराई से अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित किया, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि प्राचीन विद्या का गंभीर ज्ञान ही पश्चिम से लाई प्रत्येक वस्तु को पवित्र समझने की अन्धवृत्ति को रोक सकेगा। जयकर ने महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध दार्शनिक से 'पूर्व मीमांसा', जो हिन्दू दर्शन का एक महत्वपूर्ण अंग है, लगभग बारह वर्ष तक पढ़ी। उन्होंने लिखा "मेरे नाना की सदा यह इच्छा रही कि मैं उन्हीं की तरह वेदान्त के अध्ययन में तन्मय होकर जीवन में शान्ति और सुख प्राप्त करूं। कीर्तिकर का ज्ञानप्रद पुस्तकों का एक विशाल पुस्तकालय था। उन्होंने भारतीय और यूरोपीय दर्शनों का आलोचनात्मक अध्ययन करके स्वयं भी ग्रन्थ लिखे थे और उन्हें भी संग्रह में शामिल करके पुस्तकालय के मूल्य को बढ़ा दिया था।

उनके दौहित्र को इस बात का दुःख था कि अत्यन्त व्यस्त रहने के कारण वह अपने विद्वान नाना की अधिकांश पुस्तकों को प्रकाशित न कर सका। परन्तु वह 'सम आस्पेक्ट्स आफ वेदान्त' नामक एक पुस्तक को प्रकाशित करने में सफल हो गए। इस पुस्तक की ओर भारत में और विदेशों में भी सबका ध्यान आकर्षित हुआ। पुस्तक की भूमिका में जयकर ने लिखा है कि "मेरे नाना का पूरा विश्वास था कि वेदान्त केवल विचार की ही नहीं, जीवन की भी पद्धति है। स्वयं अपने जीवन में वे निष्ठापूर्वक कर्तव्यों के पालन का तत्परता से प्रयत्न करते थे, जिनका निर्देश वेदान्त करता है। उनका कहना था कि वेदान्त आत्मा को सर्वव्यापक मानता है और समस्त सृष्टि को उसी का रूप समझता है। उसने यह बताया है कि मनुष्य का अपने, अपने परिवार वालों, जाति, देश और केवल समस्त मनुष्य जाति के प्रति ही नहीं, बल्कि समस्त पशु, वनस्पति और खनिज जगत के प्रति क्या कर्तव्य होना चाहिए।"

उनका हृदय इतना विशाल और विचार इतने ऊंचे थे कि वे मनुष्य मात्र में कोई भेद नहीं समझते थे, वे सभी संकीर्ण निष्ठाओं से परे थे। बम्बई शहर का जीवन ऐसा था कि उससे सावजनिक विभूतियों को अपना मानसिक क्षितिज विस्तृत करने में बहुत सहायता मिली। अंग्रेजों की धार्मिक सहिष्णुता और औद्योगिक प्रोत्साहन की नीति ने पहले के संघर्षरत और अस्वास्थ्यकर द्वीप ग्राम को ऐसे समृद्ध महानगर में बदला जाना सुनिश्चित कर दिया था, जिसे भारत का प्रवेशद्वार कहा जा सकता था। योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्तियों के लिए इसने उत्प्रेरक का

काम किया और वे हजारों की संख्या में देश के विभिन्न भागों से इसके तट की ओर खिंचे चले आए ।

बम्बई के मूल निवासी मराठी बोलते थे । नगर के विकास के साथ-साथ उनकी संख्या भी बढ़ी । उसके जीवन में उनका मुख्य योग भौतिक की अपेक्षा बौद्धिक अधिक था । निश्चय ही, उनमें ढाकजी दादाजी और जगन्नाथ शंकरशेट जैसे लखपति भी थे, परन्तु उनकी प्रतिभा सरस्वती के श्रृंगार में अधिक व्याप्त रही और इस प्रकार उन्होंने नगर के सांस्कृतिक पुनर्जागरण में विशेष योग दिया । एल्फिन्स्टन कालेज, जो उसी नाम की संस्था से विकसित हुआ, पश्चिमी भारत में योग्यता की बीजभूमि बन गया । 1862 में उसने बम्बई विश्वविद्यालय को उसके प्रथम चार बी० ए० दिए । उनके नाम थे–एम० जी० रानडे, वामन आबाजी मोदक, आर० जी० भंडारकर और बी०एम० वागले । 1818 में मराठा साम्राज्य के पतन के तुरन्त बाद महाराष्ट्र के बुद्धिजीवी बम्बई को उच्च शिक्षा के लिए आदर्श केन्द्र समझने लगे ।

बालगंगाधर शास्त्री जाम्भेकर (1812-46), जो एल्फिन्स्टन इंस्टीट्यूशन में पढ़े थे तथा जो सावन्तवाडी के रहने वाले थे, बम्बई के बौद्धिक आकाश में जगमगाते सितारे थे । सावन्तवाडी दक्षिणी मराठा देश में एक देशी रियासत थी । विश्वनाथ नारायण मांडलिक (1833-89) जिन्होंने बम्बई में अनेक उपयोगी भूमिकाएं अदा की तथा भंडारकर, जो एक लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान थे, महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले में पैदा हुए थे । के० टी० तैलंग (1850-93), जो बम्बई उच्च न्यायालय के न्यायाधीश बने और भाऊ दाजी, जो पहले एल्फिन्स्टन इंस्टीट्यूशन में पढ़ चुके थे तथा एक उत्साही समाज सुधारक थे, दोनों ही तत्कालीन पुर्तगाली राज्यक्षेत्र गोआ के निवासी थे । कीर्तिकरों जैसे स्थानीय मराठी भाषी बुद्धिजीवियों ने भी शहर के सांस्कृतिक जीवन को समृद्ध बनाने के लिए योगदान करने में कम तत्परता नहीं दिखाई ।

इनमें से अधिकांश लोग, जो अपनी उत्कृष्ट शैक्षिक उपलब्धियों के लिए प्रसिद्ध थे, पाश्चात्य शिक्षा और समाज सुधार के मूल्य में दृढ़ विश्वास रखते थे । वे अपने पूर्वजों की सभ्यता का आदर करते थे, परन्तु साथ ही, उनका विश्वास था कि उनका समुदाय अपनी शीर्ष-स्थिति को तब तक प्राप्त नहीं कर सकेगा, जब तक वह अपनी सभी धार्मिक और सामाजिक कमजोरियों को दूर नहीं कर देगा ।

3—262 M. of I & B/ND/82

उदाहरणार्थ, भाऊ दाजी और गणपत लक्ष्मण ने, जो दोनों ही एलिफन्स्टन इंस्टीट्यूशन में पढ़ चुके थे, शिशुहत्या और पारिवारिक सुधार की आवश्यकता पर निबंध लिखे थे और उन पर पुरस्कार प्राप्त किए थे । भाऊ दाजी विज्ञान को एक महती मुक्तिदायिनी शक्ति समझते थे और यह महसूस करते थे कि उसे अपनाने से उनकी मातृभूमि निश्चय ही पिछड़ेपन और अंधविश्वास की जंजीरों से मुक्त हो जाएगी ।

इस प्रकार, बम्बई केवल धनार्जन में ही नहीं, अपनी मिश्रित आबादी के सांस्कृतिक एवं बौद्धिक जीवन को समृद्ध बनाने में भी लगी हुई थी । सभी प्रमुख समुदाय उसकी प्रगति और समृद्धि में न्यूनाधिक मात्रा में योग दे रहे थे । पारसी विशेष रूप से अंग्रिम पंक्ति में थे, वे शिक्षा के क्षेत्र में ही नहीं, व्यापार और वाणिज्य में भी सबसे आगे थे । दादाभाई नौरोजी, जो भारत के महान वृद्ध पुरुष कहे जाते हैं, आरम्भिक एलिफन्स्टनीयों में से थे और जाभेम्कर की भांति उन्होंने भी प्राध्यापक के रूप में अपनी संस्था की सेवा की थी । 1851 में, उन्होंने 'रास्ट गोफ्तार' नामक एक सुधारक समाचारपत्र की स्थापना की और अपने देशवासियों को सलाह दी कि वे केवल इस आधार पर नई विद्या का तिरस्कार न करें कि वह देशी नहीं है । वे अन्याय के कट्टर शत्रु थे और अंग्रेजों द्वारा देश की अर्थ-व्यवस्था के शोषण का अद्भुत साहस के साथ विरोध करते थे । साथ ही उन्होंने घोषणा की कि "हम अंग्रेजों की प्रजा हैं, अतः समस्त ब्रिटिश संस्थाओं के उपयोग का हमारा अधिकार है" । सर फीरोजशाह मेहता बम्बई के एक और पारसी दिग्गज थे, जिनकी शालीनता और योग्यता की दादाभाई नौरोजी के पत्र ने बहुत प्रशंसा की । अनेक दशाब्दियों तक वे पश्चिमी भारत में महान हस्ती की भांति घूमते रहे तथा बम्बई में उनका कार्यालय बड़े-बड़े वकीलों और उदार राजनीतिज्ञों के लिए मिलन-केन्द्र बन गया ।

वर्तमान शताब्दी के पहले कुछ दशकों तक, मुस्लिम समुदाय ने आधुनिक शिक्षा में अधिक रुचि नहीं दिखाई । इसीलिए शहर में उसके विद्वानों की संख्या कम रही । आर० एम० सयानी (1847-1902), जो के० टी० तेलंग के समकालीन थे, बम्बई विश्वविद्यालय की ही उपज थे तथा 1880 के दशक के महत्वपूर्ण राजनीतिज्ञ थे । बद्रुद्दीन तैयबजी (1844-1906) बम्बई के एक और प्रख्यात मुसलमान थे, वह भी एलिफन्स्टन इन्स्टीट्यूशन के छात्र और राष्ट्रवादी थे । वह

बम्बई उच्च न्यायालय के न्यायाधीश बने और अपने साहस एवं स्वतन्त्र विचारों के कारण विशेष आदर की दृष्टि से देखे जाने लगे।

कीर्तिकर के समय में बम्बई न्यायालय में उच्च कोटि के वकीलों का बाहुल्य था। उनमें से कुछ के नामों का उल्लेख करते हुए, जयकर ने लिखा है कि उनके सम्पर्क में आने से मुझे बहुत लाभ हुआ। पुणे के समीप लोनावला में, जो एक ग्रीष्मकालीन विश्रामस्थल था, कीर्तिकर का एक बंगला था, जहां बम्बई की असह्य गर्मी से बचने के लिए वह अपने परिवार के साथ जाया करते थे। उन्हीं के पड़ोस में महाराष्ट्र के बहुत से प्रतिष्ठित व्यक्तियों के बंगले थे। रानडे जैसे नेता प्रायः उनसे मिलने आया करते थे। इस प्रकार जयकर को इन महापुरुषों को केवल देखने का ही नहीं बल्कि जानने का भी परम सौभाग्य प्राप्त हुआ। इतिहास के उन निर्माताओं से मिलने और उनकी बात सुनने से उन्हें प्रेरणा भी मिली और शिक्षा भी।

अध्याय 3

ब्रिटिश राज

जयकर देशभक्त थे। अन्य विज्ञ लोगों की भांति उनकी भी यही मान्यता थी कि कोई भी देश राजनीतिक दासता में उन्नति नहीं कर सकता। अतः वे राष्ट्रीय स्वाधीनता आवश्यक समझते थे। वे विदेशी शासन के कट्टर आलोचक थे, परन्तु क्रांतिकारियों अथवा सविनय अवज्ञाकारियों की भांति यह नहीं मानते थे कि केवल हिंसक या अहिंसक दबाव से ही अंग्रेजों को देश से निकाला जा सकता था। उन्हें यह बताने की आवश्यकता न थी कि मनुष्य की ही भांति साम्राज्य भी नश्वर होता है। परन्तु उनका यथार्थवाद उन्हें भविष्य में दूर तक दृष्टिक्षेप करने से रोक देता था। जून 1920 में महाराजा ग्वालियर के साथ उनका जो वार्तालाप हुआ था, उससे ब्रिटिश राज के स्थायित्व के बारे में उनके दृढ़ विश्वास का पता चलता है। जब महाराजा माधवराज सिंधिया ने बम्बई के इस वकील-राजनीतिज्ञ से पूछा कि क्या आपने कभी यह भी सोचा है कि विदेशियों के चले जाने के बाद देश का क्या होगा, तो उन्होंने उत्तर दिया—"श्रीमन्! अंग्रेज अपने आप भारत कभी नहीं छोड़ेंगे, और इस स्थिति पर हमने ध्यान ही नहीं दिया है।" परन्तु महाराजा ने जोर देकर कहा कि भारत एक न एक दिन स्वतन्त्र अवश्य होगा और उनसे जानना चाहा कि उसके बाद क्या होगा? जयकर ने फिर वही बात दुहराई और कहा—"ऐसी कोई सम्भावना नहीं है, अतः मैंने इस विषय में विचार ही नहीं किया।"[1]

जयकर का निराशावाद अकारण नहीं था। अंग्रेजों ने अपनी कथनी और करनी से यह पूर्णतया स्पष्ट कर दिया था कि प्रलय पर्यन्त भी अपनी अमूल्य निधि, भारत को छोड़ने का उनका कोई इरादा नहीं है। आरम्भ में वे इस देश के विपुल व्यापार में भाग लेने के लिए आए थे, परन्तु भाग्य ने ऐसा पलटा खाया कि यहां के शासक बन बैठे। अधिकांश अंग्रेज लेखकों ने उनके देश द्वारा भारत पर अधिकार जमाने को सैनिक विजय बताया है, परन्तु उनका यह दावा गलत है। कैम्ब्रिज में आधुनिक इतिहास के प्राध्यापक सर जान सीली (1834-95) ने अपनी पुस्तक "दी एक्स्पेंशन आफ इंग्लैंड" में यह ठीक ही कहा है कि ब्रिटिश साम्राज्य "पागलपन के एक दौरे

---

1. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 1, पृष्ठ 382

में" हाथ लग गया था। इंग्लैंड में अधिकांश अंग्रेज विदेशों में अपने मुट्ठीभर देशवासियों के साहसिक कार्यों के प्रति नितान्त उदासीन थे। एशिया और अफ्रीका के अनेक छोटे बड़े देश अपने शासकों की दुर्बलता के कारण विदेशियों के अधीन होते जा रहे थे। सीली का तर्क अकाट्य है, क्योंकि अंग्रेजों ने साम्राज्य की स्थापना के लिए ऐसी कोई सुविचारित योजना नहीं बनाई थी, जैसी कि, उदाहरणार्थ, अरबों ने मध्य पूर्व में इस्लाम के विजयध्वज को लेकर बनाई थी।

पश्चिमी भारत में आधिपत्य जमाने से बहुत पहले से अंग्रेजों के बम्बई के भारतवासियों के साथ सम्बन्ध बहुत अच्छे थे और वे तब तक अच्छे रहे, जब तक यह शहर देश के इस भाग में राष्ट्रीयता का गढ़ नहीं बना। बालगंगाधर शास्त्री जाम्भेकर, जिनका संक्षिप्त उल्लेख पिछले अध्याय में किया गया है, गदर से पहले के बम्बई के महान नेता थे। नगर के भारतीय और यूरोपीय दोनों समुदाय उनका आदर करते थे। वे बड़े प्रतिभाशाली थे, किन्तु अधिक दिन जीवित न रहे। दादाभाई नौरोजी जैसे महापुरुषों को उन्होंने जन-सेवा के लिए प्रेरित किया था। वे "समाज के निर्मल आभूषण" और "पश्चिमी भारत के अब तक के सबसे बड़े विद्वान" कहे जाते थे।

अपनी आत्मकथा "दी स्टोरी आफ माई लाइफ" में जयकर ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के दिनों में बम्बई के समाजिक-सुधार एवं शिक्षा क्षेत्र के भारतीय नेताओं को काफी स्थान दिया है। उन्होंने जगन्नाथ शंकरसेट की महान जन-सेवाओं का विशेष उल्लेख किया है, जिनके चरित्रबल, प्रगतिशील विचारों तथा न्याय एवं श्रेष्ठ कार्यों के प्रति उत्साह ने नगर के जीवन पर गहरी छाप डाली। वे विद्या-प्रेमी थे और ज्ञान के प्रसार के लिए उदारता से दान देते थे। सरकार और जनता—दोनों में उनकी विशेष प्रतिष्ठा थी।

जयकर के नाना कीर्तिकर का निवास शंकरसेट के भव्य भवन के सामने ही था। यद्यपि जयकर इस महापुरुष की मृत्यु के बहुत दिनों बाद पैदा हुए थे, फिर भी उन्होंने उनके विषय में अपने नाना से बहुत-कुछ सुन रखा था, वे लिखते हैं—"उस युग के प्रगति आन्दोलन का इतिहास बताता है कि वे (शंकरसेट) अपने देशवासियों में शिक्षा एवं ज्ञान के प्रसार के लिए किए जाने वाले लगभग प्रत्येक कार्य के उत्साही पथप्रदर्शक थे।" एक वरिष्ठ ब्रिटिश अधिकारी के शब्दों में, "अपनी नम्रता एवं साधुता की दृढ़ भावना के कारण वे सभी वर्गों के प्रतिनिधि बन

गए थे तथा उन्होंने अपने सभी देशवासियों के सम्पूर्ण विश्वास एवं आदरभाव को अर्जित कर लिया था।" यही प्रशंसक बताता है कि शंकरसेट "वास्तव में कौंसिल से बाहर सरकार के परामर्शदाता थे तथा पश्चिमी भारत के प्रशासक बहुत वर्षों तक उनके कथन और परामर्श में अटूट विश्वास रखते रहे।"

जयकर ने बम्बई में संगठित "राजनीतिक कार्य" के अग्रदूत के रूप में भी शंकरसेट की प्रशंसा की है। उन्होंने भाऊ दाजी तथा कुछ पारसियों और अन्य लोगों की सहायता से 1852 में बम्बई संघ की स्थापना की थी। इसमें नगर के सभी वर्गों और सम्प्रदायों के प्रतिनिधि थे। संघ का उद्देश्य भारतीयों को अधिकाधिक संख्या में जिम्मेदारी के पद दिलाने के लिए अधिकारियों को मनाना था। स्थापना के पहले ही वर्ष में इसने ब्रिटिश पार्लियामेंट को दो याचिकाएं भेजीं, जिनमें ऐसी रियायतों की मांग की गयी थी। संघ की तर्कपूर्ण मांग पर टिप्पणी करते हुए "लीडर" ने 15 जनवरी, 1853 को लिखा—"विभिन्न जातियों का सम्मिश्रण होते हुए भी, बम्बई की जनता ब्रिटिश संस्थाओं में स्वशासन का उचित भाग, छीनने के लिए न सही, लेने के लिए ही, वस्तुतः अपने को तैयार कर रही है और अब हम देखते हैं कि बम्बई के लोग, कुत्तों की तरह अपने मालिकों के पैर चाट कर नहीं, लिवरपूल और मानचेस्टर के मध्यम वर्गों की तरह धन खर्च करके और शिष्टता के साथ राजनीतिक आन्दोलन चला रहे हैं।"

माउन्ट स्टुअर्ट एल्फिन्स्टन, जिन्होंने पेशवा शासन को उखाड़ने में निर्णायक भूमिका अदा की थी तथा जो उस घटना के बाद 1819 से 1827 तक बम्बई के गवर्नर रहे थे, ने पहले ही सविश्वास यह भविष्यवाणी कर दी थी कि जब भारतीयों के विचार अधिक विस्तृत एवं परिपक्व हो जाएंगे तो पहले तो वे शासन में अपने भाग की मांग करेंगे और फिर संपूर्ण शासन की। उदार विचारधारा के लोग ऐसी भविष्यवाणी से विचलित नहीं थे, क्योंकि उनमें इसकी अनिवार्यता को समझने की बुद्धि और दूरदृष्टि थी। अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी राजनेता टरगोट ने कहा था कि उपनिवेश फलों के समान होते हैं जो तभी तक पेड़ों पर रहते हैं, जब तक पकते नहीं। कुछ भी हो, भारतीयों का अपने को समझने का प्रश्न केवल सैद्धान्तिक था, क्योंकि देश में संगठित और दृढ़ राष्ट्रीयता का उदय अभी नहीं हुआ था।

ब्रिटेन द्वारा भारत के संसाधनों के दोहन का केवल अन्दाजा लगाया जा सकता है। उन परम्परागत उद्योगों को उखाड़ने के साथ-साथ, जो अनेक भारतीय लोगों को रोजगार प्रदान करते थे, अंग्रेजों ने भूमि पर भी असह्य वित्तीय भार लाद दिया, जिससे किसानों सहित देश के सभी समुदाय धीरे-धीरे गरीब होते चले गए। ब्रिटेन के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध ऐसी युक्ति से गढ़े गए थे कि भुगतान-सन्तुलन सदा ब्रिटेन के ही पक्ष में रहता था। सत्तर वर्ष से भी अधिक पहले, विलियम-डिगबी, बड़े परिश्रम से हिसाब लगाकर इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि प्लासी और वाटरलू के मध्य संभवतः एक अरब पौंड राशि भारत से इंग्लैंड के बैंकों में पहुंची। इस आधार पर, यह कहा जा सकता है कि इस अवधि में भारत के धन का उंछन प्रतिवर्ष औसत एक करोड़ 72 लाख पौंड की दर से हुआ। हाल के कुछ लेखकों ने इन आंकड़ों को चुनौती दी है, परन्तु वे इनके बदले विश्वसनीय आंकड़े नहीं दे पाए। वे इस आरोप का खंडन करने का भी साहस नहीं कर सके कि ब्रिटिश शासकों ने भारत का निर्भयता से दोहन किया।

जयकर ने डिग्बी द्वारा ब्रिटिश राज पर लगाए गए अभियोग का दिल खोल कर समर्थन किया। उन्होंने अपनी आत्मकथा में डिग्बी की पुस्तक "प्रोसपरस ब्रिटिश इंडिया" से दो अवतरण उद्धृत कर अपनी सहमति प्रकट की। उस निष्पक्ष विचार के विदेशी ने लिखा कि ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में भारतीय "सहयोगी बन कर नहीं, अधीन बन कर रह सकते थे, अपनी ही भूमि में शासक और सरदार नहीं बन सकते थे; अपनी उचित महत्वाकांक्षाओं की क्षतिपूर्ति नहीं कर सकते थे; तथा उनकी स्वाभाविक एवं राष्ट्रीय शक्तियों के विकास के लिए भी कोई अवसर नहीं दिया जाता था—ये चीजें भारतीयों के लिए नहीं थीं। वे चाहे कि ी जाति या धर्म के हों, सबके लिए बदकिस्मती ही नसीब में थी। घर पर, वे अपने लोगों में, 'लकड़हारे और कहार' बन सकते थे और यदि कोई सरकारी नौकरी मिलती थी तो ऐसी, जिसे कोई गरीब से गरीब अंग्रेज भी स्वीकार न करता। निर्णय भारत और इंग्लैंड दोनों के लिए समानरूप से भाग्य-निर्धारक होता था। वह सोच-समझ कर किया जाता था। संघर्षरत छुटभैया उसे स्वीकार कर लेता था; बड़ भैया, वह देख कर कि उससे वह सुखद स्थिति में है या नहीं, थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर लेता था।"

जिस समय डिग्बी का भारत में ब्रिटिश राज पर दोषारोपण छपा, उस समय जयकर 28 वर्ष के थे। वे कहते हैं कि विदेशी शासन के विरुद्ध लगाए गए क्रूरता

के आरोपों की वास्तविक गम्भीरता को समझने में उन्हें कुछ समय लगा, परन्तु "कभी कभी कुछ भले अंग्रेज भी मिल जाते थे, जो, कुछ मामलों में, कटुता को कम कर देते थे।" वे और उनके विचारों के अन्य व्यक्ति यह महसूस करते थे कि भारत की बुराइयों का सबसे अच्छा इलाज यह है कि देशवासियों में सच्ची शिक्षा का प्रचार किया जाए। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए, वे आर्य शिक्षा समिति के तत्वावधान में शुरू किए गए एक हाई स्कूल के संचालन में सक्रिय भाग लेने लगे।

दोहन और भेदभाव की नीतियों का भयंकर परिणाम कम्पनी सरकार को भुगतना पड़ा। यद्यपि चर्बी लगे कारतूसों का प्रश्न कोई वास्तविक महत्व नहीं रखता था, फिर भी उसने 1857 के महान विप्लव के लिए चिंगारी का काम किया। इस विप्लव को सिपाही-विद्रोह भी कहा जाता है और राष्ट्रीय स्वाधीनता का प्रथम संग्राम भी।

यह स्पष्ट नहीं है कि इस विप्लव के बारे में जयकर के अपने विचार क्या थे। परन्तु जिन लोगों का वे अत्यधिक आदर करते थे, उनमें से कुछ ने इसे राष्ट्रीय विद्रोह बताया है। किन्तु इस विद्रोह के बारे में एक विशुद्ध ऐतिहासिक सत्य का कथन स्वतन्त्र भारत के प्रथम शिक्षा-मन्त्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ने इन शब्दों में किया है--"मैं जब 1857 की घटनाओं के बारे में पढ़ता हूं तो बलात् इस दुःखद निष्कर्ष पर पहुंचता हूं कि भारत का राष्ट्रीय चरित्र बहुत नीचे गिर गया था। विद्रोह के नेता कभी एकमत नहीं होते थे। वे आपस में द्वेषभाव रखते थे और लगातार एक दूसरे के विरुद्ध षडयन्त्र रचते रहते थे।"[1]

विद्रोह इतना शक्तिशाली था कि उसने ब्रिटिश राज की जड़ें हिला डालीं। साम्राज्यवादी इससे भयभीत हो गए और बेरोक-टोक उत्पीड़न में जुट गए। ब्रिटिश सैनिक और असैनिक भारत की असहाय जनता में आतंक फैलाने में एक दूसरे की होड़ करने लगे। उस समय दोनों जातियों के बीच जो खाई खोदी गई, वह तब तक पूरी तरह से नहीं पटी, जब तक ब्रिटिश राज का अन्त नहीं हुआ। साम्राज्यवादियों ने बिना हिचक यह घोषणा करनी शुरू कर दी कि विद्रोह का दमन देश की दूसरी विजय है।

---

1. सुरेन्द्रनाथ सेन द्वारा रचित "एटीन फिफ्टी सेविन" मौलाना अबुल कलाम आजाद लिखित भूमिका, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1957,

अध्याय 4

क्रान्तिकारी

जो लोग 1857 के विद्रोह से जान-बूझ कर अलग रहे, उनमें एक छोटा किन्तु प्रभावशाली वर्ग अंग्रजी पढ़े-लिखे भारतीयों का था। उनमें संघर्ष के मुद्दों को ही नहीं, उनके परिणामों को समझने की भी अच्छी क्षमता थी। उन्हें विश्वास था कि स्पष्ट लक्ष्यविहीन, अनुशासनहीन और असंगठित जनसमूह एक शक्तिशाली और सुस्थापित सरकार के सामने नहीं ठहर सकता। इसके अलावा, वे यह नहीं चाहते थे कि ब्रिटिश शासन शुरू होने के बाद इतनी जल्दी खत्म हो जाए और न ही यह चाहते थे कि देश फिर स्वेच्छाचारी और अस्थिर सरकार के हाथों में चला जाए तथा एक-दूसरे को नीचा दिखाने वाले राजाओं की प्रतिस्पर्धा का अखाड़ा बन जाए, जिसके परिणाम आन्तरिक शान्ति और बाह्य सुरक्षा के लिए घातक हों।

भारतीयों का यह नया वर्ग, अपने खुले दिमाग और दूरदृष्टि के कारण ब्रिटिश शासन के अच्छे और बुरे दोनों पहलुओं को साफ-साफ देख और समझ सकता था। विदेशियों ने गम्भीर रूप से संकटग्रस्त देश में कानून और व्यवस्था स्थापित की थी तथा अनेक वर्षों की अराजकता और अव्यवस्था के बाद उसे एक सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार के ढांचे में लाये थे। त्वरित परिवहन एवं संचार के साधनों की शुरुआत करके उन्होंने केवल महाद्वीपीय आकार के इस देश में दूरी कम करने में ही नहीं, इसके विभिन्न समुदायों में मुक्त मेल-मिलाप बढ़ाने में भी योग दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रेलों ने भारतीयों को एकता के सूत्र में बांध दिया। अब उन्हें केवल एक स्थायी सरकार की आवश्यकता थी, ताकि शिक्षित वर्ग समाज-सुधार और शिक्षा की उन्नति में पूरा ध्यान लगा सके।

विदेशी शिक्षा-प्रणाली निःसन्देह दोषपूर्ण थी। राष्ट्रीय स्वाधीनता के एक-चौथाई शताब्दी बाद भी भारतीय उसके बोझ से कराह रहे हैं। फिर भी, नई प्रणाली सर्वथा निरर्थक सिद्ध नहीं हुई। इसी के कारण, पहली बार पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान के विशाल भंडार तक भारतीयों की पहुंच हो सकी। अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बना देने से नए ज्ञान की खोज अपेक्षाकृत अधिक

आसान हो गई। वास्तव में, अंग्रेजी नए बुद्धिजीवियों की राष्ट्रभाषा बन गई, जिसके माध्यम से उन्होंने यूरोपीय विद्रोह साहित्य बड़ी उत्सुकता से पढ़ा। इस साहित्य में स्वतंत्रता और स्वाधीनता की प्रशंसा की गई थी, मानव के व्यक्तित्व की पवित्रता की घोषणा की गई थी तथा अत्याचार एवं उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह का उपदेश दिया गया था।

शिक्षाविद के रूप में जयकर की भूमिका पर इस पुस्तक में आगे विचार किया जाएगा। अपनी आत्मकथा में उन्होंने शिक्षा को काफी स्थान दिया है। उन्होंने बताया है कि वर्तमान परीक्षा-प्रणाली विद्यार्थी की वास्तविक योग्यता के मूल्यांकन में किस प्रकार विफल रहती है। फिर भी, उनके समय के तथा बाद के अधिकांश विद्यार्थी, अपनी बुद्धि के सामने आई नई चुनौतियों को, अपने ज्ञान के विस्तार के रूप जैसे एक मात्र साधन के रूप में स्वीकार करने की अपनी योग्यता और उत्सुकता के कारण, इस प्रणाली की सीमाओं को लांघने में समर्थ हुए। विद्यार्थियों के इस वर्ग का एक सुन्दर उदाहरण जयकर स्वयं थे। 11 दिसम्बर 1896 को, उन्होंने लोनावला से अपने नाना को एक पत्र लिखा था, जिससे पता चलता है कि उनकी बौद्धिक रुचियों का क्षेत्र कितना विस्तृत था और अपने मस्तिष्क के विकास के लिए वे कितने उत्सुक थे। उन्होंने लिखा है : "इस समय मैं मार्टिन्यू की 'स्टडी आफ रिलीजन' का अध्ययन कर रहा हूं। यह एक बोझिल और श्रम-साध्य अध्ययन है; अतः बीच-बीच में आराम के लिए मैं कुछ घंटे 'स्टोरी आफ ऐनशियन्ट नेशन्स' जैसी हल्की पुस्तकें पढ़ता हूं।" सह्याद्रि पर्वत के शिखर पर स्थित लोनावला स्वास्थ्य स्थली की शोभा का वर्णन करने के लिए उन्होंने कार्लाइल को उद्धृत किया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जयकर में देशभक्ति की भावना पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से भी उतनी ही जागृत हुई, जितनी कि अपने देश और प्रान्त के इतिहास ज्ञान से। उनके उच्च अध्ययन में गद्य का जो नमूना उनके सामने प्रस्तुत किया गया, उसमें विद्रोह को अवांछनीय सरकार के विरुद्ध सर्वोत्तम उपाय बताया गया था। साथ ही, अंग्रेजी शिक्षा ने स्वतंत्र संस्थाओं का मूल्य समझने में उनकी सहायता की। भारत एक ऐसे देश से बहुत कुछ सीख रहा था, जो संसदों की जननी कहलाता था। आस्ट्रेलिया, कनाडा, और न्यूजीलैंड आदि देशों ने

अपनी सरकार का रूप सोत्साह वेस्टमिन्स्टर प्रणाली के सांचे में ढाला था। अनेक विचारशील भारतीय यह मानने लगे थे कि ऐसा देश--

"जहां धीरे-धीरे स्वतंत्रता का विकास होता है--"

अपनी अधीन प्रजा के प्रति स्वार्थपूर्ण एवं नीच इरादे नहीं रख सकता। वस्तुतः भारतीय राष्ट्रीयता के पोषक अपने देश पर ब्रिटिश आधिपत्य को ईश्वरेच्छाकृत बताने में कोई पाप नहीं समझते थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जिसकी स्थापना 1885 में हुई थी, बहुत दिनों तक अंग्रेजों की वफादार बनी रही। जयकर के आदर्श, रानडे और गोखले भी, ब्रिटेन के साथ भारत के राजनीतिक सम्बन्ध के महत्व के बारे में कम आश्वस्त नहीं थे। परन्तु वफादारों का भी लक्ष्य स्पष्ट और असन्दिग्ध था। उनकी मांग थी कि प्रशासन में जिम्मेदारी के पदों पर अधिक से अधिक भारतीयों को नियुक्त किया जाए। इसके अलावा वे चाहते थे कि ब्रिटेन की तरह भारत में भी स्वतंत्र संस्थाओं की स्थापना की जाए, भले ही वे अपने आरम्भिक रूप में हों।

आरम्भिक दशाब्दियों में कांग्रेस की मांग यथास्थिति में परिवर्तन और स्वशासन की ओर क्रमिक प्रगति की थी। उसके नेताओं ने क्रमिकता की अनिवार्यता के सिद्धांतों को भारतीय राजनीतिक जीवन के अपरिहार्य तथ्य के रूप में स्वीकार कर लिया था। फिर भी, साम्राज्यवादी इस देश में कांग्रेस की मांग से ही नहीं, उसके अस्तित्व से भी अपने 'राज' को गंभीर खतरा समझते थे। लार्ड कर्ज़न, जो साम्राज्यवाद का निष्ठावान पुजारी और घमंडी समर्थक था, यह चाहता था कि वह अपने वायसराय-काल में ही वफादारों की इस संस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर धूल में मिला दे। उसकी तरह के लोगों का विश्वास था कि भारतीय राष्ट्रीयता को उसके शैशव में ही कुचलने का सबसे अधिक सुनिश्चित उपाय यह है कि उन संस्थाओं को ही नष्ट कर दिया जाए जो उसका पोषण करती हैं।

इंग्लैंड में, विद्यार्थी के रूप में जयकर को जातिवाद के कोड़ों की मार लगी थी, परन्तु वहां उनका जो अपमान हुआ, वह उस अपमान की तुलना में कुछ भी नहीं था जो अनेक महान भारतीयों को अपनी ही मातृभूमि पर सहना पड़ा। नवयुग के अग्रदूत और भारत के आधुनिक प्रबुद्ध वर्ग के जनक, राजा राममोहन राय

का भागलपुर के कलक्टर फ़्रेडरिक हैमिल्टन ने बुरी तरह अपमान इसलिए किया क्योंकि वे भूल से उन्हें सलाम करने के लिए अपनी पालकी से नहीं उतरे थे। महादेव गोविन्द रानडे का भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक ह्यूम ने "महान देवता महादेव" कह कर अभिनन्दन किया तथा भारत के एक ब्रिटिश मित्र वेलबी जिन्होंने 'सुकरात' कह कर प्रशंसा की, एक युवक ब्रिटिश नौकरशाह के लिए इनमें से कोई न थे, क्योंकि महाराष्ट्र में एक रेलवे स्टेशन पर उसने उनके साथ अशिष्टता का व्यवहार किया। गोखले को भी व्यक्तिगत अपमान का कड़ुवा घूंट पीना पड़ा। बार-बार पूछे जाने पर भी उन्होंने वाइसराय लार्ड कर्जन के अपमानकर्ता का नाम बताने से यह कह कर इन्कार कर दिया कि भारतीयों के लिए राजनीतिक अधिकारों के अभाव में ऐसे अपराध अनिवार्य हैं। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के संस्थापक और अंग्रेजों के वफादार मित्र सर सैयद अहमद खां, उनके पुत्र जस्टिस महमूद और सर सालार जंग सभी को व्यक्तिगत अपमान सहने पड़े।

भारतीय बुद्धिजीवियों की राजनीतिक जागृति, तीव्रता और प्रबलता दोनों में, अद्भुत थी। देश के समस्त भागों में अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित होने से पहले ही, युवा एवं साहसी भारतीय मातृभूमि को विदेशी शासन से मुक्त कराने के लिए कोई भी त्याग करने को तैयार थे। राजा राममोहन राय, जो 59 वर्ष जीवित रहने के बाद, 1833 में दिवंगत हुए, अपने समीप के कुछ नवयुवकों की युयुत्सा से बहुत चिन्तित थे। इलबर्ट बिल के खिलाफ अंग्रेजों का आन्दोलन और संवैधानिक सुधारों के प्रश्न पर अंग्रेजों की बढ़ती हुई दुर्भावना के प्रमाण आदि कुछ ऐसी बातें थीं, जिनके कारण क्रांतिकारियों को, आवश्यकता पड़ने पर शस्त्रबल से, साम्राज्यवादियों से निपटने का निर्णय करना पड़ा।

अधिकांश युवा क्रांतिकारी उन परिवारों के थे, जो अपनी बौद्धिक कुशाग्रता तथा घर पर ही भारतीय या पाश्चात्य विद्या पढ़ने की परम्परा के लिए विख्यात थे। उनमें से बहुतों के पास विश्वविद्यालयों की डिग्रियां थीं। अरविन्द घोष जैसे कुछ थोड़े से ऐसे भी थे, जिन्होंने सुप्रसिद्ध विदेशी विश्वविद्यालयों में शिक्षा के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त की थी। उन्होंने यूरोप के क्रान्तिकारी साहित्य का अध्ययन किया था तथा इटली के मेजिनी और हंगरी के कौसुथ जैसे लोगों के कार्यों से प्रेरणा ली थी। वे बम और पिस्तौल की शक्ति को जानते थे और यह भी जानते थे कि रूस का शक्तिशाली जार तक उनसे डरता था।

जयकर स्वभाव से समतावादी थे; इसलिए क्रान्तिकारियों का साथ देना उनके लिए असम्भव था। परन्तु वे उनके साहस और मातृभूमि के प्रति उनके प्रेम की प्रशंसा करते थे। यौवनकाल में वासुदेव बलवन्त फड़के उनके आदर्श पुरुष थे। इंग्लैंड में वे श्यामजी कृष्ण वर्मा से मिले थे। वे एक धनी और विद्वान भारतीय थे, जो विदेशों में अपने देशवासियों के प्रेरणा-स्रोत और प्रधान आश्रय बन गए थे, उनका विश्वास था कि अंग्रेजों को भारत से निकालना आवश्यक ही नहीं, परम कर्तव्य है। विदेशी विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे भारतीय विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां देते थे। अनेक प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों ने उनके दान का लाभ उठाया। जयकर के अनुसार, उनके श्वसुर छबीलदास लल्लू भाई बम्बई के जाने-माने धनाढ्य सामुद्रिक व्यापारी थे तथा उनके अन्य सम्बन्धी भी प्रभावशाली थे। जयकर लन्दन में उनके घर गए थे; उन्होंने लिखा है कि श्यामजी की पत्नी छोटी कदकाठी की "गठनी आकर्षक रूपवती महिला थीं" और "उनके चेहरे पर मधुर मुस्कान रहती थी।"

श्यामजी हर दृष्टि से विशिष्ट व्यक्ति थे। वे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के एम० ए०, बी० सी० एल० थे; वहां उन्होंने कुछ समय तक अध्यापन-कार्य भी किया। मैक्समूलर जैसे महान पुरुषों ने उनकी विद्वत्ता की सराहना की। चिपलूणकर और रानडे जैसे विद्वानों ने उनके संस्कृत साहित्य के गंभीर ज्ञान की प्रशंसा की। संस्कृत के एक और विद्वान तथा आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती के वे अति निकट थे। श्यामजी जूनागढ़, रतलाम, उदयपुर आदि कई देशी राज्यों के दीवान या प्रधान मन्त्री थे। उन्हें ब्रिटिश जर से केवल इसीलिए घृणा नहीं थी कि वह विदेशी था और उनके देश का शोषण कर रहा था, अपितु इसलिए भी थी कि वह उन सैकड़ों देशी राज्यों के अस्तित्व को सहन कर रहा था, जो उनकी दृष्टि में अन्याय और उत्पीड़न के कूड़ाघर थे। जयकर अपने एक मित्र के साथ श्यामजी के लन्दन स्थित निवास पर गए थे। वे लिखते हैं —"असाधारण सरलता से उन्होंने हमें वह सारा पत्र-व्यवहार दिखाया जो भारत सरकार और उनके मध्य देशी राज्यों के दीवान पद से उनके हटाने के बारे में हुआ था। वह कागजातों का एक पुलिन्दा था, जिससे प्रकट होता था कि देशी राज्यों की स्थिति कितनी खराब थी और ब्रिटिश सरकार अपने अत्याचारों को कितनी चतुराई से न्याय का जामा पहना देती थी।

जयकर 2 अगस्त 1903 को उनसे मिले थे। उन पर उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप पड़ी। श्यामजी में देशभक्ति और विद्वत्ता का अद्‌भुत सम्मिश्रण था। इसके अलावा, उन्होंने अपनी जीवन-पद्धति ऐसी बना ली थी, जो सुविधाजनक भी थी और साथ ही कलात्मक भी। अपने मेजबान के उदारतापूर्ण आतिथ्य की प्रशंसा करते हुए, जयकर ने अपने को तथा अपने मित्र को दिए गए भोजन को "अंग्रेजी भोजन की विशिष्ट शुद्धता और भारतीय भोजन की विलक्षण स्वादिष्टता का मिश्रण" बताया है। "भोजन में बैंगन, पुलाव, मछली, शीरा और हलुआ तथा अन्त में कुछ फल परोसे गए थे, जो विचित्र ढंग से तैयार किए गए थे। पिछली सन्ध्या को, फल में एक छोटा छेद करके उसमें चीनी भर दी गई थी और उसे रात-भर खुली हवा में लटकाया गया था। दूसरे दिन चीनी पिघल कर फल में घुल गई थी और उसमें ऐसी शीतल रसीली मधुरता आ गई थी, मानों प्राकृतिक हो।"

एडविन मांटेग्यू ने, जिसके नाम के साथ ब्रिटिश-भारतीय सुधारों की दूसरी किस्त जुड़ी हुई है, इन स्मरणीय शब्दों में इस देश के प्रशासन का वर्णन किया है: "यह इतना काष्टवत, इतना लौहवत, इतना अनम्य, इतना पुराने ढंग का है कि आधुनिक प्रयोजनों के लिए, जो हमारे सामने हैं, किसी काम का नहीं।" उन्होंने अपना यह मन्तव्य ब्रिटिश पार्लियामेंट में जुलाई 1916 में प्रकट किया था। भारत सरकार में ये दुर्गुण मांटेग्यू के प्रहार से बहुत पहले आ गये थे। देश के सभी भागों में ब्रिटिश राज से असन्तोष था, परन्तु बंगाल और महाराष्ट्र में यह सबसे अधिक था। कुछ दशाब्दियों पहले जब इसका अध:पतन आरंभ हुआ, तब तक बंगाल राष्ट्रीय महत्व के अनेक मामलों में शेष भारत का नेतृत्व करता था। आधुनिकता की ओर देश की प्रगति के सबसे पहले मार्ग-दर्शक राजा राममोहन राय ने अपने प्रान्त की महानता की इतनी पक्की नींव डाली कि उनकी मृत्यु के बाद सौ वर्ष से भी अधिक तक वह कायम रही।

ब्रिटिश राज के द्रुत अन्त के लिए महाराष्ट्र भी कम उत्साही या दृढ़ निश्चयी न था। बी० एन० मांडलिक द्वारा 1864 में स्थापित और उन्हीं के द्वारा सम्पादित आंग्ल-मराठी साप्ताहिक "नेटिव ओपिनियन" आमूल परिवर्तनवादी पत्र नहीं था। फिर भी, उसने बाध्य होकर 24 फरवरी, 1878 को लिखा—"राज्य का समस्त तन्त्र इतना सड़-गल गया है कि इसके तत्काल पूर्ण कायापलट

की आवश्यकता है। नौकरशाही शासन बाह्य मत और आलोचना से प्रतिदिन अधिकाधिक अधीर होता जा रहा है तथा साम्राज्यवाद और निरंकुश शासन की प्रवृतियों को अपनाता जा रहा है।'' [1]

मराठों के प्रति नौकरशाही की घृणा बद्धमूल हो गई थी; चित्तपावन ब्राह्मण विशेष रूप से उसके प्रतिशोध के लक्ष्य थे। 1896 में समस्त महाराष्ट्र अकाल की चपेट में आ गया था। लोकमान्य तिलक तथा अन्य अनेक नेताओं ने प्रजा के कष्टों के प्रति सरकार की उदासीनता की निन्दा की। जले पर नमक छिड़कने के लिए ईसाई मिशनरियों को भूखी जनता में धर्मप्रचार की खुली छूट दे दी गई थी। लोगों से एक-एक ग्रास भोजन के बदले अपनी आत्मा बेचने को कहा जाता था।

विनायक दामोदर सावरकर ने, जिन्होंने भारत के क्रान्तिकारी इतिहास में अपने लिए स्थान बना लिया, अपनी जनता के विरुद्ध नौकरशाहों और मिशनरियों के सम्मिलित आक्रमण का सामना करने के लिए प्रत्याक्रमण शुरु करने का निश्चय किया। उन्होंने एक युवक संगठन बनाया और उसका नाम ''अभिनव भारत'' रखा। इसका उद्देश्य था—विदेशी अत्याचारियों में से निकृष्टतम अपराधियों को चुन कर प्राणदंड देना। प्लेग का आक्रमण सबसे पहले 1896 में बम्बई पर हुआ था; बाद में, वह पुणे में भी फैल गया। यह एक नई और भयंकर बीमारी थी, जिसने अधिकारियों में आतंक फैला दिया। अपमानजनक नियम बनाए गए और पूरी बेरहमी से अमल में लाए गए। जयकर ने उस संकट काल में बम्बई में हुई घटनाओं का सजीव चित्रण किया है। प्लेग से पीड़ित लोगों की चिकित्सा के लिए जनता के दान से कई अस्पताल खोले गए। जयकर के नाना ने इस कार्य के लिए शुरू में 5,000 रु० का दान दिया।

पुणे में इस महामारी को रोकने के लिए जो सरकारी उपाय किए गए वे और भी अधिक पाशविक थे; उनके कारण वहां भीषण ''प्लेग-दंगे'' भड़क उठे। इन दंगों ने जो खतरनाक रूप लिया, उसका वर्णन एक अन्य अध्याय में लोकमान्य तिलक के साथ जयकर के सम्बन्धों के विशदीकरण के समय किया जाएगा। एक ओर तिलक लोगों को अपने अधिकारों के विषय में जागृत करने के लिए अपने पत्रों में तीखे लेख लिख रहे थे तो दूसरी ओर, सावरकर, अत्याचारी अंग्रेजों से बदला लेने के लिए साहसी नौजवानों को अपने संगठन 'अभिनव भारत' में

---

1. क्रिस्टाइन डाबिन लिखित ''अर्बन लीडरशिप इन वेस्टर्न इंडिया पालिटिक्स एंड कम्यूनिटीज इन बाम्बे सिटी, 1840-1855'', आक्सफोर्ड, 1972 पृ० 200

अधिकाधिक संख्या में भर्ती कर रहे थे। जिन लोगों ने नौकरशाही के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया, उन्हें अनिवार्य रूप से भारी त्याग करना पड़ा। सावरकर जून 1906 में भारत से इंग्लैंड चले गए। उन्होंने विदेशों में अपने देश के क्रान्तिकारी आन्दोलन को नया उत्साह प्रदान किया तथा अपने व्यक्तिगत उदाहरण द्वारा वहां तथा इस देश में वे सबसे बड़े प्रेरणा स्रोत बन गए।

क्रान्तिकारी आन्दोलन में हिन्दू, मुस्लिम, सिख और पारसी आदि भारत के लगभग सभी सम्प्रदायों के लोग शामिल थे। लाला हरदयाल, जो राजकीय छात्रवृत्ति से आक्सफोर्ड में अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए 1905 में इंग्लैंड गए "पंजाब विश्वविद्यालय के सबसे अधिक चमकीले सितारे" के रूप में प्रशंसित, हुए। वे विद्या के सागर और 13 भाषाओं के ज्ञाता थे। अपने ज्ञान के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि राजनीतिक दासता मृत्यु से भी बुरी है। उन्होंने अन्तिम रूप से यह घोषणा की कि "मैं सबसे पहले क्रान्तिवादी और बाद में और कुछ हूं।" इंग्लैंड में क्रान्ति का सन्देश फैलाने में वे सावरकर के निकट सम्पर्क में रहे। उन्होंने विदेशों में प्रसिद्ध गदर (बगावत) आन्दोलन शुरू किया, जिसके जुझारूपन ने साम्राज्यवादियों को अत्यन्त भयभीत कर दिया। उनके हाल के जीवनचरित्र लेखक का कहना है कि हरदयाल उस जाति के थे जिसने "नवयुग" को खून से लिखा।[2] उन दिनों ऐसे समर्पित भारतीयों की संख्या अधिक थी।

जयकर ने अनन्त लक्ष्मण कान्हेरे के वीरतापूर्ण कार्यों और सावरकर के मुकदमे का विस्तार से वर्णन किया है। कान्हेरे एक सुन्दर लड़का था, जो औरंगाबाद में एक कला विद्यालय में पढ़ता था। सावरकर परिवार के साथ जो पाशविक व्यवहार किया जा रहा था, उसने उसका बदला लेने का निश्चय कर लिया था। अभिनव भारत के क्रान्तिकारी सिद्धांतों में उसका दृढ़ विश्वास था और वह उनमें अपनी निष्ठा का व्यावहारिक प्रमाण देने के लिए उत्सुक था। वह अभी 18 वर्ष का भी नहीं हुआ था। उसके कोमल शरीर और युवा अवस्था के कारण उसके साथियों को कोई भी साहसिक कार्य करने की उसकी क्षमता के बारे में सन्देह था। एक दिन वह 'दितमार लैम्प' को तब तक मजबूती से पकड़े रहा, जब तक कि उसके दोनों हाथ बुरी तरह से नहीं ज़ले, और इस प्रकार उसने उन्हें गलत साबित कर दिया तथा अपने प्रति उनका विश्वास अर्जित

2. धर्मवीर लिखित "लाला हरदयाल", इंडियन बुक कम्पनी, 1970, पृ० 220

कर लिया। कान्हेरे क्षुद्र-बुद्धि देशभक्त अथवा दयाहीन हत्यारा नहीं था। उसकी रुचि परिष्कृत थी और इसका सबूत यह था कि वह कला का विद्यार्थी था। वह सुन्दर वस्त्र पहनता था तथा संगीत एवं "अन्य मनोरंजक कलाओं" का शौकीन था।

21 दिसम्बर, 1909 को, नासिक के कलेक्टर ए० एम० टी० जैक्सन को गोलीमार कर हत्या करने से कुछ वर्ष पहले वह जयकर से मिल चुका था। मनुष्यों और घटनाओं का मूल्यांकन करते समय जयकर भावुक नहीं होते थे। परन्तु बम्बई का यह पक्का राजनीतिज्ञ भी उस युवा क्रान्तिकारी के व्यवहार से प्रभावित हो गया। कान्हेरे सेना में भर्ती होना चाहता था। जयकर लिखते हैं— "जब मैंने उससे पूछा कि इतनी छोटी अवस्था में सैनिक सेवा के लिए उसकी क्षमता का उसके पास क्या सबूत है तो उसने अपने साहस का असन्दिग्ध प्रमाण दिया और उस अवसर पर मैंने सोचा कि यदि उसे सैनिक सेवा के उचित अवसर दिए जाएं, जो उस समय भारतीयों को उपलब्ध नहीं थे, तो वह अपने देश की सेवा में अमूल्य निधि सिद्ध हो सकता है।"

कान्हेरे के शिकार के बारे में जयकर ने अच्छे विचार प्रकट किए हैं। उनके अनुसार, जैक्सन भारतीय सभ्यता का प्रशंसक था और संस्कृत का विद्वान था। उसने भारत के प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों पर विद्वतापूर्ण लेख लिखे और भाषण दिए थे। अपने साहित्यिक क्रियाकलाप के लिए उसने पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी। नासिक में, जो महाराष्ट्र में क्रान्तिकारियों का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था, उसे विशेष रूप से नियुक्त करके इस आशा से भेजा गया था कि वह अपने प्रभाव से नगर को क्रान्ति की राजनीति से मुक्त कर देगा। जयकर लिखते हैं—"परन्तु, हत्या से कुछ समय पहले उस पर एक भारतीय को अनुचित ढंग से बन्दी बनाने का दोष सार्वजनिक रूप से लगाया गया था।" यह भी कहा जाता है कि जैक्सन ने वस्तुतः सावरकर के सबसे बड़े भाई गणेश पर राजद्रोह का आरोप लगाया था, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें देश से निर्वासित कर पोर्ट ब्लेयर भेज दिया गया तथा उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई।[3]

जैक्सन को मराठी नाटकों से बहुत प्रेम था; ये नाटक अपनी उत्कृष्टता के लिए प्रसिद्ध थे। जैक्सन को स्थानान्तरण का आदेश मिल चुका था। नासिक

[3]. वही पुस्तक, पृ० 133

4—262 M. of I & B/ND/82

छोड़ने से पहले उसने "शारदा" नाटक देखने का निश्चय किया। यह नाटक 21 दिसम्बर, 1909 को प्राणघाती रात्रि को मंचित किया गया था। वह एक बारलोम और दो महिलाओं के साथ नाटक देखने गया और वहीं कान्हेरे द्वारा मार डाला गया। हत्या करने के बाद कान्हेरे ने घोषणा की—"मैंने अपना काम पूरा कर दिया है। गणेश दामोदर सावरकर को तो आजीवन काले पानी की सजा दी जा रही है, पर अधिशासी अभियन्ता विलियम्स को, जिसने एक भारतीय गाड़ीवान की जान ली है, रिमांड ली जा रही है। इसीलिए मैंने जैक्सन को मारा है। मेरी भागने की इच्छा नही है।"

जयकर को कान्हेरे के मुकदमे में, जो बम्बई हाई कोर्ट में चल रहा था, बड़ी दिलचस्पी थी और वे प्रतिदिन उसे सुनने के लिए जाया करते थे। वे तथा अन्य सभी लोग, जो उस नौजवान को देखते थे, उसके शिष्ट व्यवहार, मुकदमे की कार्रवाई और उसके परिणाम के प्रति उसकी उदासीनता से अति प्रभावित थे। मुकदमे के परिणाम के बारे में कोई सन्देह न था। युवा देशभक्त से सभी को सहानुभूति थी। एक यूरोपीय न्यायाधीश, जो अपने साथियों की तरह ही भारत के राजनीतिक महत्वाकांक्षियों से घृणा करता था, एक दिन, चल कर जयकर के पास गया और बोला—"कान्हेरे के बारे में तुम क्या सोचते हो? मैं तुम्हें रोज न्यायालय में उपस्थित देखता हूं।" उसने साश्चर्य यह भी कहा—"बड़े दु:ख की बात है कि मुझे ऐसे सुन्दर और साहसी युवक को फांसी की सजा देनी पड़ रही है।"

जयकर ने भी उतनी ही सरलता से उत्तर दिया—"यह सर्वथा ब्रिटिश नीति का दोष है। इसके कारण भारत में कोई साहसी युवक अपने जीवन को, गैर-कानूनी कार्यों के अलावा और किसी ढंग से देश-सेवा की बलिवेदी पर अर्पित नहीं कर सकता।" जयकर को याद था कि कुछ वर्ष पहले जब कान्हेरे से उनकी भेंट हुई थी, तो समर्पित भाव से देश की सेवा का अवसर न मिलने के कारण वह कितना निराश और दु:खी था। उन्होंने लिखा है: "न्यायाधीश ने कोई उत्तर नहीं दिया; परन्तु बाद में, जब उसने कान्हेरे को प्राणदंड की सजा सुनाई तो वह द्रवित हुआ देखा गया। मुकदमे ने हाईकोर्ट तथा वकील मंडल में सनसनी फैला दी और उसकी तीखी आलोचना हुई, क्योंकि उसके कारण एक अच्छे नौजवान की जान गई। कान्हेरे को अप्रैल 1910 में फांसी दी गई। जिस दिन उसे फांसी दी जाने वाली थी, उस दिन वह अपनी कोठरी में गंभीर निद्रा में सोता पाया गया।"

सावरकर के विरुद्ध कानूनी कार्रवाई शीघ्र ही ध्यान आकर्षित करने लगी। जयकर स्वयं एक श्रेष्ठ न्यायविद थे। उन्होंने इस कार्रवाई का विस्तार से वर्णन किया है, केवल इसलिए नहीं, कि सावरकर एक विशिष्ट व्यक्ति थे, बल्कि इसलिए भी कि उसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्न अन्तर्निहित थे। सावरकर 1906 में श्यामजी की छात्रवृत्ति पर भारत से इंग्लैंड गए थे और वहां शीघ्र ही क्रान्तिकारियों के सर्वमान्य नेता बन गए। वे गैरीबाल्डी, मेजिनी और कौसुथ जैसे महान यूरोपीय राष्ट्रीय मुक्तिदाताओं के सांचे में ढले थे। उच्च शैक्षिक वृत्ति वाले सर्वाधिक बुद्धिमान लोगों ने भी, बिना किसी सन्देह या हिचक के, उनके नेतृत्व को स्वीकार किया, उनके विकसित मस्तिष्क, उनकी जाज्वल्यमान देशभक्ति, उनकी नेतृत्व की स्वाभाविक योग्यता तथा क्रान्ति के हित में सर्वस्व त्याग के लिए उनकी तत्परता ने, उनके साथियों की परिषदों में उनके लिए उच्च स्थान सुनिश्चित कर दिया। रौलेट कमेटी की रिपोर्ट में लिखा है—"1909 में, सावरकर इंडिया हाउस में मान्य नेता के पद पर पहुंच गए और रविवारीय बैठकों में, भारतीय गदर पर उनके द्वारा लिखी गई पुस्तक "दी इंडियन वार आफ इंडिपैन्डेन्स, 1857, बाई एन इंडियन नेशनलिस्ट" से अवतरण पढ़ना फैशन बन गया।"

जब सावरकर पेरिस में थे, तो भारत से क्रान्तिकारी देशभक्तों की गिरफ्तारी, कैद और फांसी की रिपोर्टें अधिक तेजी से आने लगीं। उन्हें यह विदित हो गया कि वे निश्चय ही अधिक दिनों तक स्वतंत्र नहीं रह सकेंगे; अतः वे फ्रांस की भूमि पर मिली सुरक्षा को तिलांजलि देकर इंग्लैंड लौट आए। 10 मार्च, 1910 को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और ब्रिक्स्टन जेल में रखा गया। यह जानकर कि ब्रिटिश राज में उनका भविष्य भयंकर खतरे में पड़ जाएगा, उसके घनिष्ट साथी वी० वी० एस० अय्यर तथा अन्य मित्रों ने, जिनमें आयरलैंड के कुछ क्रान्तिकारी भी थे, उन्हें जेल से छुड़ाने का प्रयत्न किया, किन्तु असफल रहे। उन पर दो आरोप लगाए गए—इंग्लैंड से आग्नेयास्त्र भेजकर भारत में हत्या की अवप्रेरणा और भारत में राजद्रोह। प्रश्न उठा कि इन अपराधों के लिए उन पर इंग्लैंड में मुकदमा चलाया जाए अथवा भारत में। मुकदमा सुनने वाले मजिस्ट्रेट ने कहा कि मुझे विश्वास है कि इस बात के काफी प्रमाण हैं कि मुकदमे की कार्रवाई इंग्लैंड में होनी चाहिए। परन्तु शाही न्यायपीठ खंड ने यह निश्चय किया कि मुकदमा चलाने के लिए उन्हें भारत भेजा जाना चाहिए। जब यह मामला अपील में गया तो मुख्य न्यायाधीश ने इस आधार पर अभियक्त को भारत भेजने के

पक्ष में निर्णय दिया कि सावरकर के भाषण, जिनके आधार पर उन पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया है, मराठी में थे। एक न्यायाधीश का विचार था कि भारत में मुकदमे की सुनवाई सम्भवतः एक विशेष न्यायाधिकरण में बिना जूरी के ही होगी; अतः इंग्लैंड में मुकदमा चलाना अभियुक्त के लिए लाभदायक रहेगा। फिर भी वह इस बात में मुख्य न्यायाधीश से सहमत था कि मुकदमा इसी देश में चलना चाहिए। सर रूफस इजाक्स (बाद में लार्ड रीडिंग) और एस० ए० टी० रॉलट, जिनके नाम भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं, अभियोजन पक्ष की ओर से पेश हुए। इस निर्णय के विरुद्ध अपील की गई, परन्तु वह खारिज हो गई।

तदनुसार, सावरकर को "मोरिया" जहाज द्वारा अपने देश को वापस भेजने की तैयारियां की जाने लगीं। जयकर ने लिखा है कि : "उन्हें रेल द्वारा केलेस से मार्सेल्स ले जाने का विचार इस डर से त्याग दिया गया कि कहीं सावरकर के साथी मार्ग में उनका अपहरण न कर लें। जहाज भारत के लिए रवाना हो गया और उसने मार्सेल्स बन्दरगाह से कुछ दूर लंगर डाल दिया। जयकर के अनुसार, यह 7 जुलाई, 1910 की बात है। सावरकर लगातार किसी प्रकार निकल भागने की बात सोच रहे थे। उन्होंने भाग निकलने के लिए 30 सें० मी० के एक गोल छेद से कूद कर अपना जीवन और भाग्य समुद्र को अर्पित करने का निश्चय किया, जब कि उनकी छाती 90 सें० मी० की थी। साहस के इस काम में वे सफल तो हो गये पर बुरी तरह से घायल हो गए। जब उनके निकल भागने का पता चला तो जहाज से उन पर गोलियों की वर्षा होने लगी। किसी भी क्षण उनकी मृत्यु हो सकती थी, फिर भी वे फ्रांस के तट की ओर तैरते जा रहे थे और यह सोच कर खुश हो रहे थे कि वे फिर स्वतंत्र हो गए हैं। परन्तु उनकी यह खुशी थोड़ी ही देर की थी।

लाला हरदयाल के जीवनी लेखक के अनुसार, "मोरिया" से 40 ब्रिटिश अधिकारी झपट कर बन्दरगाह पहुंचे और उन्होंने फ़्रांसीसी पुलिस अधिकारी को कुछ धन देकर चुप करा दिया तथा भागे हुए देशभक्त को पकड़ कर जबरदस्ती जहाज पर वापस ले आए।[4] सावरकर ने उस फांसीसी अधिकारी से उन्हें अंग्रेजों को न सौंपने का बहुत आग्रह किया, परन्तु उसने सुनी-अनसुनी कर दी। यह

4. वही पुस्तक, पृष्ट 136

बड़े दुःख की बात है कि मैडम कामा और वी० वी० एस० अय्यर को, जो अपने नेता को किसी सुरक्षित स्थान पर ले जाने के लिए कार लेकर आए थे और वहां से मुश्किल से 400 मीटर की दूरी पर प्रतीक्षा कर रहे थे, इस घटना का कुछ पता हीं न चला। "मोरिया" 9 जुलाई को फिर अपनी यात्रा पर चल पड़ा। सावरकर को पकड़ने वालों ने जब उनके साथ दुर्व्यवहार करने की कोशिश की तो उन्होंने उन्हें सख्त चेतावनी देते हुए कहा—"देखो, मैंने अपने जीवन को दांव पर लगा दिया है और मुझे इसकी रत्ती पर भी चिन्ता नहीं है। परन्तु तुम्हारे घर हैं, तुम्हारी पत्नियां हैं। याद रखो, तुम्हारी यातनाओं से पहले मैं एक-दो को जरूर मार दूंगा। मेरी चेतावनी पर ध्यान दो।" पर इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जब वे बम्बई पहुंचे, तो उनका स्वास्थ्य अच्छा न था।

सावरकर के मुकदमे ने, जो सितम्बर, 1910 में बम्बई हाई कोर्ट में शुरू हुआ, सारे विश्व का ध्यान आकर्षित कर लिया। क्रान्तिकारी और निर्भीक नेता के रूप में उनकी प्रसिद्धि, मातृ-भूमि के प्रति उनकी भक्ति, अंग्रेजों के चंगुल से उनका सनसनीखेज पलायन तथा उनके विरुद्ध की जाने वाली कानूनी कार्रवाई की वैधता में सन्देह आदि ऐसे कारण थे, जिनसे मुकदमे में इतनी व्यापक दिलचस्पी पैदा हुई। भारतीय दंड संहिता की अनेक धाराओं के अन्तर्गत उन पर षड़यंत्र के अपराध का आरोप लगाया गया। तीस अन्य व्यक्ति भी इसी अपराध में शामिल कर लिए गए। न्यायपीठ में मुख्य न्यायाधीश स्कॉट, सर नारायण चन्दावरकर और हिटन थे। अभियुक्त की ओर से जोसेफ बैपटिस्टा ने पैरवी की।

जो प्रश्न उठा वह यह था कि क्या किसी भी भारतीय या ब्रिटिश न्यायालय को, दूसरे देश से उन्हें जबरदस्ती पकड़ने के बाद, उनके विरुद्ध कानूनी कार्रवाई करने का अधिकार है। इसमें कोई सन्देह न था और न इस बात को चुनौती दी गई थी कि वे फ्रांस के राज्य क्षेत्र में पहुंच गए थे और उन्होंने एक फ्रांसीसी अधिकारी से शरण मांगी थी तथा "मोरिया" के ब्रिटिश अधिकारियों ने विदेशी भूमि पर लगभग 500 मीटर तक उनका पीछा करने के बाद उन्हें दुबारा गिरफ्तार किया था। परन्तु बम्बई हाई कोर्ट ने गिरफ्तार की वैधता या अवैधता अथवा शरण मांगने के अधिकार के अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न पर कोई निर्णय नहीं दिया। शुरू से ही यह स्पष्ट था कि मुकदमे का निर्णय कानून और न्याय के आधार पर न होकर विशुद्ध राजनीतिक आधार पर होगा।

सरकारी विचारधारा को प्रतिबिम्बित करने वाले "लन्दन टाइम्स" ने 7 अक्तूबर, 1910 के अपने अंक में लिखा कि इस अभियोग के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मुद्दे चाहे कितने ही महत्वपूर्ण हों, वे अभियुक्त के "वास्तविक अपराध" से पूर्णतया असम्बद्ध हैं। जैसा कि जयकर ने बताया है, ठीक यही तर्क बाद में मजिस्ट्रेट और बम्बई हाई कोर्ट ने स्वीकार किया परन्तु अंग्रेजों की इस ज्यादती से अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत को ठेस पहुंची। अथक क्रान्तिकारी मैडम कामा, लाला हरदयाल और एम० पी० टी० आचार्य ने फ्रांस में एक आन्दोलन शुरू किया तथा फ्रांस के नेताओं और सरकार से प्रार्थना की कि वे सावरकर की ओर से मध्यस्थता करें।

मार्सेल्स के समाजवादी महापौर जीन जोरेस ने, जो "लह्यूमेनिटी" के सम्पादक थे, 12 जुलाई को अपने पत्र में लिखा— "शरण-याचना के अधिकार को अत्यन्त गुप्त रूप से और घिनौने ढंग से कुचला गया।" इस बात पर जोर देते हुए कि इस मामले को दबाया नहीं जा सकता, फ्रांसीसी नेता ने घोषणा की कि "यदि यह मान भी लिया जाए कि मार्सेल्स के अधिकारियों ने सब कुछ अपने मन से ही किया, फिर भी यह कहना पड़ेगा कि एक राजनीतिक शरणार्थी को पकड़वा कर उन्होंने शरारत की है, जिसका जवाब निश्चय ही मांगा जाएगा और उसके बारे में सरकार की स्वीकृति आवश्यक है।" उस देश में लोकमत का दबाव इतना तगड़ा था कि फ्रांस की सरकार को ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना करनी पड़ी कि सावरकर के मुकदमे को तब तक रोक दिया जाए जब तक फ्रांस की भूमि पर उनके उतरने के बारे में पूरी रिपोर्ट न मिल जाए।

प्रबुद्ध ब्रिटिश समाचार पत्रों ने भी सावरकर का पक्ष लिया। अपने 3 अगस्त के अंक में "डेली मेल" ने लिखा कि उनके समर्पण की अवैधता "इतनी स्पष्ट है कि अब तक बचाव के लिए जो एक मात्र तर्क दिया गया है वह यही बताता है कि ब्रिटिश सरकार फ्रेंच पुलिसमैन की गलतियों के लिए जिम्मेदार नहीं हो सकती।" उसने बताया कि ऐसा तर्क सदोष है, क्योंकि पुलिसमैन की गलती और अपराध ब्रिटिश अधिकारियों के सहयोग के बिना नहीं हो सकते थे। पत्र ने यह भी लिखा कि "यदि हम स्वयं अपने कार्य की वैधता पर जोर देंगे तो भविष्य में यदि कोई ब्रिटिश पुलिसमैन गेरीबाल्डी या कौसुथ जैसे किसी शरणार्थी को किसी विदेशी सरकार को सौंप देगा तो हम विरोध नहीं कर सकेंगे। शरण पाने का अधिकार कानून द्वारा सुरक्षित रहने के बजाए नीचातिनीच पुलिस कांस्टेबल की दया,

स्वेच्छा अथवा रिश्वत पर निर्भर रहेगा।" सावरकर के पक्ष का इससे अच्छा समर्थन नहीं किया जा सकता था। सुप्रसिद्ध ब्रिटिश समाजवादी नेता जेम्स कीर हार्डी तथा अनेक यूरोपीय राजनयिकों ने मांग की कि सावरकर के साथ अच्छा व्यवहार किया जाए। कोपनहेगन में अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस ने उन्हे रिहा करने का अनुरोध किया।

परन्तु ब्रिटिश सरकार तो पहले ही निश्चय कर चुकी थी। शरण के अधिकार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और नैतिकता, व्यक्ति की स्वतन्त्रता और मानव के गौरव की पवित्रता तभी तक मानी जाती थी, जब तक वह साम्राज्यवादी हितों को प्रभावित नहीं करती थी। सावरकर एक खतरनाक शत्रु था; इसलिए यह सोचा भी नहीं जा सकता था कि उसके साथ न्याय किया जाएगा और छोड़ दिया जाएगा। ब्रिटिश और फ्रांसीसी सरकारों द्वारा "शरण" के मामले को हेग स्थित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को भेजा जाना औपचारिकता मात्र था। मूल प्रश्न को टालते हुए, न्यायालय ने घोषणा की कि "सावरकर की गिरफ्तारी और ब्रिटिश अधिकारियों को समर्पण तथा उनका भारत भेजा जाना ऐसी चीजें नहीं हैं जिनसे फ्रांस की सम्प्रभुता भंग होती हो।" उदार ब्रिटिश पत्रों ने असन्दिग्ध रूप से इस निर्णय की निन्दा की। "डेली न्यूज" ने लिखा : "यह फैसला शरणाधिकार की सीमा को बहुत संकुचित करता है। इस फैसले के अनुसार तो यह मानना होगा कि यदि क्रोपोटकिन नामक राजकुमार को रूसी एजेन्ट ब्रिटिश पुलिस के साथ सांठ-गाठ करके और ब्रिटिश सरकार की जानकारी या स्वीकृति के बिना, अपहरण करके ले जाएं तो उसे वापस कराने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई नियम लागू नहीं हो सकेगा।[5]

ब्रिटिश सरकार और भारत के न्यायालय सावरकर को शीघ्र दोषी सिद्ध कर देना चाहते थे। उन्होंने हेग के फैसले की भी प्रतीक्षा नहीं की। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा फैसला सुनाए जाने से पहले वे दो बार दोषी सिद्ध किए जा चुके थे। उन्हें आजीवन निर्वासन की सजा सुनाई गई और अंदमान भेज

5. राजकुमार पीटर एलेक्जीविच क्रोपोटकिन (दिसंबर 1842–1921) एक रूसी भूगोल-वेत्ता, लेखक और क्रान्तिकारी था। अन्त में वह अराजकतावादी हो गया और शून्य-वाद का प्रचार करने लगा। वह यूरोप में कई बार गिरफ्तार हुआ और छिप कर इंग्लैंड चला गया, जहां वह 1883 से 1917 तक रहा। उसके बाद वह रूस लौट गया।

दिया गया। जब सजा की कठोरता से जेलर द्रवित हुआ तो उन्होंने बड़े सरल-भाव से कहां "चिन्ता की क्या बात है ? क्या भारत में ब्रिटिश सरकार मुझसे बाद तक रह सकेगी ?" वह नहीं रही, क्योंकि इस महान देशभक्त ने, जो क्रान्तिकारी आन्दोलन के अग्रदूतों में से एक था, अपने जीवन में ही अपनी मातृ-भूमि को विदेशी दासता से मुक्त हुआ देख लिया। उनकी मृत्यु 1966 में हुई ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब तक क्रान्तिकारी आन्दोलन रहा, तब तक नौकर-शाही बहुत परेशान रही। परन्तु शनैः शनैः उसकी तेजी कम होती गई। आन्दोलन के ठंडा पड़ने का कारण सरकारी भय न था, क्योंकि उसका तो देशभक्तों पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता था, बल्कि महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए जन-आन्दोलन का प्रभाव था। महात्मा गांधी के अहिंसा सिद्धांत में सच्ची निष्ठा रखने वाले बहुत कम थे। परन्तु बहुत से लोग, जिनमें कुछ क्रान्तिकारी भी थे यह मानते थे कि वे अपनी नई विधि से सफलता प्राप्त कर लेंगे। परन्तु आमूल परिवर्तनवादियों में सदा ही एक वर्ग ऐसा था, जो यह विश्वास करता था कि अंग्रेज केवल शक्ति के तर्क के सामने ही झुक सकते हैं। जयकर ने 1924 में बंगाल सरकार के सख्ती से प्रान्त का शासन करने के प्रयत्नों की ओर ध्यान आक-र्षित किया है। उसने सुभाषचन्द्र बोस सहित लगभग 80 नवयुवकों को गिरफ्-तार कर लिया था। सुभाषचन्द्र बोस उस समय कलकत्ता नगर निगम के मुख्य अधिशासी अधिकारी थे ।

इनमें से अधिकांश युवक, जिनमें बोस भी थे, सी० आर० दास से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे। सी० आर० दास ने उनका पक्ष लिया। नौकरशाही और यूरोपीय समुदाय ने यह आरोप लगाकर उनके विरुद्ध अभियान चला दिया कि वे गुप्त रूप से राजनीतिक हत्याओं में योग देते हैं। उन्होंने इन आरोपों का दृढ़ता से प्रतिवाद किया। 29 मार्च, 1925 को जारी किए गए एक घोषणापत्र में उन्होंने स्पष्ट किया कि वे तथा स्वराजपार्टी जिसके वे नेता थे, दोनों ही किसी भी प्रकार की हिंसा से घृणा करते थे। साथ ही उन्होंने बंगाल के नवयुवकों से अपील की कि "स्वराज्य के लिए लड़ो, पर शुद्ध रहो। हमारे उद्देश्य पर धब्बा नहीं लगना चाहिए ।[6]

---

[6]. जयकर ने भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन का वर्णन अपनी आत्मकथा " द स्टोरी आफ माई लाइफ" के दो प्रकाशित भागों में किया है : भाग 1, पृ० 45–47; 104–119; भाग 2, पृ० 569–573

अध्याय 5

आदर्श

जयकर ने 1905 के मध्य में वकालत आरंभ की। परंतु उनकी अपरिमित कर्म-शक्ति तथा व्यापक रुचियों को प्रकट होने के लिए कई निर्गमों की आवश्यकता थी। वे महादेव गोविंद रानडे, गोपाल कृष्ण गोखले और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को, जो उनके साथी भी थे, अपना आदर्श मान कर, राजनीति, शिक्षा और समाज सेवा द्वारा अपनी मातृभूमि की सेवा करना चाहते थे। वे मामलों का अध्ययन बड़ी सावधानी से करते थे तथा भारतीय एवं ब्रिटिश जीवन के तुलनात्मक अध्ययन से उन्हें विश्वास हो गया था कि राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान संयम से ही हो सकता है। जब वे इंग्लैंड में पढ़ते थे तो उन्होंने उन गुणों की परख की थी, जिन्होंने अंग्रेजों को गौरव के शिखर पर पहुंचाया था। उन्होंने अपनी डायरी में लिखा "कुल मिलाकर मैं देखता हूं कि इंग्लैंड में जो थोड़े से वर्ष मैंने बिताए हैं, वे अत्यधिक महत्वपूर्ण रहे हैं। इन दोनों राष्ट्रों (इंग्लैंड और भारत) के बीच अंतर बहुत बड़ा और विविध प्रकार का तथा कई गुना है। एक राष्ट्र (इंग्लैंड) जो स्वतंत्र है और जिसने यह वरदान शताब्दियों तक सतत् संघर्ष के परिणाम स्वरूप प्राप्त किया है और दूसरा राष्ट्र (भारत) जिसमें राष्ट्रीय एकता की हल्की सी धड़कन अभी शुरू ही हुई है। यह अन्तर्ज्ञान मेरे मस्तिष्क पर उतरता जा रहा है और मेरे जीवन के आरम्भिक दिनों की वेगपूर्ण क्रांतिकारी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाता है।"

उनके विचार से अंग्रेजों में दबंगपन उनकी नियम-प्रियता, उनकी प्रखर देशभक्ति तथा शांतिपूर्वक काम करने और जब तक जीवन रहे, तब तक उसका अच्छे से अच्छा उपयोग करने की इच्छा के कारण आया था। वे भारत में विदेशी शासन प्रणाली को उखाड़ फेंकना निरर्थक समझते थे। इसके अलावा, उनका देश स्वयं अपनी महानता का युग देख चुका था, अपनी वर्तमान सामाजिक दुर्बलताओं को दूर कर वह पुन: अपने पूर्व-गौरव को प्राप्त कर सकता था। उन्होंने अपनी डायरी में लिखा, "भारत में हम अत्यंत सांप्रदायिक हैं, हमारे उचित-अनुचित के विचार सांप्रदायिक हैं, हमारा सौंदर्य शास्त्र सांप्रदायिक है, सामाजिक जीवन में हम मुख्य रूप से मिथ्या आत्म दमन के लिए चिंतित

रहते हैं और चूंकि हमारे सुख-दुख सामाजिक जीवन के सांप्रदायिक विचारों पर टिके हुए हैं, इसलिए उनकी ताजगी, विस्तार एवं तीव्रता घटती जा रही है।"

भारतीयों के लिए यह आवश्यक था कि वे परंपरागत विश्वासों और प्रथाओं के जाल से बाहर निकलें और आधुनिक संसार में निर्भयता से विचरण करें। देश के लिए राजनीतिक स्वाधीनता आवश्यक थी, क्योंकि उसके बिना कोई भी लाभदायक काम नहीं हो सकता था। परंतु जब तक भारतीय समुचित रूप से सुसज्जित न हो जाएं, तब तक उन्हें उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। क्रमिकता पराजयवाद का सिद्धांत नहीं थी, बल्कि भारत की मौजूदा परिस्थितियों में यह व्यावहारिक आवश्यकता थी।

जयकर का राजनीतिक दर्शन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापकों तथा उनके उत्तरवर्तियों के दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित था, परंतु वे इस बात पर विशेष बल देते थे कि क्रमिकता का अर्थ निश्चलता न समझा जाए। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, भारत में राजनैतिक जागृति 'राज' के विस्तार से अधिक तेज थी। यह सच है कि पूर्ण आत्म-निर्णय केवल एक दूर का सपना था, किंतु अपने देश के प्रशासन में भारतीयों के भाग लेने की मांग वास्तविक थी और बढ़ती जा रही थी। इस मांग को स्वर देने वाला प्रमुख संगठन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस था, जिसकी स्थापना 1885 में हुई थी। परंतु इस किस्म के अनेक प्रांतीय संगठन कई दशाब्दियां पहले बन चुके थे। उदाहरणार्थ, ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन की स्थापना बंगाल में 1851 में हो चुकी थी जिसके तत्वावधान में डा० राजेंद्रलाल मित्र और रामगोपाल घोष जैसे नेताओं ने काफी उपयोगी सार्वजनिक कार्य किया। पश्चिमी भारत में इसी प्रकार का एक संगठन बंबई एसोसिएशन था, जिसके संदेश का प्रचार दादाभाई नौरोजी और जगन्नाथ शंकरसेट ने बड़ी तत्परता से किया। इसमें सर मंगलदास नाथूभाई और नौरोजी फरदनजी सदृश महारथी शामिल थे। परंतु गत शताब्दी के आठवें दशक में इसका स्थान ईस्ट इंडिया एसोसिएशन ने ले लिया।

पुणे में रानडे द्वारा स्थापित सार्वजनिक सभा का प्रभाव काफी बढ़ गया और उसमें महाराष्ट्र के कई राजनीतिविद् बुद्धिजीवी शामिल हो गए। यह संस्था जब लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में आई, तो विकसित होकर एक गतिशील संस्था बन गई। दक्षिण में, मद्रास के 'हिंदू' ने लोगों में राजनीतिक

चेतना जागृत करने में प्रमुख भूमिका अदा की । मद्रास महाजन सभा 1881 में स्थापित हुई और उसने अपने उद्देश्यों तथा लक्ष्यों के प्रचार के लिए अपने तत्वावधान में एक प्रांतीय सम्मेलन किया । ऐसे संगठनों की आवश्यकता थी, परंतु वे कांग्रेस जैसी केंद्रीय संस्था का स्थान नहीं ले सकते थे । कांग्रेस वैध रूप से समस्त देश के प्रतिनिधित्व का दावा कर सकती थी ।

अधिकतर शिक्षित भारतीय अपने राष्ट्रीय मामलों पर पूर्ण नियंत्रण करने की जल्दी में न थे । वे केवल यही चाहते थे कि इस दिशा में शुरुआत हो जाए । परंतु उनके तर्क ने साम्राज्यवादियों को आतंकित ही नहीं, क्रुद्ध भी कर दिया। भारतीयों की मांग चाहे कितनी ही सामान्य और युक्तिसंगत थी, वे उसे पन्नी की पतली नोक समझते थे । वे जानते थे कि यदि आत्म निर्णय के अधिकार की दिशा में कोई कदम उठाया गया, तो उसकी अंतिम परिणति उसकी प्राप्ति में होगी । ब्रिटिश शासक वर्ग के लिए, जो 'व्यवस्था' कहलाता था, इसकी कल्पना उतनी ही दुखदाई थी, जितना मृत्यु से प्रिय का वियोग दुखदाई होता है। उनके लिए उनका साम्राज्य परमात्मा था, सुविधा नहीं। उनकी दृष्टि में भारतीय घृणित जीव थे, सिवाय इसके कि वे आदर्श नौकर बन सकते थे ।

जयकर ने लिखा है कि जब वे इंग्लैंड में एक अंग्रेज के घर गए और उनका एक दूसरे अतिथि से, जो इस देश में रह चुका था, परिचय कराया गया तो उनका किस प्रकार अभिनन्दन किया गया । अतिथि ने कहा––"अच्छा, आप भारत से आ रहे हैं, नौकरों का कितना सुन्दर देश है ?" उन्होंने आगे लिखा है कि मेजबान ने अपनी सहमति प्रकट करते हुए कहा, "अहा ! भारतीय नौकर ! कितने आज्ञापालक, कितने भोले-भाले, कितने स्वामिभक्त और कितने स्वल्पसन्तुष्ट !"

अंग्रेजों की राजनीतिक कट्टरता को छद्मपूर्वक छिपाने के लिए भारत की अयोग्यता की कहानी गढ़ी गई और उसका परिश्रमपूर्वक प्रचार किया गया। भारतीयों को चिढ़ाने के लिए उन्हें हब्शी कहा जाता था, ऐसी नीच जाति के लोग जो अपने ऊपर शासन करना कभी सीख ही नहीं सकते । भारत के वाइसराय पद से सेवा-निवृत्त होते समय 16 नवम्बर, 1905 को कर्जन ने बम्बई में कहा था, "मैं अपने अन्तःकरण को टटोलता हूं और मैं अपने आप से पूछता हूं कि भारतीय लोग कौन और क्या हैं ?" ऐसा था रवैया ब्रिटिश राजनेताओं का भारत के प्रति, फिर भी कांग्रेस के अधिकतर नेता अंग्रेजों के प्रति अपनी स्वामि-

भक्ति से विचलित न होते थे। रानडे उनमें से एक थे। वे रोबीली चाल-ढाल के व्यक्ति थे। उनके व्यक्तिगत सदाचार, उनकी अपरिमित विद्वत्ता तथा ब्रिटिश राज की संरक्षकता में भारतीय पुनर्जागरण की अनिवार्यता में उनकी अविचल निष्ठा ने उन्हें अपने समसामयिकों में लगभग अद्वितीय पद पर विराजमान कर दिया था। लोनावला में रानडे का ग्रीष्म-गृह था जहां वे अक्सर जाया करते थे। उन अवसरों पर वे जयकर के नाना कीर्तिकर से मिला करते थे और उनके साथ देश की राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं पर विचार किया करते थे। जयकर ने लिखा है : "हम सभी उन्हें भय और आदर की भावना से देखते थे, यह भावना उनकी बौद्धिक श्रेष्ठता के साथ-साथ उनकी शारीरिक आकृति की भव्यता से पैदा हुई थी।"

रानडे यथार्थवादी थे। वे मराठा साम्राज्य के अन्त के लगभग दो दशाब्दी बाद पैदा हुए थे और उन्होंने उसके पतन के कारणों एवं तरीकों के बारे में आंखों देखा हाल अपने बड़े-बूढ़ों से सुन रखा था। अंग्रेज जिन्होंने उसका स्थान लिया, अभी पश्चिमी भारत में अपना शासन सुदृढ़ करने में लगे हुए थे। उन्होंने सर्वथा नई शासन प्रणाली और नई संस्थाए शुरू की थीं, जिनसे ऐसा लगता था कि जनता का हित संवर्धन हो सकेगा। अध्ययन के लिए बम्बई रहने से उनकी आंखें खुल गई होंगी। जब पुणे में पेशवा का शासन था, तब भी इस द्वीप के भारतीय निवासियों ने ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार का दिल खोलकर समर्थन किया था। जसा कि हम पहले देख चुके हैं, अगाध विद्वत्ता और सार्वजनिक सेवा के कारण बाल गंगाधर शास्त्री जम्भीकर की बहुत प्रतिष्ठा थी। उनके अनुयायियों में दादाभाई नौरोजी, भाऊ दाजी लाड, केरो लक्ष्मण छत्रे और नाना मोरोजी त्रिलोकेकर थे, जो सभी रानडे से बड़े थे। उस समय के एक और महाराष्ट्रीय प्रकाशपुंज गोपालराव हरि देशमुख थे, जो 'लोकहितवादी' कहे जाते थे। वे रानडे से 18 वर्ष बड़े थे और ऊंचे-ऊंचे पदों पर रह चुके थे, जिनमें रतलाम के देशी राज्य के दीवान का पद भी शामिल था। वे गुजरात और महाराष्ट्र के अनेक भागों में सेवा कर चुके थे।

इस प्रकार रानडे के समय में तथा उससे पहले भी शिक्षित वर्ग के अधिकांश लोगों का अंग्रेजों के साथ सहयोग लोकप्रिय हो गया था। यद्यपि यथार्थवाद और आवश्यकता ऐसा मार्ग अपनाने को बाध्य करती थी, फिर भी उन्होंने भारत-विषयक अपनी कल्पना को कभी किसी प्रकार धूमिल नहीं होने दिया। उन्होंने यह घोषणा की "मैं अपने मत की दो धाराओं में अविचल निष्ठा रखता हूं। हमारा

यह देश आशा और विश्वास का सच्चा देश है। हमारी यह जाति अमर जाति है। परमात्मा ने व्यर्थ ही आर्यवर्त की इस प्राचीन भूमि पर अपने श्रेष्ठतम वरदानों की वर्षा नहीं की। इतिहास में हम उसके वरद हस्त का प्रमाण देख सकते हैं।"

उन्होंने अपने राजनीतिक दर्शन की व्याख्या इन स्पष्ट शब्दों में की, "उदारवाद में जातिगत और धर्मगत पूर्वाग्रहों से मुक्ति तथा उन सभी के प्रति दृढ़ भक्ति अंतर्निहित है जिनसे मनुष्य-मनुष्य के मध्य न्याय को प्रोत्साहन मिलता है। वह शासकों को ऐसी स्वामिभक्ति दिलाता है जो उस कानून के अनुसार उन्हें मिलनी चाहिए, जिसे वे क्रियान्वित करते हैं तथा साथ ही प्रजा को वह समानता दिलाता है जो कानूनन उसका अधिकार है। उदारता का अर्थ कभी भी असंभव या दूरस्थ के पीछे व्यर्थ दौड़ना नहीं है, अपितु इसका अर्थ है उस काम को, जो हमारे हाथ के बिलकुल नजदीक है, समझौते और ईमानदारी की भावना से करते हुए, स्वाभाविक विकास के क्रम में प्रतिदिन अगला कदम उठाने का प्रयत्न करना।" यही दर्शन रानडे के सबसे बड़े शिष्य गोखले की राजनीति का आधार बना।

पुणे में रानडे की 101वीं सालगिरह के अवसर पर एक ज्ञानप्रद भाषण देते हुए डा० बी आर० अंबेडकर ने, जिन्होंने संविधान सभा में स्वतंत्र भारत के संविधान को प्रस्तुत किया था, कहा कि रानडे के उदारवाद का औचित्य इस बात में था कि ब्रिटिश शासन ने, भारतीयों को अपने सामाजिक और आर्थिक जीवन में आवश्यक परिवर्तन करने तथा इस प्रकार अपने आप को स्वतंत्र राष्ट्र की जिम्मेदारियों के लिए तैयार करने के वास्ते अमूल्य अवसर प्रदान किए थे। रानडे सामाजिक सुधार में विश्वास करते थे तथा अपने देशवासियों से कहते थे कि वे अपनी कमजोरियों को दूर करें, ताकि वे अपनी पहली महानता को पुनः प्राप्त कर सकें। उनका कहना था कि "जब तक हम पुनर्नवीन, परिशुद्ध एवं परिपूर्ण न बनेंगे, तब तक हम वैसे बनने की आशा कभी नहीं कर सकते जैसे हमारे पूर्वज महान् थे, जिनके सामने बड़े-बड़े काम आए और जिन्होंने बड़े-बड़े काम किए।"

रानडे निःसंदेह एक महान् व्यक्ति थे और सभी निष्पक्ष व्यक्ति, जिनमें अनेक अंग्रेज भी थे उन्हें महान् कहते थे। महात्मा गांधी उनका बड़ा आदर करते थे। उन्होंने कहा है कि "उनके सामने तो मैं बातचीत भी नहीं कर सकता था।" गोखले, जिन्होंने उन्हें अपना आदर्श मान लिया था, जब उनके विषय में बात करते

थे तो आनंदविभोर हो जाते थे। उनके अनुसार, रानडे "उन व्यक्तियों में थे, जो दुर्बल और संवेदनशील मानव जाति के कदमों को रास्ता दिखाने के लिए प्रकाश के रूप में विभिन्न देशों और विभिन्न अवसरों पर कभी-कभी अवतीर्ण होते हैं।" राइट आनरेबल वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री का कहना था कि "रानडे का शरीर और दिमाग एक बड़े ढांचे में ढला था। वे असाधारण गुणों से सम्पन्न थे। उनका अध्ययन विस्तार और गहराई में सामान्य से बहुत अधिक था।" शास्त्री अपने समय के सबसे बड़े व्याख्यानदाताओं में गिने जाते थे। दिसंबर 1898 में मद्रास में रानडे का व्याख्यान सुनने के बाद अपने उद्‌गार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा, "मैं सोच रहा था कि मैं किसी लोकोत्तर जीव का भाषण सुन रहा हूं ऐसे ज्ञान से देदीप्यमान, जो उन्हीं का एक भाग मालूम पड़ता था और जो अत्यंत सरलता से, अत्यंत स्वाभाविकता से तथा अत्यंत आडंबरहीनता से मेरे अंदर भरता जा रहा था।[1] इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जयकर जो युवासुलभ उत्साह से भरे हुए थे तथा नए विचारों और आदर्शों से ओतप्रोत थे, इस महापुरुष की उपस्थिति में आनंदविभोर हो जाते थे।

गोखले के साथ जयकर के संबंध भिन्न प्रकार के थे। यदि रानडे हिमालय के समान विशाल और ऊंचे थे, तो गोखले गंगा नदी के समान थे, जो अपने शीतल जल में स्नान करने के लिए बुलाती थी। गोखले ने 1905 में सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसाइटी (भारत सेवक समाज) की स्थापना की, जिसके आदर्श रानडे के राजनीतिक सिद्धांतों के अनुरूप थे। सोसाइटी के संविधान की भूमिका में लिखा था— "सार्वजनिक जीवन को अध्यात्मवाद की ओर मोड़ना चाहिए। देश-प्रेम हृदय में इस प्रकार भर जाना चाहिए कि उसके सामने सब कुछ तुच्छ प्रतीत हो। प्रखर देशभक्ति, जो मातृभूमि के लिए त्याग के प्रत्येक अवसर पर आनंद प्रदान करती है, निर्भीक हृदय, जो कठिनाई और संकट आने पर अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता, परमात्मा के विधान में अगाध निष्ठा, जिसे कोई डिगा नहीं सकता— इन गुणों से सुसज्जित होकर कार्यकर्ता को अपना कार्य शुरू करना चाहिए तथा श्रद्धापूर्वक उस आनंद को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, जो अपने देश की सेवा में अपने आप को बलिदान करने से प्राप्त होता है।"

1. पी० कोदंड राव लिखित दी राइट आनरेबल वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री : ए पोलिटिकल बायोग्राफी, एशिया, 1963 पृ० 413–14

गोखले अपनी सोसायटी को राष्ट्रीय सेवा के लिए समर्पित तेजस्वी व्यक्तियों का केंद्र बनाना चाहते थे। जयकर ने 23 मई, 1905 को अपनी डायरी में लिखा–"प्रातः जब मैं गोखले से मिला तो उन्होंने राष्ट्र निर्माण के श्रेष्ठ कार्य में मेरे शामिल होने के बारे में एक स्पष्ट प्रस्ताव मेरे सामने रखा। इस बात का विश्वास हो जाने पर कि सरकार अपनी समस्त शक्तियों को हिंसक संघर्ष के लिए समन्वित और तैयार कर रही है, गोखले अब अपनी देख-रेख और नियंत्रण में 'सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसाइटी' नाम की एक संस्था बनाने का विचार कर रहे हैं। इस सोसाइटी का बैज है—'पूर्ण आत्मसमर्पण' और लक्ष्य होगा—भारत की ऐतिहासिक-आर्थिक समस्याओं का अध्ययन तथा जीवन के एकमात्र कार्य के रूप में संवैधानिक आंदोलन चलाना। पुणे को मुख्यालय बनाया जाएगा तथा सोसाइटी का काम वैसे ही एकनिष्ठता से किया जाएगा, जैसी एकनिष्ठता से 'जीसस' की सुप्रसिद्ध सोसाइटी का काम किया जाता था।"

परंतु जयकर, देश-सेवा की प्रबल इच्छा होते हुए भी, गोखले के इस प्रस्ताव को न मान सके, क्योंकि "उसका अपेक्षित मूल्य था—अन्य प्रत्येक कार्य का पूर्ण त्याग।" वे यह तो समझते थे कि प्रस्तावित सोसाइटी में शामिल होने से उन्हें देश-सेवा के अगणित अवसर प्राप्त होंगे, परंतु वे विद्या व्यसनी थे और पुस्तकें पढ़ना पसंद करते थे, जबकि गोखले ने उनसे यह कह दिया कि केवल विद्या के व्यसन से अधिक महत्वपूर्ण जनता का अध्ययन और जनता की सेवा है। उस महापुरुष को नकारात्मक उत्तर देने में उन्हें बहुत मानसिक क्लेश हुआ। गोखले को पत्र लिखकर उन्होंने प्रार्थना की कि वे उनकी स्थिति को सहानुभूति के साथ समझने की कोशिश करें। उन्होंने यह आशा भी प्रकट की कि गोखले 'अभिशप्त की भांति मेरा त्याग न करें तथा अपने और अपने श्रेष्ठ कार्य के संपर्क से मुझे वंचित न करें।"

यद्यपि जयकर सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसाइटी में शामिल नहीं हुए, फिर भी 1915 में उसके संस्थापक की असामयिक मृत्यु तक वे उनके निकट संपर्क में रहे। वस्तुतः गोखले से अलग रहना किसी भी देशभक्त के लिए असंभव था। उनका व्यक्तित्व दैदीप्यमान था। उनके अगाध देश-प्रेम तथा देश-सेवा के प्रति समर्पण की भावना के कारण, अत्यधिक भिन्न व्यक्तित्व वाले लोग भी उनकी ओर खिंचे चले आते थे। यदि हम यह समझ लें कि महात्मा गांधी और

मोहम्मद अली जिन्ना जैसे इतिहास-निर्माता उन्हें अपना राजनीतिक गुरु मानते थे, तो हमें उनके व्यक्तित्व का कुछ आभास हो जाएगा ।

बिशप व्हाइटहैड ने गोखले को प्रतिभाशाली व्याख्यानदाता और असली राजनेता बताया है । गोखले ने अपनी राजनीतिक मान्यताओं का वर्णन इस प्रकार किया है "मैं अपनी मातृभूमि के लिए अपनी कामनाओं की कोई सीमा नहीं मानता। मैं चाहता हूं कि हमारे लोग अपने देश में वही हों, जो दूसरे लोग अपने देशों में होते हैं । मैं चाहता हूं कि हमारे पुरुषों और स्त्रियों को, जातिगत और धर्मगत भेदभाव के बिना, बंधनकारी एवं अस्वाभाविक प्रतिबंधों को हटाकर, पूर्ण विकास के अवसर दिए जाएं । मैं चाहता हूं कि भारत राजनीति, उद्योग, धर्म, साहित्य, विज्ञान और कला में संसार के महान् राष्ट्रों में अपना उचित स्थान प्राप्त करे । मैं यह सब कुछ चाहता हूं और साथ ही यह महसूस करता हूं कि मेरी ये सब कामनाएं तत्वतः और यथार्थ में इसी साम्राज्य में पूरी हो सकती हैं ।" बिशप व्हाइटहैड का विश्वास था कि गोखले के विचारों और मुनरो, एल्फिन्स्टन, मैकाले तथा रिपन जैसे भारत के महान् मित्रों के विचारों में तात्विक सादृश्य है ।[2]

तिलक गोखले की शांत राजनीति से बहुत अप्रसन्न थे । बम के सिद्धांत में तो उनका विश्वास न था, परंतु तलवार के सिद्धांत को त्यागने के लिए वे तैयार न थे । उनका विश्वास था कि अकेले संवैधानिक आंदोलन से भारत को दासता के बंधनों से मुक्त नहीं कराया जा सकता । उन्होंने कहा, "पूरी गंभीरता के साथ यह कहा जा सकता हैं कि गोखले जिसे भारत का संविधान कहते हैं, वह वास्तव में भारतीय दंड संहिता है ।"[3]

अपने घोषित उदारवाद के बावजूद अथवा कदाचित उसके कारण, गोखले का भारत और इंग्लैंड दोनों देशों में काफी सम्मान था । उनके महान् व्यक्तित्व से उनका उदारवाद आलोकित था । "एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका" में उनके विषय में लिखा है: "गोखले की प्रगाढ़ देशभक्ति, तथ्यों की मजबूत पकड़ और भारी परिश्रम ने उन्हें अपने समसामयिकों से बहुत ऊंचा उठा दिया तथा उनकी उदारता, उनकी एकरस शिष्टता और उनके उच्च व्यक्तिगत चरित्र से यह पता

2. राइट रेवरेंड हेनरी व्हाइटहैड लिखित "इंडियन प्रोबलम्स" पृ० 309
3. डी०वी० तहमनकर लिखित "लोकमान्य तिलक" जान मुरे, 1956 पृ० 128–129

चलता था कि वे असहयोगकाल के पहले के कांग्रेसी राजनीतिज्ञों के पुराने संप्रदाय के सबसे अंतिम और सबसे महान् राजनीतिज्ञों में से एक थे ।" जब यह सोचा जाता है कि उदारता के इस 'राजकुमार' का भी खुफिया विभाग के एजेंटों द्वारा पीछा किया जाता था, तो अंग्रेजों की भारत संबंधी नीति को क्या कहा जाए ?

अपनी शांति की राजनीति के कारण, गोखले देश को एकता के सूत्र में बांधनेवाली एक बड़ी शक्ति बन गए थे । 1915 में 49 वर्ष की ही आयु में उनकी मृत्यु एक राष्ट्रीय त्रासदी थी । प्रतिक्रियावादियों को भी देशभक्त बनाकर सार्वजनिक जीवन को ऊँचा उठाने की उनमें अद्भुत क्षमता थी । जिन्ना ने अपनी जीवन वृत्ति राष्ट्रवादी के रूप में शुरू की और अपने जीवन के अंतिम समय तक, जब तक अंग्रेजों ने उनके लिए एक नए भाग्य की खोज नहीं की, वे राष्ट्रवादी ही रहे । महात्मा गांधी ने खुले तौर पर यह कहा कि वे गोखले के बहुत ऋणी थे । यदि गोखले अधिक दिन जीवित रहते तो क्या महात्माजी असहयोग का और जिन्ना पृथकता का मार्ग अपना सकते थे ? इतिहास के ऐसे 'यदि' की कल्पना बड़ी रोचक है, परंतु उसका वास्तविक मूल्य कुछ नहीं है ।

महाराष्ट्र के तीनों नेताओं—रानडे, गोखले और तिलक में, जिन्हें जयकर अपना गुरु समझते थे, तिलक के वे सबसे अधिक निकट थे । इसका एक कारण यह था कि तिलक अन्य दो से अधिक जीवित रहे । गोखले की तरह तिलक भी इस नवयुवक की विद्वता और देशभक्ति से प्रभावित थे और इसे वे अपनी ओर खींचना चाहते थे । यद्यपि जयकर पूर्णतया उनसे सहमत न थे, फिर भी दोनों में काफी समानता थी, विशेष रूप से विद्वता के क्षेत्र में तिलक वीर पुरुष थे । उनकी विद्वता में वीरता का सम्मिश्रण था । उन्होंने यह घोषित किया था कि "स्वराज्य" मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा । वे अव्यवस्थित आतंकवाद को निरर्थक समझते थे, परंतु यदि अंग्रेजों के विरुद्ध खुला युद्ध होता तो वे खुशी-खुशी तलवार खींच सकते थे ।

उन्होंने शिवाजी को आदर्श वीर के रूप में लोगों के सामने पेश किया, सांप्रदायिक विद्वेष फैलाने के लिए नहीं, जैसाकि उनके शत्रु बताते थे, बल्कि उनमें निर्भीकता की भावना भरने के लिए । उन्होंने गजानन गणपति देव के त्यौहार को लोकप्रिय बनाया, ताकि देशवासियों की सोई हुई शक्तियां उनकी महान् एवं गौरवपूर्ण सभ्यता पर विद्वानों के

5—262 M. of I & B/ND/82

व्याख्यानों द्वारा, जागृत की जा सकें। सांस्कृतिक और राजनीतिक महत्व के उनके राजनीतिक त्यौहारों में मुस्लिम खुलकर भाग लेते थे तथा उनके नेता उन्हें अपना मित्र मानते थे।[4]

परंतु अंग्रेज और उनके अपराधों पर लीपापोती करनेवाले आंग्ल-भारतीय समाचार पत्र तिलक को अपना दुर्दान्त शत्रु समझते थे। उन्हें पहली बातें याद थीं और यह नहीं भूले थे कि मराठा ही उनके सबसे अधिक कट्टर शत्रु थे। विशेष रूप से चित्तपावन ब्राह्मणों के प्रति उनकी घृणा मूर्खता के शिखर पर पहुँच गई थी। 1857 के विद्रोह के तुरंत बाद, बंबई के गवर्नर सर बार्टिल फ्रेरे ने भारत-मंत्री को चेतावनी दी कि मराठा ब्राह्मणों को ब्रिटिश राज के साथ झगड़ा मिटाने में बहुत दिन लगेंगे। बंबई के एक और गवर्नर सर रिचर्ड टेंपिल भी, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, भारतीय इतिहास को पढ़ने के बाद इस बात से उतना ही आश्वस्त हो गया था कि चित्तपावन ब्राह्मण अंग्रेजों के प्रति 'स्वभावतः गैर-वफादार'' हैं।

टेंपिल यह नहीं बता सका कि यदि भारतीय अपनी विरासत पर गर्व करते हैं तो क्या गलती करते हैं? क्या उसने स्वयं पहले चार पेशवाओं की प्रशंसा नहीं की थी? उनमें से एक, माधवराव की महानता का मूल्यांकन करते हुए उसने लिखा था: "वास्तव में एक, आदर्श नरेश के रूप में तथा हिंदू राष्ट्र द्वारा पैदा किए गए एक श्रेष्ठतम चरित्र वाले व्यक्ति के रूप में उनका सदा आदर किया जाना चाहिए।"[5]

तिलक भी चित्तपावन थे और अपने दो प्रमुख समकालीनों की भांति ही संवैधानिक प्रगति में विश्वास रखते थे। साथ ही, उनकी यह मान्यता थी कि प्रार्थना और याचना की राजनीति सर्वथा निरर्थक है, इसलिए अंग्रेजों की कभी न झुकने वाली नीति का मुकाबला करने के लिए उन्होंने संघर्ष और युद्ध का उपदेश दिया तथा उसी के अनुसार चले। यही कारण था कि उन्हें बदनाम किया गया तथा असाधारण निर्ममता के साथ पीड़ित किया गया।

---

4. रामगोपाल द्वारा लिखित "लोकमान्य तिलक : ए बायोग्राफी", एशिया 1956, पृ० 88, 89, 90, 215, 237

5. सर रिचर्ड टेंपिल द्वारा लिखित "ओरियेंटल एक्सपीरियेंसिस" पृ० 396

राष्ट्रीय महत्व के सभी प्रश्नों पर लोकमान्य दूरदर्शिता से विचार करते थे। जयकर को खींच कर सार्वजनिक जीवन के विस्तृत क्षेत्र में लाने का अंशतः श्रेय उन्हीं को है। मई 1917 में उन्होंने नासिक में जयकर की अध्यक्षता में आयोजित महाराष्ट्र समाजवादी सम्मेलन में भाग लिया था। जयकर ने अपने अध्यक्षीय भाषण में हिंदू समाज पर अत्यंत प्रगतिशील विचार प्रकट किए थे, जिनका लोकमान्य ने दिल खोल कर समर्थन किया था। जयकर ने लिखा है : "बाद में तिलक के साथ बातचीत में मुझे पता चला कि वे मेरे विचारों से पूर्णतया सहमत थे और उनकी व्यक्त सहमति के कारण ही पश्चिमी भारत के अनुदारवादी समाचार पत्रों ने भी मेरे भाषण की प्रशंसा की तथा उसे प्रसन्नतापूर्वक छापा।"

निःसंदेह जयकर तिलक की राजनीति से प्रभावित थे। दोनों इस बात पर सहमत थे कि मांटेग्यू की अगस्त 1917 की प्रसिद्ध घोषणा में संवैधानिक सुधारों की जिस योजना का वायदा किया गया है, उसे ईमानदारी से आजमा कर देखा जाए। तिलक इस बात के लिए उत्सुक थे कि जयकर को, जो नई पीढ़ी के प्रतिनिधि थे, अपने विचार प्रकट करने के लिए अधिक अवसर मिलने चाहिए। इसलिए उन्होंने लोनावला में आयोजित पूना जिला सम्मेलन की अध्यक्षता स्वीकार करने के लिए जयकर को मना लिया। पहले तो जयकर इस जिम्मेदारी को लेने के लिए अनिच्छुक थे, परंतु बाद में लोकमान्य के मनाने से वे मान गए। वे लिखते हैं :— "तिलक के अनुरोध में ऐसा जादू था, कि 'न' कहना मेरे लिए असंभव हो गया और मैंने इस सम्मेलन का अध्यक्ष बनना स्वीकार कर लिया।" सम्मेलन 26 जनवरी, 1918 को हुआ और उसमें अच्छी उपस्थिति रही।

जयकर के राजनीतिक विश्वासों पर एक दूसरे अध्याय में विचार किया जाएगा। प्रस्तावित सुधारों को कार्यान्वित करने के लिए सरकार के साथ सहयोग का समर्थन करने के वास्ते जयकर को तिलक ने ही प्रोत्साहित किया था। यह तथ्य इस बात का असंदिग्ध प्रमाण है कि लोकमान्य तत्वतः शांतिप्रिय व्यक्ति थे, और संवैधानिक ढंग से अपने देश को विदेशी दासता से मुक्त हुआ देखना चाहते थे। परंतु उन्हें संवैधानिक ढंग की सीमाओं के बारे में कोई भ्रम न था, इसलिए सीधी कार्रवाई का मार्ग अपनाने में भी उन्हें कोई झिझक न थी। वे राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए युवा क्रांतिकारियों के उत्साह की तो प्रशंसा करते थे, परंतु नौकरशाही के लोगों पर हमला करने का उनका क्रांतिकारी तरीका उन्हें नापसंद था

सावरकर को श्यामजी कृष्ण वर्मा की विदेश छात्रवृत्ति तिलक की सिफारिश से ही मिली थी। लाला हरदयाल जब पुणे गए थे, तो वे अतिथि के रूप में तिलक के यहां ठहरे थे और तिलक ने ही गोखले से उनकी भेंट कराई थी।

तिलक अनुक्रियात्मक सहयोग में विश्वास करते थे। यह कहना कठिन है कि यदि उनकी मृत्यु अगस्त 1920 में, जो कि भारत के इतिहास में महत्व का युग था, न हुई होती तो वे अपने दर्शन को देशव्यापी स्तर पर क्या व्यावहारिक रूप देते। यदि लोकमान्य अधिक दिन जीवित रहते, तो क्या गांधी युग अस्तित्व में आ सकता था? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। महात्मा गांधी ने आधुनिक भारत के निर्माता के रूप में उनकी प्रशंसा करते हुए, उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की। उन्होंने कहा: "ऐसे व्यक्ति को मृत कहना ईश्वर की निंदा करना है।"

लोकमान्य की मृत्यु से जयकर को व्यक्तिगत क्षति हुई थी। उनकी मृत्यु के बहुत दिनों बाद तक, जब कभी उन्हें अवसर मिलता, वे अपने नेता के उत्कृष्ट गुणों का स्मरण किया करते थे। एक बार, उन्होंने मोतीलाल नेहरू को तिलक के बारे में एक 'संस्मरण' सुनाया। जब लोकमान्य से पूछा गया कि भारत को स्वतंत्रता मिलने के बाद आपका क्या करने का विचार है, तो उन्होंने बड़ी नम्रता से उत्तर दिया: "मैं अपने शेष जीवन में गणित शास्त्र पढ़ाऊंगा।" उन्होंने यह भी कहा: "जब तक देश दासता की जंजीरों में जकड़ा है, तब तक पढ़ना-पढ़ाना और संन्यासी बनना विलासिता है, जिसके बारे में मैं सोच भी नहीं सकता।" यह रहस्य जयकर की आत्मकथा में प्रकट किया गया है, जिसमें उन्होंने 22 जुलाई, 1924 को पुणे में तिलक की प्रतिमा का अनावरण करते समय मोतीलाल द्वारा उन्हें (तिलक को) अर्पित की गई श्रद्धांजलि का विस्तृत विवरण दिया है।[6]

6 "द स्टोरी आफ माई लाइफ" भाग 2, पृ० 355-58

अध्याय 6

महात्मा गांधी

महात्मा गांधी के प्रति जयकर का रवैया विचित्र द्वैधी भाव से भरा था। जब वे उनकी प्रशंसा करते तो ऐसा प्रतीत होता था कि वे उनके पैर चूम लेंगे और जब उनकी राजनीति पर चर्चा करते तो पेंडुलम दूसरी पराकाष्ठा पर पहुंच जाता था। वे प्रमुख बुद्धिवादियों के सम्प्रदाय के थे, जिसमें कुछ कांग्रेस के महारथी थे, जिनका विश्वास था कि गांधीवाद "अराजकता के व्याकरण" का ही एक रूप है। यद्यपि दोनों का राजनीतिक मार्ग भिन्न-भिन्न था, फिर भी, गांधी जी सदा ही इस नौजवान को अपने दुर्निवार्य प्रभाव से अपनी ओर आकर्षित करते रहते थे। गांधी जी की प्रसिद्धि एक अद्भुत घटना थी। वे 1893 में, अपना कानूनी व्यवसाय शुरू करने के विचार से, एक अनजान व्यक्ति के रूप में, दक्षिण अफ्रीका गए। जाति-द्वेष प्रधान उस देश में वे जनवरी 1915 तक रहे, धन बटोरने के लिए नहीं बल्कि वहां रहने वाले अपने पीड़ित देशवासियों को वहां के सार्वजनिक जीवन में उनका अधिकारपूर्ण स्थान दिलाने के लिए।

गोखले जब दक्षिण अफ्रीका गए थे, तो उन्होंने वहां गांधी जी के काम को देख कर और समझ कर उनके बारे सही अनुमान लगाया था। 1908 में, लाहौर में, कांग्रेस अधिवेशन को सम्बोधित करते हुए उन्होंने अपने देशवासियों से कहा था कि गांधी जी "उन व्यक्तियों में से एक हैं जो तपस्वियों का सा सादा जीवन बसर करते हुए तथा अपने साथियों के प्रति प्रेम के समस्त उच्चतम-सिद्धान्तों और सत्य और न्याय में श्रद्धा रखते हुए, अपने कमजोर भाइयों की आंखों को न मालूम किस जादू की छड़ी से छू कर नई दृष्टि प्रदान करते हैं। वे ऐसे व्यक्ति हैं, जो आदमियों में आदमी वीरों में वीर और देशभक्तों में देशभक्त कहे जा सकते हैं, तथा हम निःसंकोच यह कह सकते हैं कि उनमें भारतीय मानवता अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई है।"[1]

जयकर विद्वान और तार्किक थे, फिर भी यह महसूस करते थे कि वे बलपूर्वक गांधी जी की ओर खिंचे चले जा रहे हैं। उन्होंने गोखले से कहा—"वह (गांधी जी)

1. राइट रेवरेंड होनी व्हाइटहैड कांस्टेबिल लिखित "इंडियन प्राबलम्स", 1924 पृ० 249

तो एक बड़े संन्यासी मालूम पड़ते हैं। उनकी भावना की चिन्तन-शक्ति हमसे भिन्न है और उनका दृष्टिकोण सिद्ध पुरुष जसा है।" उन्होंने गोखले जी से पूछा कि आपका गांधी जी के विषय में क्या विचार हैं ? गांधी जी अभी ''महात्मा'' के नाम से विख्यात नहीं हुए थे। गोखले ने कहा, गांधी जी भारत के इतिहास में एक महान भूमिका अदा करेंगे। परन्तु उन्होंने एक चेतावनी भी दी जो इस प्रकार थी : ''परन्तु याद रखो, ऐसे अवसरों पर भारत उनका विश्वास नहीं करता, जहां 'आधी तज सारी को धावै। आधी रहे न सारी पावै' के सिद्धान्त पर चलते हुए, सावधानी के साथ नाजुक बातचीत करनी पड़ती है और जहां संयम और चातुर्य से सफलता प्राप्त होती है। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने आश्चर्यजनक काम किए हैं; उन्होंने विभिन्न वर्गों के भारतीयों को एक देशभक्त और मिले-जुले समुदाय में संगठित किया है; परन्तु मुझे भय है कि जब उस बातचीत का इतिहास निष्पक्षता और सच्चाई के साथ लिखा जाएगा, जो एक अवसर पर उन्होंने की थी, तो यह पता चलेगा कि उनकी वास्तविक उपलब्धियां उतनी प्रशंसनीय नहीं थीं, जितनी लोग समझते हैं।"[2]

गांधी जी का यह मूल्यांकन गोखले ने 1915 में अपनी मृत्यु से बहुत पहले किया था। उनकी यह धारणा कि महत्वपूर्ण अवसरों पर गांधी जी की संयम की भावना उनका साथ छोड़ देती थी, बाद की घटनाओं से सही नहीं उतरी। राजनीतिक नेता के रूप में अपनी लम्बी जीवनचर्या में एक-दो गलतियों को छोड़ कर गांधी जी ने सदा ही राष्ट्रीय स्वाधीनता के प्रश्न पर समझौता करने की अपनी उत्सुकता के प्रमाण बार-बार दिए और कभी-कभी तो अपने अनुयायियों की आलोचना का खतरा भी उठाना पड़ा। जयकर ने अपनी आत्मकथा में स्वीकार किया है कि भारत के राजनीतिक गत्यावरोध के लिए गांधी जी की हठवादिता नहीं अंग्रेजों की असमझौतावादी अक्खड़ता जिम्मेदार थी।

महात्मा गांधी के प्रति जयकर का रवैया वस्तुतः एक पहेली था। वे गांधी जी में करोड़ों भारतीयों का प्रतिरूप साकार हुआ देखते थे तथा उनकी समस्त संकुचित एवं वर्गगत पक्षपात से मुक्ति और निम्नतम व्यक्ति के प्रति उनकी गंभीर चिन्ता की सराहना करते थे। वे ऐसे महत्वपूर्ण व्यक्ति के निकट आना तथा उसके नेतृत्व में देश की सेवा करना चाहते थे, परन्तु साथ ही, उसके काम में साथ देने से डरते थे।

2. "द स्टोरी आफ माई लाइफ" भाग 1, पृ० 316-17

जिन्ना होमरूल लीग की बम्बई शाखा के अध्यक्ष और जयकर उपाध्यक्ष थे। गांधी जी होमरूल लीग के सदस्य बनना चाहते थे, अत: जयकर, 1919 में, बम्बई में उनके गामदेवी स्थित निवास पर उनसे मिले। यद्यपि अधिकांश सदस्य उन्हें लेने के पक्ष में थे, परन्तु जयकर दृढ़ता से उनका विरोध कर रहे थे। उन्हें भय था कि गांधी जी के नेतृत्व में संस्था का मूल रूप ही नष्ट हो जाएगा। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने अपने उस वार्तालाप का स्मरण दिलाया, जो उन्होंने सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसाइटी का सदस्य बनने के गांधी जी के प्रस्ताव के विषय में गोखले के साथ किया था।

जयकर ने गांधी जी की उपस्थिति में ही उन्हें होमरूल लीग से अलग रखने के कारणों पर प्रकाश डाला। गांधी जी को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा : "आप सम्पूर्ण भारत के हैं, वस्तुत: विश्व की हस्ती हैं। आप के आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय हैं, आप जिन सिद्धान्तों का उपदेश करते हैं, वे समस्त मानव जाति के लिए हैं। आप राष्ट्रीयता की सीमा को भी पार कर चुके हैं। मुझे सन्देह है कि क्या हमारी लीग जैसे छोटे से संगठन की परिधि के अन्दर आपको बन्द करना आपके लिए और हमारे लिए उचित होगा, जिसका कार्य-क्षेत्र सीमित और परिवर्तनशील है और इसके तरीके ब्रिटिश सरकार के रवैये के अनुसार समय-समय पर बदलने पड़ते हैं। कभी-कभी वे शत्रुता का रूप भी ले सकते हैं, जो कदाचित आपके प्रेम और शान्ति के सिद्धान्त से मेल नहीं खाएगा।" 'उन्हें भय था कि गांधीजी सदस्यों से संस्था के उद्देश्यों और लक्ष्यों में आमूल परिवर्तन और अपने निजी "प्रिय सिद्धान्तों" एवं "विचित्र झोकों" को स्वीकार कराने की मांग करेंगे।

गांधी जी ने उत्तर दिया कि जयकर ने जो कुछ कहा उसका अधिकांश उन्ह स्वीकार्य था, परन्तु उनके मत को "झक" बताना स्वीकार्य न था। जयकर की आपत्तियों को रद्द कर दिया गया और गांधी जी को लीग में भर्ती कर लिया गया। गांधी जी ने ऊपर चढ़ने में समय न लगाया और शीघ्र ही उसके अध्यक्ष बन गए। जैसी कि जयकर को आशंका थी, उन्होंने उसके मूल उद्देश्यों और नाम को बदल दिया और उसका नाम "स्वराज्य सभा" रखा। उसके अधिकांश सदस्यों को यह अच्छा न लगा और 27 अक्तूबर, 1920 को उन्होंने उनको अपने त्यागपत्र दे दिए। जिन्होंने त्यागपत्र दिए उनमें जिन्ना, जयकर, के० एम० मुंशी, जमनादास, द्वारकादास, नगीनदास मास्टर, कांजी द्वारकादास, जमनादास मेहता और मंगलदास पकवासा मुख्य थे।

इस घटना में जयकर की भूमिका चक्कर में डालने वाली थी। तब तक वे गांधी जी को निकट से जान चुके थे। दोनों दूसरे कांग्रेसियों के साथ, पंजाब में सरकार के अत्याचारों की जांच करने और उन पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए, साथ-साथ आए थे। वे महात्मा गांधी के अनेक उत्कृष्ट गुणों से अति प्रभावित हुए। गांधी जी की काम करने की अपार क्षमता, उनके नियम पालन के प्रति प्रेम, उनकी अनुशासन की भावना तथा सत्य में उनकी अगाध निष्ठा की गहरी छाप इस नौजवान पर पड़ी। जयकर उस समिति में काम करने के लिए राजी हो गए थे, जो कांग्रेस ने, 1919 में, पंजाब में सरकार के अत्याचारों के बारे में साक्ष्य एकत्र करने और उसके निष्कर्षों पर रिपोर्ट लिखने के लिए बनाई थी। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने युद्धोत्तर-भारत को सहानुभूति देना तो दूर, समझने तक से दृढ़तापूर्वक इंकार कर दिया। प्रथम विश्व युद्ध का, जो 1914 से 1918 तक चला, भारत से कोई संबंध नही था, फिर भी उसने ब्रिटेन के लिए अपनी क्षमता से अधिक बलिदान किए।

दूरदर्शिता और न्याय के प्रत्येक विचार का यह तकाजा था कि युद्धोत्तर भारत के साथ समझदारी से व्यवहार किया जाता। देश में किसी भी मत के लोग तुरन्त ही 'होमरूल' नहीं चाहते थे। अक्तूबर 1916 में, भारतीय विधानमंडल के 19 सदस्यों ने, जिनमें डी० ई० वाचा, भूपेन्द्रनाथ बसु, पंडित मदन मोहन मालवीय, तेज बहादुर सप्रू, जिन्ना और सर इब्राहीम रहीमतुल्ला जैसे आधुनिक विचारों वाले सुप्रसिद्ध नेता शामिल थे, सुधारों की एक योजना तैयार की थी, जिसमें केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान सभाओं के प्रतिनिधि मूलक रूप को उदार बनाने के अलावा और कोई चौंकाने वाली बात न थी। इसमें स्पष्ट व्यवस्था थी कि केन्द्रीय विधानमंडल को सेना या देश के वैदेशिक सम्बन्धों पर कोई अधिकार न होगा। इसके अलावा, परिषद में गवर्नर-जनरल को वीटो का अधिकार दिया गया था। संक्षेप में, प्रस्तावित सुधारों की मंशा किसी भी प्रकार से भारत में अंग्रेजों की स्थिति को कमजोर बनाने की नहीं थी। दिसम्बर 1916 के लखनऊ समझौते में सम्मिलित और हिन्दू एवं मुस्लिम सम्प्रदायों के सदस्यों द्वारा अनुमोदित संवैधानिक प्रस्ताव अधिकांशतः इन्हीं 19 विधायकों के ज्ञापन पर आधारित थे।

यद्यपि व्हाइट हाल का भारत पर अपना शिकंजा ढीला करने का कोई इरादा न था, फिर भी वह समझता था कि भारतीय लोकमत को शान्त करने के लिए थोड़ा-बहुत आश्वासन देना जरूरी है। विदेश मन्त्री एडविन मांटेग्यु ने 20 अगस्त,

1917 को घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार की नीति "प्रशासन की प्रत्येक शाखा में भारतीयों का सहयोग बढ़ाना तथा स्वशासी संस्थाओं का क्रमिक विकास करना है, ताकि उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य के अभिन्न अंग के रूप में भारत में धीरे-धीरे उत्तरदायित्व-पूर्ण सरकार की प्राप्ति हो सके।" परन्तु इस घोषणा में 'प्रत्येक अगले कदम के लिए समय और मात्रा" निश्चित करने का निर्बाध अधिकार ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ में रखा था। यद्यपि भारत के राजनीतिज्ञ अंग्रेजों के इस वायदे से प्रसन्न हुए, परन्तु वस्तुतः इसका कोई अर्थ न था।

युद्ध ने भारत को खून और आंसू बहाने के लिए जबरदस्ती मजबूर किया था तथा उसकी गरीबी को और बढ़ा दिया था। एक करोड़, 30 लाख व्यक्ति मलेरिया से मर गए थे तथा असंख्य स्थायी शारीरिक दुर्बलता के कारण बेकार हो गए थे। ऐसा असाधारण मानव संकट विदेशी शासकों के लिए नितान्त महत्वहीन था, क्योंकि उन्हें जितनी दिलचस्पी देश पर अपना पंजा कसने में थी, उतनी और किसी चीज में नहीं थी। वाइसराय चेम्सफोर्ड एक अयोग्य शासक था, जिसकी अपनी कोई इच्छाशक्ति न थी। वह पूर्णतया नौकरशाही के हाथों में खेलता था और यह विश्वास करता था कि भारतीय अशान्ति को सख्त कानून से ही दबाया जा सकता है। तदनुसार उसने राजद्रोह-समिति की सिफारिशों को अधिनियम-ग्रन्थ में शामिल करने का निश्चय कर लिया। इस समिति का अध्यक्ष एक अंग्रेज जज, एस० ए० टी० रौलट था। इस व्यक्ति ने यह मान रखा था कि भारत में ब्रिटिश अधिकारी अपने राजा की भांति कोई गलती नहीं कर सक थे। ब्रिटिश राजा शक्तिहीन होने के कारण कोई गलती नहीं कर सकता था परंतु भारत में तो ब्रिटिश अधिकारी बेलगाम थे और कोई भी अत्याचार कर सकते थे।

किसी काल्पनिक स्थिति का मुकाबला करने के लिए, दण्ड विधि संशोधन विधेयक जो आम तौर से रौलट बिल कहा जाता था, 6 फरवरी, 1916 को केन्द्रीय विधान मंडल में पेश किया गया। विधान के प्रारूप में गिरफ्तारी और मुकदमे के प्रावधान तो भरे हुए थे, परन्तु जाने माने बचावों की कोई व्यवस्था न थी, जैसी कि एक अच्छे कानून में होनी चाहिए। शिक्षित भारत चैम्सफोर्ड सरकार की धृष्टता एवं दुष्टता से अति क्षुब्ध था। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने इस बात की वकालत की कि विधेयक पर विचार सितम्बर सत्र तक स्थगित रखा जाए, परन्तु उसका कोई फल नहीं हुआ। राइट-आनरेबुल वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री ने कहा : "यदि

सरकार दमन-नीति अपनाएगी, तो निरपराध सुरक्षित न रहेंगे। मुझ जैसे व्यक्ति निरपराध नहीं समझे जाएंगे। तब निरपराधी वह होगा, जो राजनीति को त्याग देगा और तात्कालिक सार्वजनिक आन्दोलनों में भाग नहीं लेगा, जो घर में बन्द रहेगा और भजन करेगा, जो टैक्स अदा करेगा और सदा सरकारी अधिकारियों को सलाम बजाता रहेगा"। बनर्जी और शास्त्री दोनों ही अपने संयत और शान्त विचारों के लिए प्रसिद्ध थे, फिर भी शास्त्री को सरकार को यह चेतावनी देने के लिए बाध्य होना पड़ा कि यदि उनकी अपील पर ध्यान न दिया गया तो विधानमंडल में ऐसे बहुत कम आदमी रह जाएंगे जो "आन्दोलन में शामिल" न होंगे। परन्तु नौकरशाह तर्क की आवाज सुनने को भी तैयार नहीं थे।

यह स्पष्ट हो गया कि भारतीयों को विदेशी सरकार से दमन के अलावा और कुछ नहीं मिलेगा। यदि वे अधिकार चाहते हैं, तो उन्हें उठकर खड़ा हो जाना चाहिए और उनके लिए लड़ना चाहिए। यह राष्ट्रीय संकट का समय था। अपने देशवासियों को इससे बाहर निकलने का रास्ता दिखाने के लिए महात्मा गांधी आगे आए। रौलट एक्ट को, भारत में गांधी जी के असहयोग आन्दोलन का 'जनक' कहा जा सकता है। इस घृणित विधान के व्यापक विरोध के लिए देश को तैयार करने के लिए उन्होंने, 1 मार्च 1919 को, बम्बई में, सत्याग्रह सभा की स्थापना की। उनके हड़ताल के आह्वान की लोगों में तत्काल अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। गांधी जी, जिन्होंने हिंसा और घृणा को दृढ़ता से त्याग दिया था, अपेक्षाकृत एक नए नेता थे। उनके पथ-प्रदर्शन में एक नयी शक्ति का उदय हुआ, जो अपने विस्तार के वेग में अत्यन्त तीव्र थी। इस शक्ति ने विदेशी शासकों को आश्चर्य में डाल दिया और क्रुद्ध भी कर दिया। पंजाब में प्रसिद्ध जन-विरोध इतना भयावह, फिर भी इतना शान्त था कि उसने वहां के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर माइकेल ओ'डायर को उत्तेजित कर दिया। ओ'डायर एक उग्र प्रतिक्रियावादी था, जो मांटेग्यू के अनुसार, "हर चीज" का विरोधी था। उसने कहा कि "गांधी की आत्म-शक्ति से भी बड़ी एक शक्ति है"।

इस आदमी ने पहले, पंजाबियों के उत्साह और स्वामिभक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी तथा युद्ध में उनकी महान् सेवाओं की दिल खोल कर सराहना की थी। उसी ने अब उन्हें उनकी देशभक्ति के लिए दंड देने का निश्चय कर लिया। 9 अप्रैल 1919 को गांधी जी की नजरबन्दी तथा अगले दिन लोकप्रिय पंजाबी नेताओं—डा० किचलू और डा० सत्यपाल के अमृतसर से निर्वासन के कारण, उस

प्रान्त में कुछ अत्यन्त दुःखद घटनाओं के लिए मार्ग खुल गया, जिन्होंने अंग्रेजों का नाम बुरी तरह बदनाम कर दिया। गवर्नर, जिसने प्रान्त में आतंक का राज्य स्थापित करने का निश्चय कर लिया था, वहां मार्शल ला लागू करने के लिए केन्द्र से स्वीकृति प्राप्त करने में सफल हो गया। दोनों पंजाबी नेताओं के अपने कार्य-क्षेत्र से हटा दिए जाने के बाद, अमृतसर में हिंसा भड़क उठी, जिसमें विदेशी बैंकों के कुछ अधिकारी मारे गए और एक महिला मिशनरी पर पाशविक हमला किया गया। जिम्मेदार भारतीयों ने हिंसा के इन कामों की तुरन्त और स्पष्ट रूप से निन्दा की।

नागरिक आबादी को आतंकित करने की अपनी पूर्व-विचारित योजनाओं को आगे बढ़ाने के लिए, पंजाब के अधिकारियों ने इन घटनाओं का स्वागत किया। स्वाभिमानी जनता को नीचा दिखाने की हर प्रकार से कोशिश की गई। सरकार का सबसे अधिक वीभत्स दुष्कृत्य 13 अप्रैल का जलियांवाला बाग हत्याकांड था। जनरल डायर ने, जिसके लिए फ्रांस के युद्ध क्षेत्र और अमृतसर की गलियों में कोई अंतर न था, एक ऐसे-निहत्थे जनसमुदाय पर गोली चलाने के आदेश दे दिए, जिसमें पुरुष और बच्चे थे तथा जो भारी संख्या में बाग में एकत्रित थे। 20 हजार व्यक्तियों की भीड़ पर 1650 राउण्ड छोड़े गए, जिनसे लगभग 1000 व्यक्ति मारे गए। इस हत्याकांड की विशालता से डायर तनिक भी विचलित न हुआ। वह चाहता था कि भारतीयों पर "व्यापक प्रभाव" डालने के लिए हताहतों की संख्या अधिक होनी चाहिए। उसने दावा किया कि सारा शहर मेरी दया पर है और कहा कि मैं इसे "राख का ढेर" बना सकता हूं। भारत के मित्र सी० एफ० एंड्र्यूज ने जलियां-वाला बाग हत्याकांड की तुलना ग्लेनको हत्याकांड से की। अपने देश और साम्राज्य के लिए ऐसा सराहनीय कार्य करने के उपलक्ष्य में इस 'महायोद्धा' को, उसके कृतज्ञ देशवासियों ने भारत में और इंग्लैंड में भी, पुरस्कार के रूप में एक थैली और एक तलवार भेंट की। पंजाब के अत्याचारों ने देश भर में क्रोधाग्नि प्रज्वलित कर दी। महाकवि टैगोर ने अपनी 'नाइट' की उपाधि सरकार को वापस कर दी। सर शंकरन् नायर जैसे शान्त विचारों वाले व्यक्ति तक ने वाइसराय की कार्य-कारी-परिषद की सदस्यता त्याग दी। चर्चिल जैसे व्यक्ति को यह कहना पड़ा कि "रोग की यह औषधि—आंतकवाद तो ब्रिटिश फार्माकोपिया में भी नहीं है।" फ्रांसीसी राजनेता कीलमन्सयू ने कहा कि अब अमृतसर-कांड जैसी घटनाएँ नहीं होनी चाहिए।

पंजाब की घटनाओं पर रिपोर्ट देने के लिए भारत सरकार ने एक जांच-समिति नियुक्त की, जिसे 'हन्टर समिति' के नाम से जाना जाता है। रौलट की तरह लार्ड हन्टर का दिमाग बन्द था और पंजाब में उसके देशवासियों ने जो अपराध किए थे, उनकी भीषणता समिति की रिपोर्ट में दिखाने के लिए वह तैयार न था। उस समिति में जो भारतीय थे, उनमें सर चिमनलाल सीतलवाड भी थे। हन्टर समिति की निष्पक्षता में किसी को विश्वास न था। देश ओ'डायर के क्रूर शासन के दौरान पंजाब में सरकारी अत्याचारों की भीषणता के बारे में सही तथ्य जानने को उत्सुक था।

जयकर ने रौलट एक्ट पास होने से पहले की घटनाओं को और उस प्रान्त में हुए बीभत्स अत्याचारों को ध्यान से देखा था। वे उस समिति में थे जो उस घृणित कानून पर सरकार की लीपा-पोती का प्रत्युत्तर तैयार करने के लिए कांग्रेस-अध्यक्ष द्वारा बनाई गई थी। समिति के अन्य सदस्य थे—पंडित मोतीलाल नेहरू, जिन्ना, विट्ठलभाई पटेल और कस्तूरी रंगा आयंगर। इन विशिष्ट कांग्रेसियों ने उस अवांछनीय कानून के कार्यान्वयन के विरोध के साथ-साथ, महात्मा गांधी की नजरबन्दी की भी स्पष्ट रूप से निन्दा की। जब जयकर लाहौर में थे, तो उन्होंने हन्टर समिति की कार्यवाही को अपनी आंखों से देखा था, परन्तु वे उससे तनिक भी प्रभावित नहीं हुए थे। 17 दिसम्बर, 1919 को, उन्होंने अपनी डायरी में इस प्रकार लिखा—"सब कुछ एक भद्दा तमाशा था; यूरोपीय पक्ष में संगठित शक्ति के साथ जातीय पक्षपात भरा हुआ था और भारतीय पक्ष में नपुंसकता।" ऐसी स्थिति में स्वतन्त्र जांच कराने का कांग्रेस का निर्णय सर्वथा उचित था।

कांग्रेस द्वारा नियुक्त जांच-समिति में लोग थे—पंडित मदनमोहन मालवीय, पंडित मोतीलाल नेहरू, महात्मा गांधी, सी० आर० दास, अब्बास एस० तैय्यबजी, जयकर और के० सन्तानम्। मालवीय ने दिसम्बर 1919 में, जयकर को तार द्वारा समिति में शामिल होने के लिए आमन्त्रित किया था। यह सोचकर कि इससे उन्हें प्रसिद्ध देशभक्त बुद्धिजीवियों की मंडली से मित्रता

बढ़ाने और उसके साथ काम करने का अवसर मिलेगा, उन्होंने तुरन्त स्वीकृति दे दी। वास्तव में, महात्मा गांधी को जानने और उनके निकट आने का अवसर ही उनके लिए सबसे बड़ा आकर्षण था, क्योंकि उनके कथनानुसार, गांधी जी के व्यक्तित्व के 'रहस्य' ने उन पर प्रबल प्रभाव डाला था। लाहौर में वे गांधी जी से मिले थे और उनसे कहा था कि मैं आप से "आदेश लेने" आया हूं। गांधी जी ने दिल से उनका स्वागत किया था और कहा था कि आप को बहुत परिश्रम करना है। जयकर का उत्तर था "मैं सीधा वकालत के व्यवसाय से आया हूं और सख्त परिश्रम से नहीं डरता।"

जयकर गांधी जी की कार्य-प्रणाली, आश्चर्यजनक धैर्य व परिश्रम तथा सबसे अधिक उनकी दृढ़ सत्य-निष्ठा से प्रभावित हुए। समिति ने गांधी जी से कहा था कि वे जयकर की सहायता से रिपोर्ट तयार करें। व्यक्तियों पर दोषारोपण करने में गांधी जी की कोई दिलचस्पी न थी। उन्होंने अपना सारा ध्यान तथ्यों की जांच-पड़ताल में और उन्हें रिपोर्ट में शामिल करने में लगाया। दास और जयकर ने सरकार के जंगलीपन की अनेक घटनाओं का उल्लेख रिपोर्ट में करने का बहुत प्रयास किया, परन्तु वे असफल रहे। क्योंकि गांधी जी ऐसी कोई चीज उसमें शामिल नहीं होने देना चाहते थे जिस पर पूर्ण सत्य की मोहर न लगी हो। उनके बहुत से साथी प्रभावशाली होने के अतिरिक्त कानून के भी बहुत बड़े ज्ञाता थे। जयकर का कहना है कि दास अपनी बात पर जोर देने के लिए "अक्सर तेजी से मेज थपथपाया करते थे और मोतीलाल नेहरू अपने दृष्टिकोण को उतने ही जोरदार शब्दों में किंतु अधिक संयम के साथ" प्रस्तुत करते थे। यह महसूस किया गया कि रिपोर्ट में इस बात का उल्लेख होना चाहिए कि जनरल डायर लोगों को गोली से उड़ाने के लिए जलियांवाला बाग के घेरे में जानबूझ कर अपने जाल में फंसा कर ले गया था। जयकर ने सावधानी से यह आरोप लिख कर तैयार किया और गांधी जी के सामने प्रस्तुत किया।

गांधी जी ने कहा कि यदि मुझे इस प्रारूप पर "कुछ देर विचार कर लेने दिया जाए" तो मैं इसे स्वीकार कर लूंगा। कुछ देर बाद जो चीज़ सामने आई वह ऐसी थी, जिसे जयकर अपनी नहीं कह सकते थे। गांधी जी तथ्यों को उजागर करना चाहते थे, किसी व्यक्ति को शिकजे में कसना नहीं चाहते थे, चाहे उसका अपराध कितना ही गंभीर क्यों न हो। बाद में उनके कई साथियों ने उनके मन्तव्य

की गंभीरता को समझा। दास जैसे व्यक्ति को भी बाध्य हो कर यह कहना पड़ा, "गांधी, यह सब भाड़ में जाने दो, तुम सही हो और हम गलत।"

जयकर लिखते हैं, "हमारे सामने जो लक्ष्य था उसके विषय में उनकी (गांधी जी की) धारणा अधिक उदात्त थी। ब्रिटिश और भारतीय जनता के सामने वीभत्स जलियांवाला बाग हत्याकांड की सच्चाई साफ शब्दों में रखना तथा उस कांड से संबंधित अधिकारियों की रक्त-पिपासा और उसके अन्दर छिपे हुए जातिगत उन्माद को जनता के सामने उजागर करना था। घटनाओं की मुख्य विशेषताएं, अपने साद और असज्जित रूप में ही, इतनी जाज्वल्यमान और रुधिर को जमाने वाली थीं कि जनता में आंतक और घृणा की सामान्य भावना जागृत करने के लिए उन्हें सजाने या नमक-मिर्च मिलाने की आवश्यकता न थी। इस बात को गांधी जी हमसे अधिक अच्छी तरह समझते थे। वे यह जानते थे कि हमारे प्रयास की सफलता मुख्य रूप से हमारे अभिलेख की यथार्थता और सच्चाई पर निर्भर होगी तथा संयम और कम वर्णन हमारी रिपोर्ट के दोष नहीं, गुण माने जाएंगे।"

"कांग्रेस की पंजाब जांच रिपोर्ट 1919–1920" एक आदर्श अभिलेख है। समिति ने लिखा है, हमें विश्वास है कि यदि गांधी जी को दिल्ली और पंजाब जाते समय गिरफ्तार न किया जाता तथा यदि डा० किचलू और डा० सत्यपाल को गिरफ्तार और निर्वासित न किया जाता, तो निरपराध अंग्रेजों की जानें बच जातीं तथा बहुमूल्य सम्पत्ति जिसमें ईसाई गिरजाघर भी हैं, नष्ट न होतीं। पंजाब सरकार के ये दोनों कार्य **निरर्थक थे एवं इन कार्यों ने दियासलाई का ही काम किया और पहली प्रक्रियाओं से जो सामग्री प्रज्वलनशील हो गई थी, उसमें आग लगा दी।**

रिपोर्ट ने वाइसराय चेम्सफोर्ड के अंधेपन की ओर ध्यान खींचा जो सरकारी दमन से पैदा हुई स्थिति की गंभीरता को न देख सका। अभिलेख में कहा गया है कि "उसने सी० एफ० एन्ड्रयूज जैसे उदार, निर्दोष चरित्र वाले, सच्चे और सुप्रसिद्ध अंग्रेज ईसाई को, जो भावनाओं को उत्तेजित करने नहीं, केवल सच्चाई का पता लगाने के लिए पंजाब जा रहे थे, मार्ग में ही रुकवा दिया"। रिपोर्ट में बताया गया कि पंजाब में सर माइकेल ओ'डायर का प्रशासन अत्यन्त अलोकप्रिय था। "शिक्षित वर्ग के प्रति उसकी तिरस्कार और अविश्वास की भावना से" लोग क्षुब्ध थे। रिपोर्ट में

जलियांवाला बाग में जनरल डायर के कसाईपन का भी सादा और अनालंकृत वर्णन दिया गया है। दर्शकों की संख्या लगभग 20,000 थी, जिसमें केवल पुरुष ही नहीं थे, लड़के, बच्चे और शिशु भी थे। हताहतों की संख्या के बारे में कहा गया है—"सही संख्या कभी ज्ञात न होगी, परन्तु सावधानी से जांच के बाद हम समझते हैं कि लाला गिरधारीलाल का 1,000 का अनुमान किसी कदर अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता।"[3]

अपूर्व संयम एवं अडिग सत्यनिष्ठा से इस वीभत्स कांड पर प्रकाश डाल कर, रिपोर्ट ने जनता पर गहरी छाप डाली। पंजाब से लौटने के बाद, जयकर ने रिपोर्ट की एक प्रति बम्बई वकील-मंडल के एक वरिष्ठ सदस्य इनवरेरिटी को दी थी। उसने वह रिपोर्ट पढ़ी और पढ़ कर अपनी प्रतिक्रिया जयकर से इस प्रकार व्यक्त की, "ऐसी रिपोर्ट लिखने पर मुझे तुम्हें गोली मार देनी चाहिए। यह बड़ा खतरनाक अभिलेख है और तुम जानते हो जिस सावधानी से तुमने निष्कर्ष निकाले हैं, अधिकांशतः उसी के कारण यह इतनी प्रभावी है। यह रिपोर्ट किसने लिखी है?" जयकर ने उत्तर दिया कि यह अधिकांशतः गांधी जी के हाथ का काम है। इनवरेरिटी ने कहा "तुम जानते हो, अंग्रेजों के दृष्टिकोण से, संयम के कारण रिपोर्ट अधिक खतरनाक हो गई है। मेरा सदा ही यह विचार रहा है कि यदि भारत के मामले को यथार्थता, सच्चाई और संयम के साथ प्रस्तुत किया जाए, जैसे आपकी रिपोर्ट में प्रस्तुत किया गया है तो उससे भारत में हमारे राज्य को अधिक क्षति पहुंचेगी। इतनी क्षति उस कूड़े-कर्कट से नहीं पहुंचती जो कुछ समाचार पत्रों में दिन-प्रति दिन छपता है। और मैं आप को बताता हूं कि जब यह रिपोर्ट इंग्लैंड में पढ़ी जाएगी तो वहां कितना अधिक प्रभाव होगा। भारत में लोग अतिशयोक्ति से खुश होते हैं, इसलिए यहां इसका इतना प्रभाव नहीं होगा।"

पंजाब में गांधी जी के साथ अपने दीर्घ और घनिष्ठ सम्पर्क के बाद जयकर का उनके प्रति आदरभाव बहुत बढ़ गया। पंजाब में वे 6 महीने रहे थे। वे केवल सत्य, संयम और अहिंसा के प्रति निष्ठा के कारण ही गांधी जी की प्रशंसा नहीं करते थे, अपितु उनकी शैली के सौन्दर्य के कारण भी करते थे। यहां मैं उनका एक अवतरण उद्धृत करता हूं, जो गांधी जी के व्यक्तित्व और उनके नेतृत्व के नैतिक गुणों के उनके द्वारा किए गए मूल्यांकन पर प्रकाश डालता है।

3. "रिपोर्ट आफ दी कमिश्नर्स अप्वाइंटेड बाई दी पंजाब सब-कमेटी आफ दी इंडियन नेशनल कांग्रेस', 1920, पृ० 54

वे लिखते हैं, "गांधी जी के व्यक्तित्व की सबसे अच्छी झलक देखने के लिए, वह रिपोर्ट पढ़नी चाहिए, जो अधिकांशतः उन्होंने अपने हाथ से लिखी थी। साहित्यिक कृति के रूप में भी इसका स्थान बहुत ऊंचा रहेगा। तीखे, चटपटे, छोटे-छोटे वाक्य, जो संक्षिप्तता, सरलता और यथार्थता में बाइबिल जैसे मालूम पड़ते हैं, रिपोर्ट में सर्वत्र बिखरे हुए मिलेंगे। इसका स्वर क्षमा का स्वर है, अंग्रेजों की गलतियों को भूल जाने की उदात्त आकांक्षा का स्वर है। सत्य तो कहना था, परन्तु गांधी जी ने इसका कथन इस ढंग से किया कि उससे जनता का क्षोभ बदले की भावना में नहीं बदला। भारत के लिए उनकी सबसे बड़ी सेवा यह थी, और मुझे आशा थी कि ब्रिटिश सरकार किसी न किसी दिन इसे मानेगी कि उन्होंने क्षोभ एवं प्रतिशोध की भावना को फूटने से रोक लिया तथा अन्याय और अपमान की स्मृतियों से राष्ट्र का निर्माण करने के लिए उसे धीरे से रचनात्मक कार्य की दिशा में मोड़ दिया।"[4]

पंजाब में काम करने से, जयकर को कुछ चोटी के राष्ट्रीय नेताओं के साथ स्थायी मित्रता स्थापित करने में सहायता मिली। मालवीय, दास और मोतीलाल नेहरू पर उनके शब्द चित्र अति चित्ताकर्षक हैं। पंडित मदन मोहन मालवीय को प्यार में वे 'मालवी जी' कहा करते थे। उनमें वैदिक भविष्य द्रष्टा के समस्त श्रेष्ठ गुण थे। वे धर्मपरायण थे और अपने प्राचीन धर्म के सिद्धान्तों का बड़ी निष्ठा से पालन करते थे। लाहौर में जयकर मालवीय के पास ही सोया करते थे और यह उनका परम सौभाग्य था कि वे रोज प्रातः मालवीय द्वारा मधुर स्वर में गाई हुई प्रार्थनाओं के साथ उठा करते थे। शंकराचार्य के स्तोत्रों का पाठ करने के साथ-साथ वे कभी-कभी ऋग्वेद की ऋचाका पाठ भी करते थे, जिसमें उषा की शोभा का वर्णन होता था। जयकर का कहना है कि उनको जानने का अर्थ था उनसे प्यार करना। वे "नम्र, विनीत, दयालु और विचारशील थे तथा नम्रतापूर्वक क्षमा-याचना तक के लिए तैयार रहते थे।" वे कट्टर धर्मावलम्बी थे, परन्तु उनकी "धर्मपरायणता सतही या दिखावटी नहीं थी। वे सदा व्यक्तिगत पवित्रता के कठोर एवं ऊंचे मानदण्ड अपनाते थे, जिससे प्रायः उसका औचित्य सिद्ध हो जाता था।"

चित्तरंजन दास एक और विभूति थे, जिनके साथ जयकर ने घनिष्ठ एवं सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए। दास बम्बई में प्रायः उन्हीं के यहां अतिथि के रूप में

4. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 1, पृ० 322-23, 325-26, 365

ठहरा करते थे और तभी दोनों अपनी मातृभूमि के भाग्य एवं भविष्य के बारे में खुल कर विचार व्यक्त किया करते थे । वे फौजदारी के उच्चकोटि के वकील थे तथा 1920 में इस व्यवसाय से होने वाली उनकी मासिक आय 50,000 रु० तक पहुंच गई थी । परन्तु जिस प्रकार उनकी आमदनी की कोई कल्पना नहीं की जा सकती थी उसी प्रकार उनकी उदारता भी कल्पनातीत थी । वे जो कुछ कमाते थे, लगभग वह सभी दान में दे देते थे । जो कोई उनके पास सहायता मांगने के लिए आता, उसे निराश नहीं करते थे ।

उनकी राजनीति व्यावहारिक थी । वे भारत में अंग्रेजों के शासन से तो घृणा करते थे, परन्तु अंग्रेजों से नहीं । अनेक शासक उनकी विद्वेषहीनता की सराहना करते थे । गांधीजी की तरह उनका भी विश्वास था कि मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल करने के लिए उन्हें अपने विचार व्यक्त करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाए । बंगाल के मुसलमानों को उनकी निष्पक्षता में पूरा विश्वास था । दास ने महात्मा गांधी का नेतृत्व तो स्वीकार किया परन्तु संकोच के साथ । वे विधान मंडलों के बहिष्कार में विश्वास नहीं करते थे, बल्कि यह चाहते थे कि कांग्रेस पूरी ताकत से उनमें प्रवेश करके उनके खोखलेपन को उजागर करे । इस उद्देश्य के लिए अन्त में उन्होंने 1923 में मोतीलाल नेहरू के सहयोग से स्वराज्य पार्टी की स्थापना की । इस महान् देशभक्त की राजनीति के आधार यथार्थवाद और सहनशीलता थे । वे ऐसी प्रत्येक चीज़ से घृणा करते थे, जो संकीर्ण और राष्ट्रीय प्रगति में बाधक थी । जयकर ने लिखा है : ''भारतीय संस्कृति की उनकी कल्पना सुदृढ़ थी और वे एक ऐसी मिश्रित संस्कृति के युग की सृष्टि करना चाहते थे, जिसमें हिन्दू और मुसलमान, ब्राह्मण और अब्राह्मण, आर्य और द्रविड़, सभी राष्ट्रीय संस्कृति और सदाचार के विकास में अपना-अपना सहयोग करें ।''

जून 1925 में, 55 वर्ष की अवस्था में, इस विलक्षण नेता की मृत्यु ने राष्ट्र को शोक सन्तप्त कर दिया । सारे देश में, बड़े, छोटे, जवान, बूढ़े सभी ने उनकी स्मृति में आंसू बहाते हुए श्रद्धांजलि अर्पित की । जयकर, जो उनके मेजवान के रूप में उनके प्रेरणाप्रद सत्संग से आनन्दित हुआ करते थे तथा कभी-कभी उनके संगीत प्रेम में भी उनका साथ दिया करते थे, उनके स्वर्गवास से अति दु:खी हुए । साल बीतते चले गए, परन्तु दिवंगत नेता के प्रति उनकी श्रद्धा और आदर में कभी कमी नहीं आई । राष्ट्रीय संकट की प्रत्येक घड़ी में वे लगभग सदा ही दास को याद किया करते थे । 11 जुलाई, 1926 को, उन्होंने अपने मन में सोचा :

6—262 M. of I & B/ND/82

"ओह ! क्षण भर के लिए, प्यारे दास । यदि किसी चमत्कार से उन्हें केवल 5 मिनट के लिए भी वापस लाया जा सकता, तो भारत में स्थिति बिल्कुल भिन्न ही होती।"[5] जयकर की धारणा थी कि "एक दूसरे युग में, दलगत राजनीति के भंवरजाल से मुक्त अपने आदर्शों को प्राप्त करने के लिए अधिक स्वतन्त्रता मिलने पर दास एक "महान्" आन्दोलन के केन्द्र बन जाते, जैसा उनके दो पूर्ववर्ती धार्मिक नेताओं ने बंगाल में चलाया था । तब उनकी निर्भीकता और त्याग की प्रशंसा उससे अधिक होती, जो उनके जीवन काल में हुई थी ।"

दास को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए, राइट-आनरेबुल वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री ने बंगाली नेता की मोतीलाल नेहरू से तुलना की थी । शास्त्री ने लिखा: "कुछ बातों में उनका स्थान उनके साथियों गांधी और नेहरू के बीच में था। एक की सुशान्त आध्यात्मिक ऊंचाई तक वे कभी नहीं पहुंचे, परन्तु दूसरे के स्पष्ट सांसारिक भोगवाद से सदा ऊंचे उठे रहे ।" मोतीलाल को निश्चय ही जीवन से तथा संसार की समस्त अच्छी वस्तुओं से प्रेम था । अपने मित्र दास की तरह उनकी भी वकालत से बहुत आमदनी थी, तथा शान-शौकत से रहने के लिए वे दिल खोल कर धन खर्च करते थे । उनके पुत्र द्वारा दृढ़ता से खंडन किए जाने के बावजूद, बड़े नेहरू की खर्चीली आदतों के बारे में विचित्र कहानियां प्रचलित थीं ।

भव्य मूर्ति होने के साथ-साथ, मोतीलाल नेहरू एक महान् भद्र पुरुष थे और उच्चतम कोटि की सभ्यता का प्रतिनिधित्व करते थे । जवाहरलाल नेहरू ने अपने पिता को राजा के समान बताया था, यह केवल पितृ-प्रशंसा नहीं थी । जयकर स्वयं परिष्कृत रुचि वाले व्यक्ति थे । वे बताते हैं कि मोतीलाल किस प्रकार स्वाभाविक रूप से और शिष्टता से जीवन की अच्छी चीजों को ग्रहण करते थे । उनमें "अच्छे से अच्छे आतिथ्य को, एक महान व्यक्ति की भांति, शान्ति के साथ ग्रहण करने की अद्भुत शक्ति थी । बढ़िया से बढ़िया शराब और अच्छे से अच्छे फलों की प्रचुरता का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था तथा बढ़िया से बढ़िया दावत के बाद वे उसी प्रकार शान्ति और इत्मीनान के साथ उठ कर चले आते थे, जिस प्रकार वह व्यक्ति, जो जीवन की अच्छी से अच्छी वस्तुओं के उपभोग का अभ्यस्त होता है, मानो वे सब वस्तुएं कायदे से उसे मिलनी ही चाहिए ।"

5. "जयकर पेपर्स" : अप्रकाशित, अध्याय 16, जनवरी, 1926 दिसम्बर, 29,1926, पृ० 127–28

मोतीलाल जो भी पोशाक पहनते, उसी में भव्य लगते थे। दास की तरह वे भी बम्बई में प्रायः जयकर के अतिथि होते थे। एक दिन जयकर ने उनसे पूछा कि खादी की पोशाक में भी आप इतने जंचते हैं, इसका क्या रहस्य है? मोतीलाल ने हंस कर उत्तर दिया: "यह जानने के लिए तुम्हें किसी कश्मीरी के यहां जन्म लेना होगा। तुम जैसा कठोर मराठा यह सब नहीं जान सकता।"

जयकर और मोतीलाल अच्छे मित्र थे, परन्तु उनके राजनीतिक मार्ग भिन्न-भिन्न थे। यद्यपि मोतीलाल ने गांधीवादी राजनीति स्वीकार की थी, परन्तु उन्होंने किसी आन्तरिक प्रेरणा से ऐसा नहीं किया था। वे नहीं चाहते थे कि वे और उनका पुत्र राजनीति के अखाड़े में एक दूसरे से भिड़ें। अपनी पार्टी के हित में, मोतीलाल कभी-कभी उदारवादियों तथा उनके सिद्धान्तों और उनकी नीतियों की खिल्ली उड़ाया करते हैं। एक बार उन्होंने उदारवादी राजनीति के मुख्य आधार क्रियात्मक सहयोग को विष कह दिया। नवम्बर 1925 में जयकर ने इस आरोप का जोरदार उत्तर दिया। उन्होंने कहा: "राजनीति का जादुई बिस्तर अनेक विवेकहीन अहंवादियों को पहले लपेट चुका है और एक बार फिर लपेट सकता है। पंडित मोतीलाल क्रियात्मक सहयोग को विष बताते हैं। केलकर कह चुके हैं कि यह न तो देवताओं का अमृत है और न दैत्यों का विष। यह तो मानव निर्मित पवित्र जल है, जिसने उस समय स्वराज्य पार्टी को बचाया, जब विधान सभा में उन्होंने उसका नेतृत्व किया।"[6]

ऐसा लेन-देन चलता रहता था और इससे दोनों मित्रों में कोई गलतफहमी पैदा नहीं होती थी। मोतीलाल की मृत्यु के बहुत दिनों बाद, जयकर ने उनकी योग्यता की प्रंशसा करते हुए लिखा: "यह बड़े दुःख की बात है कि अपने जीवन में उन्हें (मोतीलाल को) कभी सरकार बनाने का अवसर नहीं मिला। मुझे विश्वास है कि उनका शासन उत्साह से भरा और दृढ़ होता। वे भारतीय समस्याओं को ऐसी चतुराई, दूरदर्शिता और दृढ़ता से सुलझाते, कि उनके बहुत से साथी, यहां तक कि उनके विरोधी भी, जो उन्हे विरोध पक्ष के नेता के रूप में जानते थे, दंग रह जाते।"

यद्यपि जयकर गांधीजी की राजनीति पर प्रहार करने का कोई अवसर नहीं चूकते थे, फिर भी गांधीजी जयकर के आदर्श बने रहे। देश एक से एक बड़ी

6. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 2, पृ० 674. भाग 1, पृ० 348–51 भी देखिए।

विभूतियों से भरपूर था, जिनमें से कुछ में उच्चकोटि की प्रतिभा थी परन्तु नेतृत्व में गांधीजी सब से आगे थे। राष्ट्रीय राजनीति में उनका प्रथम स्थान पर पहुंचना एक आश्चर्यजनक घटना थी। उन्होंने अपने देशवासियों का विश्वास अर्जित करके उनमें अद्वितीय स्थान प्राप्त किया था। भारत के इतिहास में, किसी अन्य धर्मनिरपेक्ष नेता ने जनता के हृदय को इस प्रकार पूर्णतया नहीं जीता, जिस प्रकार गांधीजी ने जीता। लोग उनकी प्रशंसा करते थे, पूजा करते थे, चरण-रज लेते थे और उनकी इच्छानुसार संसार के छोर तक उनके साथ चलने की शपथ लेते थे। अन्य नेताओं की भांति, वे भी पाश्चात्य शिक्षा की उपज थे, जिसने जनता और बुद्धिजीवी वर्ग के मध्य खाई पैदा कर दी थी। गांधीजी ने अपनी जीवन-पद्धति में परिवर्तन करके अपने लिए इस खाई को पाट लिया, ताकि वे गरीबों के दिमाग से गरीबों के पास पहुंच सकें।

गांधीजी के जीवन का दर्शन कर्म था। गांधीजी द्वारा नेतृत्व ग्रहण करने से पहले, कांग्रेस के निश्चय ही कुछ उपयोग थे, परन्तु वास्तव में वह एक वाद-विवाद की संस्था थी। उसके अनेक सदस्य अब भी यह विश्वास करते थे कि होमरूल (स्वराज्य) व्याख्यानों से, ज्ञापनों से और टैगोर के शब्दों में अत्यधिक "व्याकरणिक परिश्रम" तथा तर्क संगत शिकायत वाली कागजी योजनाओं से ही प्राप्त हो सकता है। गांधीजी का विश्वास था कि जब तक कांग्रेस सार्वजनिक कार्रवाई का प्रभावी साधन नहीं बनेगी, तब तक वह महत्वपूर्ण शक्ति कभी नहीं बन सकेगी। साधारण जन तब तक उसका साथ न देंगे, जब तक वह अपने मध्यमवर्गीय रूप का अंशतः त्याग न करेगी तथा अपना सन्देश लेकर उनके दरवाजे पर न जाएगी। केवल स्वराज्य का संदेश ही उनके पास पहुंचाना आवश्यक न था, अपितु उनकी सामाजिक और आर्थिक मुक्ति के संदर्भ में उसका वास्तविक महत्व भी उन्हें समझाना जरूरी था। कांग्रेस को एक व्यस्त कर्मशाला बनना पड़ेगा। अधिक से अधिक लोगों को पार्टी में शामिल करके उन्हें सारे समय पूरी तरह व्यस्त रखना पड़ेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति नए ढंग से संगठन का पुनर्निर्माण करके ही हो सकती थी। इसलिए, गांधीजी के लिए उस पर नियंत्रण करना आवश्यक था।

दिसम्बर 1920 में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में, उन्होंने यह काम करने का निश्चय किया। अधिवेशन की अध्यक्षता सी० विजय राघवाचारियार ने की थी। उपस्थिति बहुत अच्छी थी। प्रतिनिधियों की संख्या असाधारण रूप से

अधिक थी। कुल 14,582 प्रतिनिधि शामिल हुए थे, जिनमें 1,050 मुसलमान थे। विशाल सभा ने गांधीजी को देश का सर्वोच्च नेता मान लिया था। उन्होंने भी उसे निराश नहीं किया। उन्होंने प्रतिनिधियों की स्वीकृति ले ली कि कांग्रेस के उद्देश्यों को फिर से सीधे-सीधे और स्पष्ट शब्दों में परिभाषित किया जाए जिससे कि सभी वैध और शान्तिपूर्ण उपायों से स्वराज्य प्राप्त किया जा सके जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य स्वशासी सदस्य देशों में है। ये शब्द सादे और देखने में बहुत मामूली थे; परन्तु इन्होंने कांग्रेस को निष्फल संवैधानिकता के जाल से बाहर निकलने तथा अपना आधार विस्तृत करने और लड़ाकू संगठन बनने का अवसर प्रदान किया। अनेक उदारवादी राजनीतिज्ञों के लिए यह परिवर्तन बहुत बड़ा था। उन्होंने कांग्रेस से त्याग पत्र दिया और गांधीजी को अपने प्रभाव के विस्तार के लिए खुला मैदान मिल गया। उदाहरण के लिए, जिन्ना गांधीजी के "आमूल परिवर्तनवाद" से सहमत न हो सके और इस महान् राष्ट्रीय संगठन से सदा के लिए अलग हो गए।

गांधीजी को नागपुर में पूर्ण सफलता मिली। जयकर लिखते हैं :"यह एक महत्वपूर्ण अधिवेशन था, क्योंकि इसमें गांधीजी ने हिचकने वाले और शंका करने वाले नेताओं पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी। उन्होंने निर्भीकता से अपने सिद्धान्तों की घोषणा की।" नए नेतृत्व के प्रति लोगों की प्रतिक्रिया शानदार थी। जयकर ने आगे लिखा है : "नागपुर कांग्रेस की कार्यवाही के ध्यानपूर्वक अध्ययन से पता चलता है कि यदि भारतीय जनता को उपदेश देने के लिए कोई काफी प्रभावशाली, त्यागी और लोकप्रिय नेता मिल जाए तो वह कितनी शीघ्रता से नए राजनीतिक विचारों को ग्रहण कर सकती है। दास, मालवीय और लाजपत-राय जैसे लोगों के विरोध के बावजूद, गांधीजी ने उस अधिवेशन में विजय प्राप्त की।"

भारत में पहली बार राजनीति को नया आयाम और नई गतिशीलता प्राप्त हुई। जनता को कार्रवाई के लिए प्रेरित करने की गांधीजी की क्षमता ने अन्य समस्त क्रांतिकारी और उदारवादी दलों को कमजोर कर दिया। गांधीजी के नेतृत्व की यह कम तारीफ नहीं है कि 1920 में दास ने युवा क्रांतिकारियों की एक बैठक बुलाई, जिसका उद्देश्य उन्हें हिंसा से हटाना और कांग्रेस के आन्दोलन के लिए उनका सहयोग प्राप्त करना था।

परन्तु गांधीजी इतने सचेत और विवेकशील थे कि सार्वजनिक शक्ति के नए हथियार का दुरुपयोग नहीं करना चाहते थे। वे अब सरकार से ताकत के साथ बात कर सकते थे। परन्तु जब तक अनिवार्य रूप से अवश्यक न हो, तब तक ऐसा नहीं करना चाहते थे। वे आग से खेलने वाले आमूल-परिवर्तनवादी नहीं थे, संयत राजनीतिक विचार वाले व्यक्ति थे। परन्तु अंग्रेजों की नीति ने उन्हें ब्रिटिश राज्य का सबसे अधिक कट्टर विरोधी बना दिया था। रौलट बिलों और पंजाब के हत्याकांड ने उन्हें राष्ट्रीय नेतृत्व के शिखर पर पहुंचाने में सहायता की। उन्होंने यह विशिष्टता पूर्णतया अपनी व्यक्तिगत आदर्शवादिता से प्राप्त की थी। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने बड़ी कठिन तपस्या की थी और वही उनकी जीवन पद्धति बन गई थी। अभी वे कई दशाब्दियों तक विवाहित जीवन का आनन्द ले सकते थे, परन्तु विशुद्ध नेतृत्व में बाधक समझ कर उस आनंद को उन्होंने त्याग दिया। ब्रह्मचर्य के उपसिद्धान्त के रूप में उन्होंने अपनी खाने की आदतों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए, जिनमें उपवास भी शामिल था। उनका लक्ष्य त्याग की उस कोटी तक पहुंचना था, जहां उन्हें कोई लोकाचार या लोकपरम्परा न रोक सके।

गांधीजी जो कुछ कहते थे या करते थे उस सबको जयकर पवित्र एवं अनुल्लंघनीय नहीं मानते थे। जैसा कि अगले अध्याय में बताया जाएगा, वे गांधीजी के राजनीतिक सिद्धान्तों के विरोधी थे। फिर भी, उनके श्रेष्ठ नतिक गुणों के कारण वे उस महान् नेता की ओर बरबस खिच गए थे। गांधीजी का ईश्वर में पूर्ण विश्वास था, परन्तु उनकी आस्तिकता मानव-सेवा से घनिष्ठ संबंध रखती थी। उन्होंने घोषित किया था कि "मैं ईश्वर की एकता में विश्वास करता हूं और इसलिए मानवता में भी।" उन्होंने सार्वजनिक सेवा को नैतिकता और आध्यात्मिकता का पुट दिया। जयकर ने एक बार गांधीजी से कहा था कि आपके "संक्रामक सम्पर्क" में साधुता बहुत आसान मालूम पड़ती है। 24 मार्च, 1922 को एक संवाददाता के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने लिखा था: "चाहे और किसी काम में महात्मा गांधी को सफलता भले ही न मिली हो, हमारी राजनीति को उन्होंने निश्चय ही अध्यात्मवादी बना दिया है तथा यह सिद्ध कर दिया है कि जो राष्ट्र स्वतन्त्र होना चाहता है, उसके लिए सबसे पहले आत्म-संयम की आवश्यकता है।"

गांधीजी की इस धारणा ने जयकर पर अमिट प्रभाव डाला कि मानव ही प्रत्येक वस्तु का सच्चा माप दण्ड है। "मैं मानव हूं और मैं किसी मानव को पराया

नहीं समझता" यह सिद्धान्त सर्व-प्रिय है, परन्तु इसे कार्य रूप में परिणित करने का गौरव गांधीजी ने ही प्राप्त किया। 1920 में, जयकर जब अहमदाबाद में साबरमती आश्रम गए, तो वहां उन्होंने गांधीजी की जाति-भेद से मुक्ति का सबसे अधिक विश्वसनीय प्रत्यक्ष प्रदर्शन देखा। उन्होंने देखा कि गांधीजी एक हरिजन लड़की से एक उबला हुआ आलू लेकर खाने के लिए तैयार हैं, जबकि वह उसे आधा दांत से काट कर खा चुकी थी। जयकर लिखते हैं: "मैंने जातिगत घृणा से मुक्त ऐसा कोई आदमी कभी नहीं देखा जैसे गांधीजी थे।" "भारत के शीर्षस्थ नेता" गांधीजी ही केवल ऐसे थे, जिन्होंने "अपने दैनिक क्रियाकलाप में जाति-भावना को पूर्णतया निर्मूल कर दिया था।"

गांधीजी में और भी ऐसे बहुत से प्रशंसनीय गुण थे, जिनके कारण उनमें जयकर की श्रद्धा बढ़ी थी। कोई यह शक नहीं कर सकता था कि एक मुण्डित मस्तक और अर्धनग्न "फकीर", जिसने सांसारिक जीवन के आनन्द और भोगविलास को बलात् तिलांजलि दे दी थी, संगीत का प्रेमी होगा। जयकर इस मंनोरंजन कला में निपुण थे, इसलिए उन्होंने तुरन्त गांधीजी को सुनाने के लिए अपना बाजा बजाने की इच्छा व्यक्त की। वस्तुतः उन्होंने इस काम के वास्ते दो दिन के लिए लोनावाला जाने की योजना बनाई थी। परन्तु गांधीजी को इतने काम करने थे कि वे इसका आनन्द न ले सके। परन्तु उनका पुत्र रामदास 1924 में जयकर का शिष्य बन गया और उसने उनसे संगीत के कई पाठ सीखे। यद्यपि दोनों नेताओं के राजनीतिक मार्ग भिन्न-भिन्न थे, फिर भी दोनों में काफी समानता थी। गांधीजी जयकर की विद्वता, कानूनी योग्यता, तथा छल और पाखंड से पूर्ण मुक्ति की प्रशंसा करते थे। पंजाब की दुःखद घटनाओं पर कांग्रेस-रिपोर्ट तैयार करने के तुरन्त बाद जयकर बीमार पड़ गए। गांधीजी उनके निवास स्थान पर गए तथा उनके हाथ-पैर दबाए। उन्होंने जयकर की माता से कहा "आपके पुत्र ने देश के लिए बहुत परिश्रम किया है, मैं अपनी रोगनाशिनी शक्ति से उनकी पीड़ा शान्त कर दूंगा।"

बम्बई न्यायालय में वकालत से जयकर को अच्छी आमदनी थी। वे कांग्रेस को उदारता से धन देते थे। उसके निर्देश से उन्होंने अपने और अपने परिवार के ढेर-सारे विदेशी वस्त्रों की होली जलाई थी। गांधीजी के कहने से वे सूत भी कातने लगे थे। अप्रल 1925 में उन्होंने काफी सूत काता और उसे गांधीजी

के पास भेज दिया। गांधीजी ने इस भेंट के बदले में उन्हें एक चर्खा-उपहार में दिया, जिसे उन्होंने अपने पुत्र देवदास के द्वारा उनके पास भिजवाया। उन दिनों गांधीजी की इच्छा उन के लिए आदेश के समान थी। गांधीजी की इच्छा जान कर 24 जनवरी, 1921 को उन्होंने अपनी वकालत बन्द कर दी, और इस प्रकार वे और उनका परिवार एक बड़ी और निश्चित आमदनी से वंचित हो गया। बहुत से विधिवेत्ता इस बात से दुखी थे कि उन्होंने, जो एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, वकालत से मुंह मोड़ लिया। परन्तु गांधीजी तथा अन्य कांग्रेसी स्वभावत: उनके त्याग से खुश थे।

जयकर उत्साही कांग्रेस-कार्यकर्ता नहीं बन सके, परन्तु इससे गांधीजी के प्रति उनकी श्रद्धा पर कोई असर नहीं पड़ा। जयकर की मित्रमंडली बहुत बड़ी थी। बैरिस्टर ए०जी० मूलगांवकर उनके घनिष्ठ मित्र थे। 31 मार्च, 1973 को, मैंने मूलगांवकर से उनके दिवंगत मित्र के बारे में बहुत देर तक बातचीत की और उनसे पूछा कि जयकर के गांधी के प्रति द्वैधवृत्ति के रवैये का आप क्या कारण समझते हैं। उन्होंने बताया कि जयकर अत्यन्त धर्म परायण व्यक्ति थे तथा पुण्यशीलता और साधुता में उनकी स्वाभाविक श्रद्धा थी। उनकी दृष्टि में गांधीजी एक राजनीतिक नेता ही नहीं थे, कुछ और भी थे। वे एक महान् नैतिक और धार्मिक नेता थे तथा मानव जाति के सुधार के लिए धर्मयुद्ध के सेनानी थे। जयकर ने एक बार अपने मित्र से कहा था: "मूलगांवकर, मैं गांधीजी से गंभीर मतभेद रखता हूँ, परन्तु यदि वे मुझ से इस खिड़की से बाहर कूदने को कहें तो मैं कूद पड़ूंगा।" यह विस्मयकारी बात उन्होंने बम्बई में अपने ठाकुरद्वार निवास पर कही। अपनी आत्मकथा में उन्होंने यह स्वीकार किया है कि गांधीजी का असहयोग आन्दोलन सरकार की "अड़गेवाली नीति" के कारण अनिवार्य हो गया था।

अध्याय 7

उदारवादी

जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, जयकर महात्मा गांधी की तो प्रशंसा करते थे, परन्तु उनके राजनीतिक सिद्धान्तों की नहीं। कुछ वर्षों तक उन्होंने सोत्साह गांधीजी का अनुगमन किया। राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए वे अंग्रेजों के विरुद्ध एकमत्य निर्माण की आवश्यकता समझते थे। बलप्रयोग इसलिए निरर्थक था, क्योंकि एक निःशस्त्र देश में वह प्रभावी नहीं हो सकता था। अवांच्छित सरकार के साथ असहयोग ही समस्या से जूझने का एकमात्र साधन था। इस अस्त्र के विषय में गांधीजी का विचार एक दम आदर्शवादी था, परन्तु इससे उसकी प्रभावकारिता किसी प्रकार कम नहीं होती थी। एक प्रसिद्ध लेख में उन्होंने लिखा था : "मैं स्वप्न लोक में विचरण करने वाला व्यक्ति नहीं हूं। मैं व्यावहारिक आदर्शवादी हूं। अहिंसा धर्म केवल ऋषियों और सन्त महात्माओं के लिए ही नहीं है—अहिंसा उसी प्रकार हमारी जाति का धर्म है,जिस प्रकार हिंसा पशुजाति का है। पशु में आत्मा सुप्त रहती है और वह शारीरिक बल के अलावा और किसी धर्म को नहीं समझता। मनुष्य ऊंचे धरातल पर होता है और उसे एक ऊंचे धर्म— आत्मिक बल की आवश्यकता होती है।"

जयकर अहिंसा के पक्ष में प्रस्तुत किए गए इन दावों को ठीक नहीं समझते थे। उनका विश्वास था कि राजनीति में गांधीजी स्वप्नलोक में रहते हैं। निश्चय ही ईसामसीह के उपदेशों को गांधीजी ने जितनी अच्छी तरह समझा था, उतना और किसी ने नहीं, परन्तु संस्कृत और भारतीय दर्शन का उनका ज्ञान अधिक न था। जयकर लिखते हैं: "गांधीजी के बाद के अनुयायियों ने इस विचार का प्रतिपादन किया है कि कृष्ण ने भगवद्गीता में अहिंसा का उपदेश दिया है—यह विचार और कुछ नहीं, गीता के सीधे-सादे और असन्दिग्ध शब्दों को तोड़-मोड़ कर गांधीजी के राजनीतिक सिद्धान्त के मेल में लाने का प्रयास है। इससे समकालीन विद्वानों और दार्शनिकों को भारी धक्का पहुंचा है। इसमें संदेह है कि कृष्ण के उपदेशों की गांधीजी द्वारा की गई व्याख्या इस विचार के लिए कहां तक जिम्मेवार है।" जयकर ने ही नहीं, जैसा कि हम अभी देखेंगे, कांग्रेस में गांधीजी के अपने अनेक साथियों ने भी 'अहिंसा' का नया अर्थ लगाने तथा उसे

अवास्तविक पवित्रता से विभूषित करने से इन्कार कर दिया। परन्तु इस बात में सब एकमत थे कि गांधीजी के अस्त्र में ब्रिटिश सरकार को भारतीय इच्छा के सामने झुकाने की क्षमता है।

सितम्बर 1920 में, कलकत्ता में, कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में, जयकर ने अनिच्छापूर्वक इस हथियार की आवश्यकता स्वीकार की। उन्होंने कहा : "हमारे देशवासियों में से अधिकांश की राय में, हमारे उद्देश्य की सिद्धि के लिए, असहयोग एक त्वरित उपाय है।" परन्तु वे जल्दबाजी में काम शुरू करने के विरोधी थे। उन्होंने आगे कहा : "मैं यह महसूस करता हूं कि लोगों को यह अधिकार है कि वे अपने आपको तैयार करने के लिए अपनी शक्ति को संगठित करने के लिए, असहयोग के सही रूप को समझने के लिए तथा उसका प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए कुछ और समय की मांग करें।" उन्होंने कहा कि दशाब्दियों तक कांग्रेस संवैधानिकता के मार्ग पर चलती रही है; अचानक उसे नहीं छोड़ना चाहिए। उन्हें भय था कि बिना तैयारी का जन-आन्दोलन "क्षोभ, अव्यवस्था और कदाचित् अन्त में हिंसा" का रूप ले सकता है।

इस प्रकार, आरम्भ में, जयकर न तो असहयोग आन्दोलन के विरुद्ध थे और न उसे असंवैधानिक समझते थे। परन्तु बाद में, उन्हें इससे घृणा हो गई और कठोर शब्दों में वे इसकी निन्दा करने लगे। वे उसे गुप्त राजनीतिक नुस्खा बताते थे और पूछते थे कि क्या अहिंसा मनुष्य को कभी भी अधिक सदाचारी बना सकती है। सार्वजनिक मामलों में पीड़ा सहने का सिद्धान्त असंगत है और यह मान लेना दुराशामात्र है कि अपने आपको पीड़ा देने से विरोधी का 'हृदय-परिवर्तन' हो जाएगा। उनकी यह धारणा थी कि 'हृदय परिवर्तन' शब्द का इतना अधिक दुष्प्रयोग हुआ है कि "कालान्तर में वह उन (गांधीजी) के आलोचकों के लिए उपहास की वस्तु बन गया तथा उनके अनुयायी और प्रशंसक तक अपने परवर्ती भाषणों और लेखों में इस शब्द का इस्तेमाल बड़ी सावधानी से करते थे"

जयकर का विचार था कि गांधीजी के सिद्धान्तों ने, जिनमें धर्म और अहिंसा पर विशेष बल दिया जाता था, मुस्लिमों को राष्ट्रीय आन्दोलन से विमुख कर दिया था तथा लोगों में एकता की भावना नष्ट कर दी थी। यह धारणा अकेले उन्हीं की न थी। गांधीजी ने जिन्ना से कहा था कि आप मेरे आन्दोलन में शामिल हो कर "उस नए जीवन में भाग लें, जो देश के सामने विवृत हो गया है।" जिन्ना ने उत्तर दिया : "आपके तरीकों ने, लगभग प्रत्येक संस्था में, जहां भी आप अब तक

पहुंचे हैं तथा देश के सार्वजनिक जीवन में हिन्दुओं और मुसलमानों में ही नहीं, हिन्दुओं-हिन्दुओं और मुसलमानों-मुसलमानों, यहां तक कि पिता-पुत्रों में भी, अलगाव और विभेद के बीज पहले ही बो दिए हैं ।[1] ''

जयकर का विश्वास था कि देश की वास्तविक आवश्यकता अनुक्रियात्मक सहयोग की है, जिसका अर्थ था, ''शासन के कर्तव्यों, उपक्रमों और जिम्मेदारियों में भारतीयों का अधिकाधिक भाग''। उन्हें इस बात का दुःख था कि इस आदर्श के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता लोकमान्य तिलक अब जीवित न थे । उन्हें इस बात का भी दुःख था कि महाराष्ट्र, जो राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति अपने व्यावहारिक दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध था, गांधीवादी राष्ट्रवाद के ज्वार को रोकने के लिए कोई सु-विचारित प्रयत्न नहीं कर रहा था । लोकमान्य की राजनीति उतनी ही गतिशील थी, जितनी गांधीजी की । इसके अलावा उनकी राजनीति भारतीय आवश्यकताओं के सही मूल्यांकन पर आधारित थी । उदाहरणार्थ, वे बहिष्कार के विरोधी न थे, वे इसे युद्ध का विकल्प समझते थे । कर न देना भी उनकी राजनीतिक रणनीति का एक अंग था । परन्तु उनका आग्रह यह था कि कार्य की योजना व्यावहारिक होनी चाहिए । उनके विचार से, जन साधारण की समझ में न आने वाले बड़े-बड़े सिद्धांन्तों का राजनीति में कोई महत्व न था ।

तिलक को इस बात में तो कोई सन्देह न था कि गांधीजी एक महापुरुष थे, परन्तु उनके तरीकों की सफलता में उन्हें शक था । उन्होंने बताया कि शान्तिपूर्ण हड़ताल को रक्तरंजित झगड़े का रूप देकर अहिंसा के पुजारियों को बदनाम करना कितना आसान है । काम बन्द कराने में सफलता मिलने से नौकरशाही के अभिमान को ठेस पहुंचेगी और उसकी प्रतिष्ठा भी गिरेगी । इसलिए वह ऐसी स्थिति पैदा करके, जिसमें हिंसा अनिवार्य हो जाए, ऐसे आन्दोलनों को कुचलने में अपनी पूरी शक्ति लगा देगी । गोखले की भी यही धारणा थी । एक बार छात्रों की सभा में उन्होंने कहा था कि स्वतंत्रता सेनानियों का शान्तिपूर्ण रहने का संकल्प असंगत है । उन्होंने कहा : ''वे केवल शान्तिपूर्ण उपायों का सहारा लेने का संकल्प कर सकते हैं, परन्तु सरकार जो निश्चय ही अपने ही शासन को विनष्ट हुआ देखना नहीं चाहती, उन्हें अधिक समय तक शान्तिपूर्वक नहीं रहने देगी ।'' जयकर को इस मन्तव्य की सच्चाई का व्यक्तिगत अनुभव था । नवम्बर 1921 में,

1. मत्तूबुल हसन सैयद लिखित ''मोहम्मद अली जिन्ना,'' पृष्ठ० 278-80

जब प्रिंस आफ वेल्स, अपनी भारत यात्रा के सिलसिले में बम्बई पहुंचे थे, तो गांधीजी ने उनकी यात्रा के बहिष्कार का आह्वान किया था। इसकी प्रतिक्रिया तो अच्छी हुई, परन्तु असहयोग पूर्णतया-अहिंसक न रह सका। 19 नवम्बर को, जयकर को बम्बई की गलियों में क्रूरता से पीटा गया, जिससे वे अर्ध-मूच्छित हो गए।

इस प्रकार जयकर बड़ी दुविधा में पड़ गए। वे जानते थे कि स्वराज्य प्राप्त करने के लिए प्रार्थना और याचना का युग बीत चुका है। वे सीधी कार्रवाई की आवश्यकता भी समझते थे; परन्तु उन्हें भय था कि उसका परिणाम देश के हित में न होगा। इससे स्वेच्छाचारिता को बढ़ावा मिलेगा और देश का भविष्य गिरवी रखना पड़ेगा। अतः मध्यम मार्ग के रूप में उन्होंने अनुक्रियात्मक सहयोग को चुना। उन्होंने उसकी परिभाषा इस प्रकार की—"वर्तमान परिस्थितियों की अनुक्रिया में अथवा उनके अनुसार, जिनमें नौकरशाही का रुख प्रमुख है, सहयोग या विरोध। यह गुरिल्ला युद्ध के सिद्धान्त के समतुल्य है।"

उन्होंने न्यायालयों, विधानमंडलों और शासन में उत्तरदायित्वपूर्ण पदों के बहिष्कार करने के कांग्रेस के कार्यक्रम को अस्वीकार कर दिया। वे इस पक्ष में भी नहीं थे कि लड़कों और लड़कियों को शिक्षा-संस्थाओं से हटा लिया जाए और इस प्रकार उन्हें मंझधार में छोड़ दिया जाए। जयकर का यह सुविचारित मत था कि किसी भी संस्था को तब तक न तोड़ा जाए, जब तक कि उसका एक अच्छा विकल्प तैयार न कर लिया जाए। वे उस वर्ग के थे, जो शासन के दुर्ग में घुस कर अपनी उस सुदृढ़ स्थिति से और अधिक रियायतों के लिए आन्दोलन करने में अधिक लाभ समझता था। लोकमान्य तिलक के जीवन काल में तथा उनके बाद भी बहुत दिनों तक, महाराष्ट्र गांधीवाद को देश की राजनीतिक समस्या का एक मात्र समाधान मानने से इन्कार करता रहा; परन्तु अपने दर्शन को प्रभावी बनाने के लिए वह पर्याप्त जनमत तैयार करने में असफल रहा।

परन्तु गांधीवाद के प्रति जयकर का विरोध न तो असाधारण था और न विलक्षण। अनेक विचारशील लोग, जिनमें महात्मा गांधी के घनिष्ठ साथी भी थे, किसी न किसी अंश में उसके बारे में शंकालू थे। उनके राजनीतिक उत्तराधिकारी जवाहरलाल नेहरू उसे पूर्णतया उपयोगितावादी दृष्टिकोण से देखते थे। अहिंसा उन्हें केवल इस लिए मान्य थी, क्योंकि वे कोई दूसरा विकल्प नहीं सोच सकते थे। उन्होंने अन्तिम रूप से यह घोषित कर दिया था कि "यह केवल एक नीति और एक

तरीका हो सकता है, जिसके कुछ परिणाम निकलेंगे ।" कवीन्द्र रवीन्द्र यह समझते थे कि गांधीवाद के इस आदेश का पालन करना कठिन है कि सभी को कातना चाहिए । श्रीनिवास शास्त्री भी इसमें कोई बुद्धिमानी नहीं समझते थे कि सभी कांग्रेसियों से कहा जाए कि वे अनिवार्य रूप से खादी पहनें । मई 1926 में, उन्हें बाध्य होकर यह कहना पड़ा कि इस प्रकार का दबाव "सिद्धांत या अनुभव के प्रतिकूल है और कांग्रेस के कार्यक्रम से प्रत्यक्ष रूप से असम्बद्ध होने के कारण अनुचित है । वस्तुतः एक ऐसे संगठन में, जो सभी प्रगतिशील राजनीतिज्ञों को अपने क्रोड में समेटना चाहता हो, ऐसी बन्दिश लगाना अवैध है ।"

जयकर की गांधीजी के सिद्धान्तों की आलोचना वस्तुतः व्यापक थी । वे यह मानते थे कि महात्मा गांधीजी के जन-आन्दोलन ने लोगों में नई राजनीतिक जागृति पैदा कर दी थी और लोग अब विदेशी शासकों से नहीं डरते थे । उसने लोगों में त्याग की नई भावना तथा अपने में विश्वास की नई चेतना भी पैदा की थी, परन्तु उससे जो हानि हो रही थी, वह भी कम न थी । वकीलों से न्यायालयों का बहिष्कार करने को कहा गया था, परन्तु उन्होंने सुनी-अनसुनी कर दी थी । इसके अलावा, छात्रों से कहा गया था कि वे शिक्षा-संस्थाओं में पढ़ने न जाएं । शिक्षा-संस्थाओं के बहिष्कार से शिक्षा की भारी हानि हो रही थी । यह विशेष रूप से महसूस किया जा रहा था कि कांग्रेस-कार्यकर्ता मौजूदा संस्थाओं के तोड़ने पर बहुत अधिक ध्यान देते थे और राष्ट्रीय महत्व की नई संस्थाओं के निर्माण एवं रख-रखाव पर कम ।

जयकर को इस बात का दुःख था कि जिस समय सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा के लिए उत्साह अपनी चरम सीमा पर था, उस समय भी कांग्रेसी नेता बम्बई में मौजूदा कालेजों के स्थान पर एक नया कालेज स्थापित न कर सके । भाषणबाजी और भावोत्तजन में ही "एक महान अवसर हाथ से निकाल दिया गया" । उन्होंने बताया कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के लगभग, 50,000 छात्र बेकार हो गए । उन्होंने लिखा : " कुछ लोग इस दुर्गति की प्रशंसा कर सकते हैं, परन्तु बहुत से ऐसे हैं, जो इसे एक विनाशकारी घटना समझ कर दुःखी और निराश हैं । हम युवकों के त्याग के बहुत अधिक प्रयोग करके देख चुके हैं । अब हम देखते हैं कि हमारे देश के लड़कों की एक बहुत बड़ी संख्या देश सेवा की एक अस्पष्ट अभिलाषा मन में लिए गलियों-गलियों में मारी फिर रही है ।"

जयकर ने गांधीवाद के क्रियात्मक रूप का यह स्पष्ट मूल्यांकन नवम्बर 1921 में, एक राजनीतिक सम्मेलन में दिए गए अध्यक्षीय भाषण में किया था। उन्होंने यह भी शिकायत की कि कांग्रेस की नई राजनीति ने "पाखंड, असहनशीलता, छल-कपट और दम्भ का दूषित वातावरण पैदा कर दिया है"। पार्टी में "शालीनता, आत्मसम्मान और ईमानदारी" के लिए कोई स्थान नहीं है। अपने इस आरोप के समर्थन में, जयकर ने उस समय के गांधीजी के अनुयायियों के व्यवहार का वर्णन किया, जब तथाकथित रीडिंग आफर (प्रस्ताव), जिसका उल्लख बाद में किया जाएगा, दो सुप्रसिद्ध राष्ट्रवादियों द्वारा उनके पास लाया गया। उन्होंने लिखा : "जब यह सन्देश अहमदाबाद में गांधीजी को दिया गया, तो जिन्ना और मैं दोनों उनके अति निकट बैठे हुए थे। इस प्रस्ताव को पढ़कर गांधीजी चुप हो गए और गंभीरता से सोचने लगे, परन्तु उनके कुछ अभिमानी समर्थकों ने यह टिप्पणी की कि इसे ऐसे दूतों द्वारा भेजने के बजाए, जो कांग्रेस द्वारा मान्य नहीं है, वायसराय को स्वयं अहमदाबाद आकर यह प्रस्ताव प्रस्तुत करना चाहिए था तथा गांधीजी से बातचीत करनी चाहिए थी। वायसराय के प्रस्ताव के ऐसे स्वागत पर जिन्ना और मैं एक दूसरे की ओर देखने लगे, परन्तु गांधीजी चुप ही रहे।"[2]

कोई राजनीतिक नेता, चाहे उसमें कितने ही श्रेष्ठ गुण क्यों न हों, यदि वह कांग्रेस पार्टी का नहीं है, तो कांग्रेसियों का श्रद्धाभाजन नहीं बन सकता था, बिना इस बात का विचार किए कि वह उसकी नीतियों और कार्यक्रमों को दिल से मानता है या नहीं। जवाहरलाल नेहरू भी, जो अपने उदार दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध थे, उस कमजोरी से ऊपर नहीं उठ सके थे। उन्हें उदारवादी राजनीतिज्ञों से बहुत चिढ़ थी और वे उनकी खिल्ली उड़ाया करते थे। उन्होंने लिखा है : "उदारता चाहे कितनी ही प्रशंसनीय क्यों न हो, यह एक जगमगाता और स्फुरणशील गुण नहीं है। यह जड़ता पैदा करती है और इसीलिए, दुःख है कि भारतीय उदारवादी दल, 'जड़ सैन्यदल' बन कर रह गया है"।

मैंने यह दिखाने के लिए इन तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि एक खास रवैया किस प्रकार कांग्रेस की राजनीति का प्रमाण-चिन्ह बन गया था। राष्ट्रीय स्वाधीनता से पहले पार्टी में बहुत से कपटी और दम्भी पैदा हो गए थे।

2. "द स्टोरी आफ माई लाइफ," भाग 1, पृ० 354–59, 361, 472–73, 504–05

1937 में, जब इसने शासन की बागडोर संभाली, तब निश्चय ही इसने अच्छा काम किया परन्तु विवेकशील पुरुषों ने गांधीजी के सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर्विरोध भी देखा। गांधीजी का व्यक्तिगत चरित्र वस्तुतः निर्दोष था, परन्तु उनके कुछ ही अनुयायी ऐसे थे जो उनके जैसे आत्मत्याग और नैतिक महत्व की भावना रखते थे।

जयकर जैसे व्यक्तियों द्वारा पोषित उदारवादी सिद्धान्त पूर्णतया निरर्थक अथवा भारतीय राजनीति से असंगत नहीं था। उदारवादी नहीं चाहते थे कि देशभावी खतरों और जिम्मेदारियों के लिए सावधानी पूर्वक तैयारी किए बिना राजनीतिक गन्तव्य पर पहुंचने के लिए दौड़ लगाए। स्वतन्त्र भारत केवल वैसी ही शासन प्रणाली पाने की आशा कर सकता था जैसी उसके ब्रिटिश शासकों को ज्ञात थी। संसदीय लोकतन्त्र, जिसमें जनता ही राष्ट्र के भाग्य का नियमन करती है, सबसे अधिक कठिन शासन-प्रणाली है। अनुशासन, राजनीतिक जागृति और उत्कट राष्ट्रीय चेतना कुछ ऐसे गुण हैं, जो स्वतन्त्र संस्थाओं को चलाने वाले राष्ट्र में, भरपूर मात्रा में, होने आवश्यक हैं। भारी अज्ञान और गरीबी तथा व्यक्ति पूजा की भावना के कारण, भारतीय जनता से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह लम्बे समय तक सावधानीपूर्वक प्रशिक्षण प्राप्त किए बिना, एक अत्यन्त जटिल संवैधानिक मशीनरी का सफलतापूर्वक संचालन करने में कोई उपयोगी योगदान कर सकेगी। यही कारण है कि, उदारवादी दल—जिसका प्रतिनिधित्व जयकर करते थे, यह चाहता था कि प्रमुख राष्ट्रीय संगठन अपने प्रतिनिधियों को विधान मंडलों में भेजे तथा उन्हें शासन में उत्तरदायित्वपूर्ण पद स्वीकार करने दे, ताकि वे एक आधुनिक राज्य के प्रशासन के लिए आवश्यक व्यावहारिक अनुभव प्राप्त कर सकें।

जब से गांधीजी ने कांग्रेस का नेतृत्व संभाला, तब से कौंसिल में प्रवेश के बारे में उस पार्टी की नीति न तो सुदृढ़ थी और न तर्कसंगत। वे ब्रिटिश भारतीय विधान-मंडलों के घोर विरोधी थे। परन्तु कांग्रेस में कुछ ऐसे लोग भी थे जो "विधान-मंडल-प्रवेश" को उतना ही महत्व देते थे, जितना पार्टी के किसी अन्य कार्य को। सी० आर० दास और मोतीलाल नेहरू इसी मत के थे। जब उनकी बात नहीं मानी गई तो उन्होंने 1923 में एक नया संगठन बना लिया और उसका नाम स्वराज्य पार्टी रखा। 14 अक्तूबर को प्रकाशित अपने घोषणा-पत्र में स्वराज्य पार्टी ने

भारतीय महत्वाकांक्षाओं के प्रति सरकार की उदासीनता पर क्षोभ प्रकट किया तथा विधान मंडलों में ''शासन के वर्तमान तंत्र तथा प्रणाली पर नियन्त्रण करने'' के जनता के अधिकार को स्थापित करने की घोषणा की।

स्वराज्यवादियों ने देश के विभिन्न विधानमंडलों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। जयकर, जो अपने पक्ष को अत्यन्त सुबुद्धता के साथ प्रस्तुत करने के लिए अपनी वक्तृत्वकला और योग्यता के लिए प्रसिद्ध थे, बम्बई विधानमंडल में पार्टी के शक्ति-स्तम्भ सिद्ध हुए। मोतीलाल नेहरू ने केन्द्रीय असेम्बली में विपक्ष के नेता के रूप में स्मरणीय भूमिका अदा की। वे अपने दृष्टिकोण में एकदम व्यावहारिक थे और भावावेश या भावुकता से वशीभूत नहीं होते थे। उन्होंने अत्यन्त संकोच के साथ गांधीवादी राजनीति में प्रवेश किया था और यदि उनके पुत्र ने निःसंकोच होकर गांधीजी को अपना विश्वसनीय परामर्शदाता स्वीकार न किया होता तो कदाचित् वे उससे दूर ही रहते। वे ब्रिटिश संस्थाओं को पसन्द करते थे और इस देश के लिए उन्हें महत्वपूर्ण समझते थे। वे कानून के शासन पर अधिक बल देते थे।

फिर भी, उन्होंने अनुक्रियात्मक सहयोगवादियों के विरुद्ध भीषण युद्ध छेड़ दिया और जयकर को विशेष रूप से अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाया। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, जयकर पंडित मोतीलाल के अनेक स्पृहणीय गुणों की दिल से प्रशंसा करते थे, परन्तु वे यह भी जानते थे कि उनमें सहनशीलता और स्थिर चित्त-वृत्ति की कमी थी। मोतीलाल की पुत्री श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने बताया है कि नेहरू परिवार अपने झगड़ालूपन के लिए प्रसिद्ध है।[3] निश्चय ही, मोतीलाल को यह अधिकार तो था कि वे मूर्खों को पास न फटकने दें, परन्तु कभी-कभी वे बुद्धिमान और योग्य व्यक्तियों की बात भी नहीं सुनते थे। वे और असेंब्ली में उनके सहायक विठ्ठलभाई पटेल एकमत न हो सके। उनके पारस्परिक वैमनस्य का प्रमुख कारण यह था कि पटेल भी कम ''कलहप्रिय'' न थे। जब पटेल असेम्बली के 'स्पीकर' बन गए तो उनके कलह की कटुता काफी कम हो गई।

नीचे के उदाहरण से उपर्युक्त तथ्य पर और भी अधिक प्रकाश पड़ता है। एक बार मोतीलाल और जयकर नमक पर, जो गरीबों का एक खाद्य पदार्थ है, कर लगाए जाने के औचित्य पर विचार कर रहे थे। मोतीलाल ने कहा कि मैं नमक

3. श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित द्वारा लिखित ''सो आई बिकेम ए मिनिस्टर'', किताबिस्तान, 1939, पृ० 12

कानून को अधिनियम-ग्रन्थ में रहने के पक्ष में हूं। जयकर ने याद दिलाया कि महात्मा गांधी इसके विरुद्ध हैं और पूछा कि यदि आप स्वतंत्र भारत के प्रधान मंत्री बनें तो परिस्थिति का सामना किस प्रकार करेंगे। शेष कहानी स्वयं जयकर के शब्दों में ही सुनिए : "मोतीलाल खिल्ली उड़ाते हुए हंसे और बोले:' 'क्या आप सोचते हैं गांधीजी मेरी सरकार के विरुद्ध ऐसा आन्दोलन छेड़ सकेंगे? मैंने कहा, 'हां'। तब मोतीलाल बोले–"अच्छा, मैं केवल यह कह सकता हूं कि उस स्थिति में मेरी सरकार गांधीजी को ऐसे स्थान पर ले जाएगी, जहां ले जाने की हिम्मत यह सरकार नहीं कर सकती"। हम दोनों हंसने लगे......"[4]

जयकर और मोतीलाल एक ही पार्टी के थे, राजनीति पर एक-से विचार रखते थे और दोनों में प्रगाढ़ मैत्री थी। फिर भी, पद-ग्रहण के प्रश्न पर दोनों में तीव्र विवाद चल रहा था। अक्तूबर 1925 में, मध्य प्रान्त की विधान परिषद के अध्यक्ष ताम्बे ने, मोरोपन्त जोशी के बाद, गवर्नर की एक्जीक्यूटिव कौंसिल की सदस्यता स्वीकार कर ली। वे स्वराज्य पार्टी के सदस्य थे और त्यागपत्र देने से पहले ही उन्होंने यह कदम उठा लिया था। उनका यह तर्क, कि उन्होंने अपनी व्यक्तिगत हैसियत से यह पद स्वीकार किया था, विश्वास योग्य न था। जयकर ने लिखा : "यह स्पष्टीकरण मनगढ़न्त था, क्योंकि ताम्बे ने पद स्वीकार करने से पहले स्वराज्य पार्टी से विधिवत् त्यागपत्र नहीं दिया था।"

एन० सी० केलकर ने, जो उच्च कोटि के विद्वान, महान् देशभक्त और लोकमान्य तिलक के दाहिने हाथ माने जाते थे, ताम्बे को, उनके द्वारा सरकार में एक महत्वपूर्ण पद स्वीकार करने पर तार द्वारा बधाई सन्देश भेजा। ऐसा करने के दो कारण थे। पहला तो यह, कि ताम्बे उनके पुराने और प्रतिष्ठित मित्र थे। दूसरा यह कि उनका यह मत था कि तर्कानुसार एवं देश के व्यापक हित में कौंसिल-प्रवेश के कार्यक्रम को सरकार में महत्वपूर्ण पदों की स्वीकृति की ओर बढ़ाना चाहिए। उन्होंने बताया कि मैंने मोतीलाल नेहरू को स्कीन कमेटी में शामिल होने की सलाह दी है। कमेटी जून 1925 में, सर एन्ड्रयू स्कीन की अध्यक्षता में भारतीय सेना के अधिकारी-पदों पर भारतीयों की नियुक्ति के क्षेत्र के विस्तार की सिफारिश करने के लिए बनाई गई थी। केलकर ने प० मोतीलाल को स्कीन कमेटी में काम करने के लिए इसलिए कहा था क्योंकि इससे प्रभावकारी सहयोग अपेक्षित

4. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 1, पृ० 348

था। उन्होंने मोतीलाल से कहा था कि स्वराज्यवादी और गैर-स्वराज्यवादी में पद-ग्रहण किए जाने के बारे में बहुत अंतर था। केलकर ने कहा : "अब समय आ गया है, जब स्वराज्य पार्टी को अपना दृष्टिकोण व्यापक बनाना चाहिए तथा सरकार के गढ़ों में विरोध की भावना जगाने के लिए अधिकाधिक सुविधाएं प्रदान करनी चाहिए ।

स्थिति को चतुराई से संभालने की आवश्यकता थी । मोतीलाल, जो अखिल भारतीय स्वराज्य पार्टी की कार्यकारिणी के अध्यक्ष थे, ऐसी परिस्थितियों को समुचित विवेक एवं गंभीरता से सुलझाने में सिद्धहस्त माने जाते थे। परन्तु इस अवसर पर उनकी प्रतिक्रिया भिन्न प्रकार की थी। जैसा कि जयकर ने कहा है, वे अपने "स्वाभाविक गौरव और संयम" को भूल गए और पार्टी के अनेक सम्मानित सदस्यों पर खुल कर प्रहार करने लगे । उन्होंने कहा कि जयकर और केलकर तथा उनके साथी एम० एस० अणे और डा० बी० एस० मुंजे "पार्टी के रुग्ण अंग हैं" जिन्हें काट कर अलग करने की आवश्यकता है। ताम्बे विवाद पर विचार करने के लिए उन्होंने एक नवम्बर को पार्टी की कार्यकारिणी की बैठक बुलाई । इस बैठक से पहले 27 अक्तूबर को जयकर ने अपना दृष्टिकोण समझाने के लिए एक वक्तव्य निकाला। उन्होंने यह तो मान लिया कि इतनी जल्दबाजी से पद-स्वीकार करके ताम्बे ने ठीक नहीं किया, परन्तु यह कहा कि इस घटना में बड़े-बड़े प्रश्न शामिल हैं।

जयकर ने मोतीलाल के इस सिद्धान्त को कि किसी भी व्यक्ति को अपनी पार्टी के विरुद्ध बोलने का साहस तब तक नहीं करना चाहिए, जब तक कि वह उससे अलग न हो जाएं, मानने से इन्कार कर दिया। भाषण-स्वातन्त्र्य के अपने अधिकार को अमल में लाने के लिए वे सभी परिणामों को भुगतने के लिए तैयार थे। फिर भी, उन्होंने मोतीलाल को स्मरण दिलाया कि स्वयं स्वराज्य पार्टी उस विद्रोह की सन्तान है, जो महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के उन अन्य वरिष्ठ सदस्यों के विरुद्ध किया गया था, जिन्होंने दृढ़ता से कौंसिल-प्रवेश का विरोध किया था। हाल ही में, उन्होंने बम्बई प्रेसीडेंसी का व्यापक दौरा किया था और यह देखा था कि अनेक स्वराज्यवादी, जिनमें महात्मा गांधी के पक्के अनुयायियों के गुट के लोग भी शामिल थे, इस परिणाम पर पहुंचे थे कि पार्टी को पद और उत्तरदायित्व स्वीकार कर लेना चाहिए ।

उनका मत था कि शासन की जिम्मेदारी संभालने से इन्कार कर लेने से राष्ट्रीय हित की अपार हानि हुई है, क्योंकि इससे प्रतिक्रियावादियों को कट्टर नौकरशाही से मिलने का मौका मिल गया है। स्वराज्यवादियों के सामने केवल दो विकल्प थे—या तो वे सविनय अवज्ञा आन्दोलन में शामिल होते या अनुक्रियात्मक सहयोग की नीति अपनाते। पहले मार्ग का अवलम्बन एकदम पागलपन था। जयकर का मत उनका अलग व्यक्तिगत मत न था, बल्कि वह बम्बई प्रान्त के स्वराज्यवादियों द्वारा व्यापक रूप से समर्थित था। उनके विचार प्रकाशित होने से दो दिन पहले, उनकी पार्टी के 21 सदस्यों ने सार्वजनिक रूप से यह कहा कि ताम्बे घटना ने हमें बाध्य कर दिया है कि हम तिलक की अनुक्रियात्मक सहयोग की नीति पर गम्भीरता से विचार करें।

जयकर और केलकर के विद्रोह को समाप्त करने के लिए मोतीलाल नागपुर से बम्बई गए। दोनों ने अखिल भारतीय स्वराज्य पार्टी की कार्यकारिणी से त्यागपत्र देकर आक्रमण का मुकाबला करने की तैयारी कर ली। जयकर का पक्ष स्पष्ट था। उनका विश्वास था कि विधानमंडल-प्रवेश की नीति का तर्कसंगत परिणाम कार्यपालिका की जिम्मेदारी स्वीकार करना होना चाहिए। वे ताम्बे के गवर्नर की एक्जीक्यूटिव कौंसिल का सदस्य बनने और विट्ठलभाई पटेल के केन्द्रीय विधानमंडल का स्पीकर होने में कोई भेद नहीं समझते थे। दोनों ही वेतन के रूप में 'दूषित' धन प्राप्त करते थे। पार्टी दोनों की ही सक्रिय सेवाओं से वंचित हो गई थी। इसके अलावा, संविधान में नामांकित और निर्वाचित पदों में कोई भेद नहीं किया गया था। वे चाहते थे कि स्वराज्यवादी मिल कर पद-ग्रहण के प्रश्न पर सक्रिय विचार करें।

यह तर्क अपरिहार्य और अकाट्य था। पंडित मदन मोहन मालवीय और लाला लाजपतराय जैसे प्रतिष्ठित कांग्रेसी इस स्वराज्य पार्टी में शामिल नहीं हुए थे, क्योंकि वे कार्यपालिका पदों को स्वीकार करने में झिझकते थे। इस प्रश्न के प्रति मोतीलाल का अपना रवैया असंगत था। उनके सामाजिक व्यवहार ने ही नहीं, असेम्बली में उनके संयत भाषणों ने भी उन्हें नौकरशाहों का प्रिय बना दिया था। उन्होंने सरकारी पक्ष से कहा– "हम यहां कुछ ऐसा करने आए हैं, जैसा अभी तक नहीं कर सके। ......हम असहयोगवादी हैं, परन्तु यहां हम आपको अपना सहयोग देने आए हैं, बशर्ते कि आप हमारे साथ सहयोग करें। हम इसीलिए यहां हैं। यदि आप इसे लेने को तैयार हैं, तो हम आपके आदमी हैं, यदि नहीं, तो

हम, आदमियों की तरह अपने अधिकारों के लिए खड़े हो जाएंगे और असहयोगी बने रहेंगे।''

जयकर ने पूछा कि क्या पंडित मोतीलाल ने वस्तुतः अनुक्रियात्मक सहयोग की ही वकालत नहीं की। उन्होंने केलकर को सुझाया कि उन्हें विधानमंडलों पर कब्जा करने तथा उत्तरदायित्वपूर्ण प्रशासनिक पदों को प्राप्त करने के लिए स्वराज्य पार्टी छोड़ कर एक नई पार्टी बनानी चाहिए। उन्होंने कहा कि उन्हें "पुराने होमरूल लीग सदस्यों, तिलकानुयायियों और राष्ट्रवादियों उदाहरणार्थ बपटिस्टा, खापर्डे, जिन्ना जैसे लोगों तथा अन्यों का एक मजबूत दल बनाना चाहिए और इस प्रकार शक्ति-सम्पन्न होकर चुनाव लड़ना चाहिए।''

स्वराज्य पार्टी के सदस्यों ने केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान मंडलों में अपनी योग्यता प्रदर्शित कर यह दिखा दिया था कि देश में संसदीय प्रतिभा की कमी नहीं है फिर भी सी० आर० दास और मोतीलाल ने जिस उद्देश्य से स्वराज्य पार्टी बनाई थी, वह पूरा नहीं हुआ। 1924 में मोतीलाल ने यह मांग की थी कि "पूर्ण उत्तरदायित्वपूर्ण शासन'' की योजना की सिफारिश करने के लिए एक गोल मेज सम्मेलन बुलाया जाना चाहिए, परन्तु होम मेम्बर सर माल्कम हेली ने यह मांग, वही पुराना बहाना बना कर ठुकरा दी कि देश में एकता का अभाव है। सुधारों पर अमल की जांच के लिए, सर एलेक्जेंडर मुडीमैन की अध्यक्षता में उसी वर्ष जो समिति बनाई गई थी, वह भी निरर्थक सिद्ध हुई। दो वर्ष बाद, मार्च में, मोतीलाल और उनके साथी "सदन में अपनी उद्देश्य-सिद्धि की विफलता'' स्वीकार करके असेम्बली से बाहर आ गए। अनुक्रियात्मक सहयोग में विश्वास रखने वालों ने उनका अनुकरण नहीं किया।

जयकर ने अपनी आत्मकथा में तथाकथित 'रीडिंग प्रस्ताव' पर विस्तार से विचार किया है। इससे पता चलता है कि एक दूसरे कांग्रेस दिग्गज सी० आर० दास दिल से उतने ही सहयोगवादी थे, जितने उनके साथी और स्वराज्य पार्टी के सह-संस्थापक मोतीलाल नेहरू। लार्ड रीडिंग ने, जो पहले सर रुफस इसाक्स कहलाते थे, अप्रैल 1921 में भारत में वायसराय पद का भार ग्रहण किया। वह ब्रिटिश सरकार का लाड़ला था जो यह समझने लगी थी कि इंग्लैंड के उपनिवेश के रूप में भारत का दर्जा बिलकुल ठीक है। रीडिंग एक उच्च कोटि का वकील था जो अपने देश में और साम्राज्य में ऊंचे-ऊंचे पदों पर रह चुका था। वह इंग्लैंड का महान्यायवादी और मुख्य न्यायाधिपति रह चुका था। अमरीका में

राजदूत के पद पर काम करने से उसमें अनुभव और प्रतिभा का और भी अधिक विस्तार हो गया था। भारत में वायसराय के रूप में नियुक्त होने के बाद, यह विश्वास किया जा सकता था वह ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति, वैभव तथा उसके प्राचीन गौरव की पूर्ण रक्षा करेगा।

जब रीडिंग आया तो देश में पंजाब, खिलाफत और स्वराज्य के प्रश्नों को लेकर अशान्ति फैली हुई थी। उसके अनेक लोकप्रिय नेता, दण्ड विधि संशोधन अधिनियम और राजद्रोह अधिनियम जैसे घृणित कानूनों के उपबन्धों के अधीन जेलों में थे। परिस्थितियां निश्चय ही प्रिंस आफ वेल्स की यात्रा के अनुकूल नहीं थीं। ब्रिटिश राज-परिवार का एक सदस्य, ड्यूक आफ कनाट, वर्ष के आरंभ में यहां आ चुका था। भारत जैसा गरीब देश, जिसका युद्ध काल में खून भी चूस लिया गया था, एक ही वर्ष में, ब्रिटिश राज-परिवार के सदस्यों की दो-दो व्ययसाध्य यात्राओं का बोझ उठाने में असमर्थ था।

यह स्पष्ट नहीं है कि उथल-पुथल के उन दिनों में वायसराय भारत में प्रिंस आफ वेल्स की उपस्थिति क्यों आवश्यक समझता था। एक कारण यह प्रतीत होता है कि रीडिंग राजा के प्रति भारतीय जनता की भावात्मक अनुरक्ति का लाभ उठाना चाहता था। महात्मा गांधी के निजी सहायक कृष्ण दास ने एक सरकारी दस्तावेज की ओर ध्यान आकर्षित किया था, जिसमें राजकुमार की प्रस्तावित यात्रा के कारण बताए गए थे। यह दस्तावेज भारत सरकार के केन्द्रीय सूचना-कार्यालय के निदेशक का प्रतिवेदन था, जिसमें कहा गया था कि भारत की "अनभिज्ञ एवं अशिक्षित जनता" व्यक्तिगत शासन को अन्य सभी प्रकार की शासन-प्रणालियों से अधिक पसन्द करती है तथा "शक्ति की शान-शौकत और तड़क-भड़क से" चकित रह गई है। अधिकारियों को आशा थी कि "पूर्वी ऐश्वर्य की पृष्ठभूमि की सहायता से पश्चिम का राजकुमार पूर्व के रहस्यमय सन्त के व्यक्तिगत प्रभाव को ग्रहण लगा सकता है।" इसका संकेत स्वभावतः महात्मा गांधी की ओर था। यह कहा गया कि यद्यपि प्रान्तों के गवर्नर राजकुमार की यात्रा के विरुद्ध थे, फिर भी रीडिंग ने उसके पक्ष में निर्णय किया। राजकुमार 24 दिसम्बर, 1921 को कलकत्ता आने वाला था।

पंडित मालवीय देश के लिए कोई भी त्याग करने के लिए सदा तैयार रहते थे, फिर भी, उदारवादियों की भांति, वे संयम में दृढ़ विश्वास रखते थे। उन्होंने

कलकत्ता में वायसराय की उपस्थिति का लाभ उठाया और 21 दिसम्बर को उससे मिले। मालवीयजी इस बात के लिए उत्सुक थे कि उनके जो देशवासी जेलों में बन्द हैं, उन्हें छोड़ दिया जाए। उनका विचार था कि राजकुमार की यात्रा ने सरकार के लिए अपने दमनकारी कदम वापस लेने का अनुकूल अवसर प्रदान किया है। वायसराय की भारत के लोगों को सान्त्वना देने में कोई रुचि न थी तथा भारतीय नेताओं के साथ संवैधानिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श करने के लिए गोलमेज सम्मेलन बुलाने का निश्चय ही उसका कोई इरादा न था। यदि कांग्रेस, राजकुमार की यात्रा के विरोध में की जाने वाली प्रस्तावित हड़ताल को वापस ले लेती तो निःसन्देह वह खुश होता। इस विषय में मालवीयजी के अपने शब्द इस प्रकार हैं: "जब मैं उस (रीडिंग) के पास गया तो न तो वह गोलमेज सम्मेलन के लिए राजी हुआ और न मेरे किसी प्रस्ताव से सहमत हुआ। एक शिष्टमंडल से मिलने के लिए लार्ड रीडिंग को मनाने के लिए मुझे उससे तीन बार साक्षात्कार करना पड़ा।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वायसराय न तो दमनकारी कानूनों को वापस लेने को राजी था और न भारतीय नेताओं के साथ संवैधानिक प्रश्नों पर विचार विमर्श के लिए। उस समय अधिकांश कांग्रेस-नेता जेलों में थे। उनमें ये शामिल थे—दोनों नेहरू, सी० आर० दास, मौलाना अब्दुल कलाम आजाद तथा दोनों भाई मौलाना मोहम्मद अली और मौलाना शौकत अली। पिछले दोनों नेता खिलाफत आन्दोलन के सिलसिले में उत्तेजक भाषण देने के आरोप में गिरफ्तार किए गए थे।

मालवीयजी कांग्रेस के उन थोड़े से प्रथम श्रेणी के नेताओं में थे, जो अभी तक गिरफ्तार नहीं हुए थे। वे वायसराय के पास एक शिष्टमंडल ले जाने के लिए अपने प्रस्ताव पर गांधीजी का सहयोग प्राप्त करने को उत्सुक थे। इसलिए उन्होंने 18 दिसम्बर को पंडित हृदयनाथ कुंजरू और जमनादास द्वारकादास को, अपने प्रस्ताव देकर गांधीजी से मिलने के लिए अहमदाबाद भेजा था। जयकर के इन घटनाओं के बारे में भिन्न विचार थे। उन्होंने समझा कि दोनों दूत, वायसराय की एक्जीक्यूटिव कौंसिल के ला-मेंबर सर तेजबहादुर सप्रू और डा० एनी बेसेंट, इस शर्त पर कि कांग्रेस राजकुमार की यात्रा का बहिष्कार न करने के लिए राजी हो जाएं, यात्रा से काफी पहले ही, कलकत्ता में एक गोलमेज सम्मेलन करने के सरकार के इरादे से महात्मा गांधीजी को अवगत कराने के

लिए वायसराय के इशारे पर भेजे गए हैं। जैसा कि जयकर को विश्वास था, गांधीजी पहले तो वायसराय से मिलने के प्रस्ताव से सहमत हो गए तथा अपनी स्वीकृति उन दोनों आदमियों को दे दी, परन्तु बाद में विचार बदल दिया।

इस घटना में महात्मा गांधी का रवैया आरम्भ से ही स्पष्ट और असन्दिग्ध था। मालवीय जी के 16 दिसम्बर के तार के उत्तर में उन्होंने कहा था कि यदि सरकार ने पंजाब, खिलाफत और स्वराज्य सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिए वास्तविक इच्छा प्रकट नहीं की तो प्रस्तावित सम्मेलन प्रसव से पूर्व ही मर जाएगा। इस बीच, मालवीयजी ने दास और मौलाना आजाद से प्रार्थना की कि वे उनके प्रस्तावों पर गांधीजी की स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयत्न करें। ये दोनों नेता कलकत्ता में अलीपुर जेल में थे। उन्होंने गांधीजी से तार द्वारा अनुरोध किया कि यदि सरकार राजनीतिक बन्दियों को छोड़ने, कठोर कानूनों को वापस लेने तथा भारतीय प्रतिनिधियों के साथ बैठ कर संवैधानिक विषयों पर विचार-विमर्श करने के लिए राजी हो जाए, तो आप हड़ताल वापस ले लें। गांधीजी ने उत्तर दिया कि प्रस्तावित सम्मेलन का ब्यौरा स्पष्ट रूप से परिभाषित होना चाहिए तथा वे बन्दी भी छोड़े जाने चाहिए, जो फतवों के लिए बन्दी बनाए गए हैं--फतवों में कराची के फतवे भी शामिल होने चाहिए। दूसरे शब्दों में, उन्होंने अपराध के स्वरूप का विचार किए बिना सभी राजनीतिक बन्दियों को मुक्त करने की मांग की।

ऐसी मांगें रखने में गांधीजी बिलकुल सही थे। परन्तु इनके कारण दास क्रुद्ध हो गए। उनका ख्याल था कि गांधीजी का तथा कथित दुराग्रह ही, देश को होमरूल के एकदम नजदीक ले जाने के लिए मिले एक महान् अवसर को खो देने के लिए जिम्मेदार था। कदाचित् उनका यह विश्वास था और जयकर का तो निश्चय ही था कि गोलमेज सम्मेलन के परिणामस्वरूप प्रान्तों को पूर्ण स्वशासन प्राप्त हो जाएगा तथा केन्द्र में द्वैध शासन स्थापित हो जाएगा। इन अकाल-प्रसूत प्रस्तावों के बहुत दिनों बाद, दास ने गांधीजी पर तीव्र प्रहार करना शुरू कर दिया। 1 जून, 1923 को अपने एक भाषण में, उन्होंने देश के प्रति गांधीजी के बलिदानों की तो प्रशंसा की, परन्तु इस बात के लिए निन्दा की कि उन्होंने देश के हितों को आगे बढ़ाने के लिए प्राप्त एक महान् अवसर खो दिया। गांधीजी का नामोल्लेख करते हुए उन्होंने कहा : "अत्यन्त गर्वोन्मत्त सरकार तक आपके सामने

झुक गई । शर्तें मेरे पास आई थीं । परन्तु उस समय मैं जेल में था, इसलिए मैंने वे मुख्यालय भेज दी थीं । यदि मैं जेल में न होता, तो मैं देश को उन्हें मानने को बाध्य कर देता । उनके मान लिए जाने के बाद, आप देश की कुछ दूसरी ही हालत देखते ।"

जब हम इस दावे को मालवीयजी के उस स्पष्ट वक्तव्य के प्रकाश में देखते हैं कि वायसराय की भारत की मांग को मानने में कोई रुचि न थी, तो यह बड़ा विचित्र लगता है । कलकत्ता-वार्ता भंग होने के समाचार सुन कर दास की जो मनः स्थिति हुई, उसका एक स्पष्ट चित्र बोस ने प्रस्तुत किया है । दास "क्रोध और घृणा से पागल हो गए । उन्होंने कहा कि जीवन भर का मौका हाथ से निकल गया । राजनीतिक बन्दियों तथा साधारण जनों की यही धारणा थी कि महात्मा जी ने भारी गलती की है ।"[5]

यह स्पष्ट है कि कांग्रेस और सरकार के मध्य समझौता कराने के लिए मालवीय जी द्वारा किए गए प्रयत्नों को अत्यधिक महत्व दिया गया । महात्मा गांधी वायसराय के लिए अजनबी न थे । मई में शिमला में वे रीडिंग से कई बार मिल चुके थे । उस समय दोनों को देश के राजनीतिक भविष्य पर अपने विचारों के आदान प्रदान का पर्याप्त अवसर मिला था । यदि वायसराय वस्तुतः गांधीजी से समझौता करना चाहता था, तो उसे किसी तीसरे व्यक्ति को बीच में डालने की आवश्यकता न थी । वह मनुष्यों का चतुर और योग्य पारखी था । महात्माजी से बातचीत के बाद, उसने उनका सही मूल्यांकन किया था । गांधी ऐसे आदमी न थे, जो व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के लिए राष्ट्रीय प्रगति में बाधा डालते ।

जयकर ने रीडिंग के बारे में जो अनुमान लगाया था, वह अत्यधिक उदार था । उन्होंने उसे लन्दन में अपने विद्यार्थी काल में देखा था तथा वकील के रूप में उसकी योग्यता की प्रशंसा की थी । बाद के वर्षों में, वे भारत और इंग्लैंड में उसके निकट सम्पर्क में आए । 2 दिसम्बर, 1924 को, वायसराय के साथ अपने साक्षात्कार का विवरण देते हुए, उन्होंने लिखा कि रीडिंग की "बुद्धि की कुशाग्रता, तथ्यों की पकड़ और उदार भावों की गम्भीरता अपने पूर्ण रूप में परिदृश्यमान थीं ।"[6] जहां

5. सुभाषचंद्र बोस लिखित "दी इंडियन स्ट्रगल", थैकर ऐंड स्पिंक, 1948, पृ० 101
6. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 2, पृ० 490, रीडिंग--प्रस्ताव के लिए देखो भाग 1, पृ० 504-17

साम्राज्य सम्बन्धी समस्याएं उपस्थित हो जाती थीं वहां रीडिंग उदारवादी न होकर कुछ और ही हो जाता था। वस्तुतः वह ब्रिटिश प्रतिक्रियावादियों का लाड़ला था। बाद के वर्षों में, एक दूसरे प्रमुख साम्राज्यवादी लार्ड बर्किनहैड के साथ मिलकर, उसने देश के राजनीतिक भविष्य पर अपने उत्तराधिकारी की घोषणा का घोर विरोध किया।

इसके अलावा, वायसराय घरेलू राजनीति में चाहे कितना ही प्रभावशाली था, उसे भारतीय नेताओं के साथ राजनीतिक समझौता करने का पूर्णाधिकार प्राप्त न था। व्हाइट हाल की स्वीकृति के बिना, भारत में कोई महत्वपूर्ण निर्णय नहीं किया जा सकता था। कुछ ही वर्ष पहले, प्रान्तों में द्वैध शासन स्थापित हुआ था और भारत के भाग्य विधाताओं के लिए इतनी जल्दी उसके संवैधानिक भविष्य पर पुनः विचार करना कठिन था। मोन्टफोर्ड सिफारिशों को स्वीकार कर लेने से नई विधानसभाओं की पहली बैठक के केवल दस वर्ष बाद, वे ऐसी समीक्षा करने के लिए वचनबद्ध थे। ऐसी समीक्षा विशेष रूप से बनाए गए एक आयोग द्वारा की जानी थी। वायसराय निश्चय ही इस प्रक्रिया को नजर-अन्दाज करने के लिए स्वतन्त्र न था। मुडीमैन समिति ने, जो 1924 में, सुधारों के कार्यान्वयन की जांच करने के लिए नियुक्त की गई थी, यह सिफारिश की थी कि उनमें न तो कोई बड़ा परिवर्तन किया जा सकता है न करना चाहिए।

जयकर दिसम्बर 1921 की भारी असफलता से निराश नहीं हुए। उन्होंने जिन्ना तथा कई अन्य लोगों के साथ मिलकर, एक प्रतिनिधि-सम्मेलन बुलाने की पहल की, जो 15 जनवरी, 1922 को बम्बई में पंडित मालवीय की अध्यक्षता में हुआ। सम्मेलन में लगभग 300 प्रतिनिधि शामिल हुए, जिनमें महात्मा गांधी भी थे। जिन्ना ने सचिव का काम किया और सम्मेलन की कार्यवाही में सक्रिय भाग लिया। उन्होंने उसके लक्ष्यों और उद्देश्यों पर प्रकाश डाला और एक प्रस्ताव पढ़कर सुनाया, जिसमें ऐसी शर्तों के अनुसार, जो गांधीजी और सरकार को स्वीकार्य हों, एक गोलमेज सम्मेलन बुलाने की मांग की गई, ताकि दोनों की गतिविधियां समाप्त हो सकें। गोलमेज सम्मेलन का आयोजन करने के वास्ते सरकार तथा महत्वपूर्ण राजनीतिक संगठनों के साथ पत्रव्यवहार करने के लिए, सम्मेलन ने एक समिति नियुक्त की, जिसमें विश्वेश्वरैया, मालवीय, जिन्ना, जयकर, पी० सी० राय, दिनशा पेटिट, हसन इमाम, नटराजन तथा कुछ अन्य लोग थे। वायसराय ने इस आधार पर ऐसे सभी प्रस्ताव अस्वीकार कर दिए कि

उनमें उसे देश के संवैधानिक दर्जे के विषय में उपयोगी विचार-विमर्श के लिए कोई आधार दिखाई नहीं दिया। जिन्ना, जयकर और नटराजन ने उससे प्रार्थना की कि वह यह बताए कि उनके कौन से प्रस्ताव उसे अस्वीकार्य हैं, ताकि वे उसकी इच्छा पूरी करने की कोशिश करें। उसने उनकी एक न सुनी।

राष्ट्रीय दृष्टि से बम्बई सम्मेलन असफल सिद्ध हुआ, परन्तु जयकर के राजनीतिक जीवन में उससे एक नया मोड़ आ गया। उन्होंने राजनीतिक मतभेदों के निवारक और समझौता वार्ताकारक की भूमिका अपने स्वभाव के अधिक अनुकूल समझी। अनेक अवसरों पर उन्होंने और सर तेज बहादुर सप्रू ने संयुक्त रूप से कांग्रेस और सरकार के मध्य समझौता कराने की चेष्टा की। 1930 की दशाब्दी में, इस दिशा में उनकी गतिविधियां अधिक प्रकाश में आईं।

बम्बई सम्मेलन की एक घटना से जयकर अति क्षुब्ध हुए और उन्होंने कांग्रेस छोड़ने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उनका ख्याल था कि कुछ कांग्रेसी, जिनमें विट्ठल भाई पटेल भी थे, उन्हें पार्टी का निष्ठावान् सदस्य नहीं समझते थे। वे अपने प्रति पटेल के व्यवहार से विशेष दुःखी थे, और इस विषय में उन्होंने गांधीजी को लिखा। गांधीजी ने 15 जनवरी, 1922 को उत्तर दिया, जो अपनी विशेषता लिए हुआ था। उन्होंने लिखा "तुम असहयोग आन्दोलन में रहो या न रहो, मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकता, ठीक उसी तरह जिस तरह मैं मालवीय जी को नहीं छोड़ सकता, भले ही वे इस समय कहीं भी हों। क्योंकि मैं तुम्हें एक सत्यवादी आदमी समझता हूं। तुमने मेरे ऊपर यह छाप डाली है कि तुम इतने सुसंस्कृत हो कि जान-बूझ कर कोई गलती नहीं कर सकते।"

इस प्रकार उदारवाद ही जयकर का धर्म था। कांग्रेस की सीधी कार्रवाई की राजनीति में शामिल होना उनके लिए असंभव था। जीवन के अन्त तक अनुक्रियात्मक सहयोग के सिद्धान्त में उनकी निष्ठा रही। नवम्बर 1926 में, वे कांग्रेस प्रत्याशी को हरा कर केन्द्रीय विधान सभा के लिए निर्वाचित हो गए। परन्तु प्रमुख राष्ट्रीय संगठन के प्रति उनका सम्मान कम नहीं हुआ। उनसे पूछा गया "क्या अनुक्रियावादी कांग्रेस-विरोधी हैं?" उन्होंने उत्तर दिया "नहीं, हम कांग्रेस-विरोधी नहीं हैं। हम कांग्रेस के ही एक अंग हैं। हम किसी शर्त पर पद स्वीकार

करना नहीं चाहते" ।[7] राष्ट्रवादी पार्टी, जो जनवरी 1927 में बनायी गई, के सदस्य की हैसियत से जयकर ने केन्द्रीय विधान मंडल में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। सरकार की प्रतिक्रियावादी नीतियों और दमनकारी कानूनों का विरोध करने के लिए, कांग्रेस और उनकी पार्टी ने घनिष्ठ पारस्परिक सहयोग से काम किया। जयकर उदारवादी थे और साहसी भी थे। शास्त्री के साहस की ही भांति उनका साहस भी सस्ती किस्म का न था।

7. जयकर की आत्मकथा का अप्रकाशित भाग 3, पृ० 143

अध्याय 8

साम्प्रदायिक राजनीति

जयकर आस्तिक थे और सभी सद् धर्मों की एकता में विश्वास करते थे। अपने हिन्दू धर्म में उनकी श्रद्धा अनुकरणीय थी। साथ ही वे सभी अन्य धर्मों का आदर करते थे। कुरान और अपने धर्मशास्त्रों के उपदेशों में उन्होंने उल्लेखनीय समानता देखी। अक्तूबर 1924 में, मुस्लिम शिक्षा-शास्त्रियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने इस तथ्य की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया। इस्लाम की पवित्र पुस्तक कहती है : "मेरी प्रार्थना, मेरा त्याग, मेरा जीवन और मेरी मृत्यु अल्लाह के लिए है।" भगवान कृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है: "तुम जो कुछ करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ यज्ञ करो, जो कुछ दान दो, उसे मेरे प्रति अर्पण करते जाओ।"

कुरान ने इस महान सत्य का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य प्रत्येक वस्तु की सच्ची नाप है। वह कहती है—"यदि तुम अल्लाह से प्रेम करना चाहते हो तो उसके बनाए हुए जीवों से प्रेम करो।" जयकर के शब्दों में, हिन्दू धर्म यह स्वीकार करता है कि "सभी प्रकार की सृष्टि ईश्वर की बनाई हुई है, इस बात को ध्यान में रखते हुए उसकी रक्षा करनी चाहिए तथा उससे प्यार करना चाहिए। इसलिए उन्होंने मुस्लिम शिक्षाविदों के सम्मेलन से, जिसे वे सम्बोधित कर रहे थे, अपील की कि वे सभी सच्चे धार्मिक सिद्धान्तों की विश्वव्यापकता को ध्यान में रखें तथा अपने नैतिक एवं सांस्कृतिक मानकों और आदर्शों को दूसरे सम्प्रदायों के मानकों और आदर्शों के मेल में लाने की कोशिश करें।" उन्होंने उनसे कहा कि वे अपने मजहब का सम्यक् अध्ययन करके साम्प्रदायिक सौहार्द्र बढ़ाने का प्रयत्न करें।[1] वे जानते थे कि महाराष्ट्र के मुस्लिम कवियों और सन्तों ने साम्प्रदायिक सौहार्द्र के लिए उल्लेखनीय योगदान किया था।

इस प्रकार जयकर राजनीति में ही नहीं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उदारवादी थे। उनके मित्रों में सभी धर्मों के लोग थे, जिन्ना उन सबमें प्रमुख थे। वे सर फिरोजशाह मेहता का, सार्वजनिक नेता के रूप में उनके महान् गुणों के लिए,

1. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 2 पृ० 462

विशेष आदर करते थे तथा बम्बई विश्वविद्यालय उपवन के सामने उनके कानूनी चैम्बर में अक्सर उनसे मिलने जाया करते थे। वहां वे प्राय: जिन्ना से भी मिलते थे। राजनीति में दोनों के विचार एक से थे और दोनों समान आदर्शों तथा समान महत्वाकांक्षाओं के कारण एक-दूसरे की ओर आकर्षित हुए थे। उनकी मित्रता वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में शुरू हुई थी और कई दशाब्दियों तक चली। वह तब तक चलती रही जब तक अंग्रेजों ने जिन्ना के भाग्य को विनाशकारी मोड़ नहीं दे दिया। जयकर और जिन्ना दोनों ही होमरूल लीग के कार्यकलाप में सोत्साह भाग लेते थे—जिन्ना संगठन की बम्बई शाखा के अध्यक्ष और जयकर उपाध्यक्ष थे।

इसके अलावा, नवम्बर 1915 में एक राष्ट्रीय दैनिक 'बम्बई क्रानिकल' के संस्थापक सर फिरोजशाह मेहता की मृत्यु के बाद वे दोनों सक्रिय रूप से इस समाचार पत्र से सम्बद्ध हो गए थे। बी० जी० हार्निमैन के सम्पादकत्व में निकलने वाला यह पत्र राष्ट्रीय हित के निर्भीक समर्थन के लिए प्रसिद्ध था। इसलिए अधिकारी लोग इससे बेहद नाराज थे। उन्होंने इसके अस्तित्व को असम्भव बनाने के लिए सभी उपाय किए, गनीमत यह रही कि उन्होंने इसे जबरदस्ती बन्द नहीं किया। अप्रैल 1919 में, जिस दिन हार्निमन को निर्वासित किया गया, उसी दिन बम्बई सरकार ने एक आदेश निकाल कर यह मांग की कि इस पत्र द्वारा प्रकाशित की जाने वाली समस्त सामग्री पूर्व-निरीक्षण (प्री-सेंसरशिप) के लिए प्रस्तुत की जाए। जिन्ना और जयकर बड़ी तत्परता से इस अन्याय के विरुद्ध लड़े और अन्त में आदेश को निरस्त कराने में सफल हो गए। जयकर उन दिनों जिन्ना के साथ काम करते थे और उन्हें अच्छी तरह निरखा-परखा था, इसलिए उन्होंने अपने मित्र के बारे में उत्साहपूर्वक लिखा है। जिन्ना धर्म निरपेक्षतावादी थे और धर्म में उनकी कोई रुचि न थी। वे धार्मिक असहिष्णुता से घृणा करते थे और उन्होंने बड़े तिरस्कारपूर्वक ढंग से कट्टरपंथी मुल्लाओं के बारे में पंडित मोतीलाल नेहरू से बात की थी। अप्रैल 1884 तक उनका एक उपनाम जिन्नाभाई था, जिससे असन्दिग्ध रूप से यह प्रकट होता था कि उनके पूर्वज हिन्दू थे। श्रीमती सरोजिनी नायडू की व्यक्त भाषा में वे "जाति से हिन्दू और धर्म से मुस्लिम थे"। परन्तु वे अपने धर्म के विषय में कुछ नहीं जानते थे। उनका राजनीतिक और सामाजिक सम्पर्क तब तक लगभग पूर्णतया हिन्दुओं और पारसियों के साथ रहा जब तक उन्हीं व्यक्तियों और उन्हीं संस्थाओं की सहायता से उन्होंने

'महाविभाजन' के लिए काम नहीं किया, जिनके विरुद्ध वे जीवन के सर्वोत्तम भाग में लड़े थे ।

उन दिनों धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद में जिन्ना की निष्ठा अडिग मालूम पड़ती थी । 1916 में मुस्लिम लीग को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था कि मैं सदा ही एक दृढ़ निष्ठ राष्ट्रवादी रहा हूं तथा "साम्प्रदायिक चिल्ल पों से मुझे कोई लगाव नहीं हैं" । इम्पीरियल लेजिस्लेटिव असेम्बली में उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि "मैं सबसे पहले राष्ट्रवादी हूं, बाद में भी राष्ट्रवादी हूं और अन्त में भी राष्ट्रवादी हूं ।" वे उन गिने-चुने महारथियों में से थे, जो गांधी समर्थित खिलाफत आन्दोलन से अविचलित रहे । उन्होंने जोर देकर कहा था कि टर्की का भाग्य और भविष्य भारत की चिन्ता का विषय नहीं है । वे चाहते थे कि उनके देशवासी अन्तर्राष्ट्रीय महाशक्तियों की राजनीति में अपने को न उलझाएं । इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि नौकरशाही के लिए वे 'त्याज्य' व्यक्ति थे । अधिकारी वर्ग उनको तात्कालिक घटनाक्रम से अलग रखने तथा मुस्लिम प्रतिक्रियावादियों को सब प्रकार से खुश करने की पूरी कोशिश कर रहा था ।

दोनों सम्प्रदायों की शैक्षिक प्रगति में भारी विषमता उनके पारस्परिक अविश्वास का प्रधान कारण बन गई, जिसका अन्त देश के विभाजन में हुआ । हिन्दुओं ने तो पाश्चात्य शिक्षा का दिल खोलकर स्वागत किया, परन्तु मुसलमानों को ऐसा महसूस हुआ कि 1835 में फारसी की जगह अंग्रेजी का आना उनके लिए महाविपत्ति से कम नहीं है । उन्होंने अंग्रेजी स्कूलों में अपने बच्चों को भेजने से इन्कार कर दिया तथा परम्परागत शिक्षा की पुरानी पद्धति से ही चिपके रहे, जिसका कोई मूल्य न था ।

समय के साथ भी इस खतरनाक रवैये में कोई परिवर्तन न हुआ । उदाहरणार्थ, बम्बई सरकार का इस बात पर ध्यान गया कि प्रान्त का मुस्लिम समुदाय "शिक्षा के लाभों से एकदम उदासीन है ।" एल्फिन्स्टन संस्थान में शायद ही कोई विद्यार्थी "मोहम्मडन सम्प्रदाय" का था तथा ग्रान्ट मेडिकल कालेज के "स्नातकों में तो एक भी न था ।"[2] शेष भारत में भी इससे अधिक अच्छी स्थिति नहीं थी ।

पाश्चात्य शिक्षा से लाभ उठाकर, हिन्दू स्वभावतः जीवन के अनेक क्षेत्रों में आगे बढ़ गए । ज्ञानोन्नति के व्यवसायों में उनकी धाक जम गई और सरकारी सेवाओं में भी उनकी संख्या अधिक हो गई । राजनीतिक सुधारों के लिए शासकों पर दबाव डालने में भी वे सबसे आगे थे । नौकरशाही को संरक्षण और दुष्प्रचार के

2. "द बाबे क्वार्टर्ली रिव्यू" भाग 2, जुलाई और अक्तूबर 1855, पृ०144

असीम अधिकार प्राप्त थे। इसलिए इस देश से अंग्रेजों की वापसी के परिणामों की भयावह और गलत तस्वीर खींचकर, मुसलमानों के भय और ईर्ष्या को जगाना उसके लिए आसान हो गया। मुसलमानों से कहा गया कि यदि अंग्रेज भारत से चले गए तो वे हिन्दुओं की राजनीतिक दासता में जकड़ जाएंगे। यह एक गप्प थी और सभी स्वतंत्र विचार वाले व्यक्तियों ने इसे गप्प ही माना तथा इस ओर कोई ध्यान न दिया। उदाहरणार्थ, ए० ओ० ह्यूम ने घोषणा की : "मैं यह कहूंगा कि हिन्दुओं ने मुझे चकित कर दिया है। कितने ही हिन्दू यह कह चुके हैं कि हमारी ओर से तो यह बात है कि यदि शिक्षित मुसलमान हमारा प्रतिनिधित्व करें तो हमें बड़ी खुशी होगी। राजनीति के सभी मामलों में हम और मुसलमान एकमत हैं।"[3]

विवेकशील और देशभक्त मुसलमान इस शरारतपूर्ण दुष्प्रचार से भ्रान्त नहीं हुए। वे समझते थे कि शिक्षा में हिन्दुओं के साथ रहना उनके हित में भी उतना ही है, जितना देश के हित में हैं। वे जानते थे कि अत्युन्नत विचार वाले हिन्दू भी यह नहीं चाहते थे कि देश में अंग्रेजी शासन रातों-रात समाप्त हो जाए। विदेशी भी तत्काल या किसी समय भारत को छोड़ने को तैयार न थे। क्योंकि अंग्रेजों के पैर जम गए थे, इसलिए बुद्धिमानी इसी में थी कि मुसलमान पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करने में जुट जाएं तथा इस प्रकार अपना पिछड़ापन दूर करें।

दूरदर्शी मुसलमानों में सर सैयद अहमद खां (1817–98) सबसे पहले थे, जो यह विश्वास करते थे कि शिक्षा ही उनके समुदाय के लिए सबसे अच्छी मुक्तिदात्री बन सकती है। यद्यपि उन्होंने स्वयं पाश्चात्य शिक्षा से कोई लाभ नहीं उठाया था, फिर भी वे समझते थे, कि उससे ही मुसलमानों की कूपमंडूकता दर हो सकती है। मुहम्मडन ऐंग्लो-ओरियेन्टल कालेज, जिसकी कल्पना उन्होंने 1869 में की थी, 1875 में अस्तित्व में आया और 1920 में विकसित होकर सर्वांगपूर्ण विश्व-विद्यालय बन गया। अहमद खां चाहते थे कि अलीगढ़ विश्वविद्यालय देश में विद्या का अग्रणी संस्थान बन जाए। उन्होंने निश्चय ही यह कल्पना नहीं की थी कि यह किसी एक सम्प्रदाय की जातीय अथवा मजहबी आवश्यकताओं को पूरा करने-वाली संस्था की गर्हित भूमिका अदा करे। परन्तु अपनी वृद्धावस्था में वे मुस्लिम पृथकतावाद के महान समर्थक बन गए। वस्तुतः द्विराष्ट्र-सिद्धांत के जन्मदाता

3. हुसैन बी० तैयबजी लिखित "बदरुद्दीन तैयबजी" थेकर, 1952, पृ० 225–26

और पाकिस्तान के निर्माता न तो सर मोहम्मद इकबाल थे और न जिन्ना थे, बल्कि सर सैयद अहमद खां थे। अन्य सभी की तुलना में वही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने मुस्लिम राजनीति को सम्प्रदायवाद के भंवर में डाल दिया, जिससे वह सम्प्रदाय कभी बाहर न निकल सका। मौलाना शिबली, जो अलीगढ़ कालेज में फारसी पढ़ाते थे, एक देशभक्त थे। उनकी शिकायत थी कि "राष्ट्रीयता के नाम पर मुस्लिमों को ऊंचा उठाने के लिए" किए गए 30 वर्षों के प्रयत्नों के बावजूद कोई प्रगति नहीं हुई। उन्होंने कहा: "आप धर्म के नाम पर उनसे अपील करिए और फिर देखिए कि उनकी प्रतिक्रिया कितनी अच्छी होती है।"[4]

मुस्लिम सम्प्रदायवाद ने ब्रिटिश प्रतिक्रियावादियों की सहायता से राष्ट्रवाद की ताकतों को कमजोर करने में कोई कसर न छोड़ी। अक्तूबर 1906 को "सरदारों, जागीरदारों, ताल्लुकेदारों, वकीलों, जमींदारों, व्यापारियों तथा अन्य लोगों का" एक शिष्टमंडल, मुस्लिम समुदाय के लिए विशेष रियायतों की मांग करने के लिए बूढ़े वायसराय लार्ड मिन्टो से मिला। शिष्ट मंडल के नेता, ब्रिटिश शासक वर्ग के चहेते और "औपनिवेशिक राज्य के आजीवन कृतज्ञ" हिज हाईनेस सर सुल्तान मोहमद शाह आगा खां, जी०सी०आई०ई० थे। मिन्टो ने, जिन्हें किसी भी प्रकार के उदारवाद से जन्मजात घृणा थी, उत्सुकता से शिष्टमंडल की याचिका स्वीकार कर ली, जिसका सार यह था कि अलीगढ़ स्कूल के पृथकतावाद के सिद्धान्त की पुनः पुष्टि की जाए। याचिका में इस बात पर बल दिया गया था कि इस देश में लोकतान्त्रिक संस्थाए कभी उन्नति नहीं कर सकतीं तथा यह प्रार्थना की गई थी कि विधान मंडलों में प्रतिनिधित्व के लिए मुस्लिम सम्प्रदाय को एक पृथक समुदाय समझा जाए, तथा ऐसा प्रतिनिधित्व केवल इसकी जनसंख्या के आधार पर ही नहीं, इस बात को भी ध्यान में रखकर किया जाए कि इस देश में ब्रिटिश राज को कायम रखने में यह सम्प्रदाय कितना उपयोगी है।

दशाब्दियों बाद, इस निकृष्ट मामले में अपनी भूमिका की प्रशंसा करते हुए आगा खां ने लिखा: "अब 1906 में हमने निर्भीकता से वायसराय से कहा कि वे तथ्यों पर ध्यान दें। हमने कहा कि भारत के मुसलमानों को अल्पसंख्यक समुदाय मात्र न समझकर राष्ट्र के अन्तर्गत राष्ट्र समझा जाना चाहिए, तथा

4. ए० एच० अलबिरुनी लिखित "मेकर्स आफ पाकिस्तान एंड माडर्न मुस्लिम इंडिया" पृ० 126-27

उनके अधिकारों एवं कर्तव्यों को कानून द्वारा गारंटी मिलनी चाहिए।' भारत की एकता को तोड़ने के लिए, आगा खां ने इतना जी-तोड़ परिश्रम किया कि शिमला में, जहां उनका शिष्टमंडल वायसराय से मिला था, उनका शरीर थककर चूर हो गया और वे बेहोश होकर गिर गए।[5]

शिमला शिष्टमंडल, जिसे मौलाना मोहम्मद अली ने "सर्वोच्च निष्पत्ति" बताया है, भाग्य-निर्माण की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण था। ब्रिटिश प्रतिक्रिया-वादियों ने "भारत के इतिहास में नवयुग" के रूप में इसका स्वागत किया। भारत मंत्री मार्ले ने, जो उदारवादी माना जाता था, पत्र लिखकर मिन्टो को उसकी उपलब्धि पर धन्यवाद दिया तथा इस बात के लिए खेद प्रकट किया कि इस अवसर पर वह उपस्थित न हो सका। आगा खां जैसे व्यक्ति ने लिखा : "लार्ड मिन्टो द्वारा हमारी मांगों की स्वीकृति, बाद की ब्रिटिश सरकारों द्वारा प्रस्तुत किए गए सभी भावी संवैधानिक प्रस्तावों का आधार बन गई, और अन्तिम एवं अनिवार्य परिणाम था—भारत का विभाजन और पाकिस्तान का आविर्भाव।"

राष्ट्रीय नेताओं ने शुरू में इस विश्वास में आकर पृथक निर्वाचनों का विरोध नहीं किया कि मुसलमान स्वयं देर-सवेर उनका विरोध करेंगे। जयकर के अनुसार, गोखले ने 1909 में और तिलक ने 1916 में उन्हें स्वीकार कर लिया। उनका कहना है कि लोकमान्य की "स्वीकृति इस आशा पर आधारित थी कि साम्प्रदायिक निर्वाचन अस्थायी होंगे तथा मुसलमान स्वयं उन्हें शीघ्र ही छोड़ देंगे।" जिन्ना को भी यही आशा थी। 1919 में संसदीय प्रवर समिति के समक्ष गवाही देते हुए, मेजर ओर्म्सबी—गोरे के एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने जोर देकर यह घोषणा कि थी की मैं भारतीय राष्ट्रवादी की हैसियत से बोल रहा हूं। उन्होंने कहा कि मैं दिल से उस दिन का स्वागत करूंगा, जब हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच के सब अन्तर मिट जाएंगे। परन्तु इनमें से किसी नेता का आशावाद सही सिद्ध नहीं हुआ। सम्प्रदायवाद, कैंसर की तरह तेजी से भारत के शरीर में फैला और विभाजन के बाद भी क्रियाशील है।

दिसम्बर 1916 का लखनऊ समझौता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि राष्ट्रवादी नेता मुसलमानों को खुश करने के लिए कितने चिन्तित थे। लोकमान्य तिलक ने समझौते को सम्भव बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। पृथक् प्रति-

5. "द मेमोयर्स आफ आगा खां। वर्ल्ड एनफ एंड टाइम" केसल, 1954, पृ० 93–95

प्रतिनिधित्व की प्रणाली को स्वीकार करने के साथ-साथ, कांग्रेस, जिसने एकता-वार्ता चलाई थी, मुसलमानों को विधान मंडलों में उनसे भी अधिक सीटें देने को राजी हो गई, जितनी मोर्ले-मिन्टो सुधारों में उन्हें दी गई थीं। समझौते में यह भी व्यवस्था की गई थी कि यदि किसी सम्प्रदाय के तीन--चौथाई सदस्य विरोध करें, तो उस सम्प्रदाय से सम्बन्धित कोई विधेयक या प्रस्ताव पास न किया जाए।

ये बहुत बड़ी रियायतें थीं और इनसे मुसलमानों की अपने भविष्य के बारे में उचित आशंकाएं दूर हो जानी चाहिए थीं। प्रोफेसर कूपलैंड जैसे व्यक्ति ने समझौते को ''भारतीय राष्ट्रवाद की विजय'' बताया था और उसकी प्रशंसा की थी। परंतु सम्प्रदायवाद की तो कभी तृप्ति होती ही नहीं। मान्टफोर्ड सुधारों के प्रस्तावकों के समक्ष और अधिक रियायतों के लिए मुस्लिम याचिकाओं की भरमार हो गई। मांटेग्यू और चेम्सफोर्ड ने समझौते को ''न चलने योग्य मशीन'' तथा मुसलमानों के प्रति अनावश्यक रूप से उदार बताकर, भारत की एकता को नष्ट करने में अपना अंशदान किया। 1916 की विफलता बाद में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए किए गए सभी प्रयत्नों के लिए मानक प्रतिरूप बन गई।

महात्मा गांधी ने, जिन्होंने साम्प्रदायिक एकता को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था, यह सोचकर खिलाफत आन्दोलन का स्वागत किया कि इससे उन्हें उस लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए अपूर्व अवसर मिलेगा। तुर्की के सुलतान ने, जो इस्लाम का पोप समझा जाता था, यह गलती की थी कि प्रथम विश्व युद्ध में वह जर्मनी से मिल गया था तथा पराजित शत्रु की भांति उसे मनमानी सन्धि की शर्तें स्वीकार करने के लिए विवश किया गया था। पराजित सुल्तान के शासन में तुर्की को रूस के जार ने 'यूरोप का रोगी' बताया था। युद्ध ने जीर्ण-शीर्ण तुर्क साम्राज्य को, जिसके आधिपत्य में अनेक गैर-तुर्क जातियां थीं, छिन्न-भिन्न कर दिया। अपने लक्ष्य को पूरा करने के लिए विजयी मित्र राष्ट्रों ने उस साम्राज्य को भंग करने का निश्चय कर लिया। भारतीय मुसलमान, जो सर्व इस्लाम-एकतावाद का सपना देख रहे थे, इन घटनाओं से बहुत निराश हुए, और उन्होंने एक बड़ा आन्दोलन शुरू करके ब्रिटिश सरकार से मांग की कि वह हर कीमत पर तुर्क साम्राज्य की रक्षा करे। उन्होंने यह मानने से इन्कार किया कि उनकी मांग का अर्थ वस्तुतः गैर-तुर्क जातियों के लोगों पर सुल्तान के अत्याचारों को स्थायित्व प्रदान करना था।

तुर्की के प्रश्न से भारत का कोई सम्बन्ध न था। महात्मा गांधी, जो लक्ष्यों और साधनों की पवित्रता के बारे में इतने दृढ़ाग्रही थे, हिन्दू-मुस्लिम एकता बढ़ाने की चिन्ता में इस महत्वपूर्ण सिद्धांत को सर्वथा भूल गए। खिलाफत के प्रति उनका उत्साह संक्रामक सिद्ध हुआ। दिसम्बर 1919 के मुस्लिम लीग के अधिवेशन में, जिसमें खिलाफत के सम्बन्ध में विचार किया गया, डा० एनी बेसेन्ट, राइट आनरेबुल वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री, पंडित मदनमोहन मालवीय और उस वर्ष के कांग्रेस अध्यक्ष पंडित मोतीलाल नेहरू जैसे दिग्गजों ने भाग लिया। महात्मा गांधी, स्वभावतः अधिवेशन में प्रमुख व्यक्ति थे। तिलक के जीवन-चरित्र लेखक के अनुसार, लोकमान्य ने यह महसूस किया कि खिलाफत आन्दोलन में महात्मा गांधी ने जो नेतृत्व प्रदान किया है, उसका समर्थन सबको करना चाहिए।[6] परन्तु जयकर ने एक दूसरे लेख का उद्धरण दिया है, जिसका कहना है कि तिलक नहीं चाहते थे कि राष्ट्रीय आन्दोलन अपने को धार्मिक विवादों और विदेशी-राजनीति में उलझाए। उन्होंने कहा था कि "हमें स्वराज्य के बड़े राष्ट्रीय प्रश्न पर मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। इसके लिए, यदि वे विशेषाधिकारों से सन्तुष्ट हो सकें, तो निश्चय ही उन्हें विशेषाधिकार दिए जा सकते हैं। उन्हें कांग्रेस के खेमे में लाना चाहिए, परन्तु अपनी राजनीति में धर्म को प्रवेश कभी नहीं होने देना चाहिए।"

इस प्रकार, महात्मा गांधी का यह पैंतरा गलत था। इसका अर्थ था—सम्प्रदाय-वादी मुसलमानों को खुश करना, तथा इसने धर्म निरपेक्षता के आधार पर हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए भविष्य में किए जाने वाले सभी प्रयत्नों को सर्वथा असम्भव बना दिया। मुस्लिम अनुदारवादियों ने उन्हें कभी सच्चा नेता नहीं माना। वे इसे उचित नहीं समझते थे कि एक "अश्रद्धालु" इस्लामी आन्दोलन का संचालन करे।[8] परन्तु कमाल तुर्क साम्राज्य के विघटन के लिए तथा सुल्तान के देश से निष्कासन के लिए राजी हो गया, और इस प्रकार यह प्रश्न अन्तिम रूप से हल हो गया। 1924 में उसने ऐतिहासिक कदम उठाकर खलीफा का पद समाप्त कर दिया। उसने पूछा, "क्या खलीफाओं, इस्लाम, मुल्ला-मौलवियों

---

6. डी०वी० ताह्मणकर लिखित "लोकमान्य तिलक" पृ० 303
7. "द स्टोरी आफ माई लाइफ" भाग 1, पृ० 388
8. लाल बहादुर द्वारा लिखित "दी मुसलिम लीग" पृ० 141–45

और ऐसे ही पशुओं के लिए तुर्की का किसान शताब्दियों से हर परिस्थिति में नहीं लड़ा-मरा है ?''[9]

जयकर को खिलाफत आन्दोलन के असली उद्देश्यों और उसके साथ गांधी जी के सहयोग के बारे में कोई भ्रान्ति न थी। 6 जनवरी, 1923 को, उन्होंने सी० आर० दास को लिखकर खिलाफत के प्रश्न को असहयोग कार्यक्रम में शामिल करने की बुद्धिमानी में शंका प्रकट की। उन्होंने लिखा: ''यह व्यापक रूप से महसूस किया जा रहा है कि पार्टी को मुस्लिम धर्मोन्माद के पीछे-पीछे नहीं घसीटना चाहिए। इस आन्दोलन में धर्म की प्रधानता है और तुर्की के प्रत्येक राजनीतिक परिवर्तन के साथ इसका रूप बदलता रहेगा।'' उन्होंने बताया कि गांधीजी की मुस्कानभरी शान्ति और स्वाभाविक संयम के बावजूद, देश ने अविश्वास और विध्वंस का दर्शन अपना लिया है। स्कूलों को ''नष्ट करने'', नगरपालिकाओं को ''भंग करने'' तथा न्यायालयों को ''तोड़ने'' की मांग सर्वथा निषेधात्मक है। विध्वंस की इस दहाड़ में हमें एक और आवाज नहीं जोड़नी चाहिए।[10]

मुसलमानों में कुछ लोग ऐसे भी थे, जो मातृभूमि के प्रति अपनी भक्ति में सदा अविचल रहे। वे अली भाइयों और इकबाल की भांति मौकापरस्त देशभक्त नहीं बनना चाहते थे। मौलाना अबुल कलाम आजाद ने, जो एक उच्च कोटि के मुस्लिम विद्वान थे, राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया। हकीम अजमल खां, डा० एम० ए० अंसारी, डा० सेफुद्दीन किचलू, खान अब्दुल गफ्फार खां, उनके भाई डा० खां साहब, रफी अहमद किदवई तथा और भी अनेक मुसलमानों ने भारत के स्वतंत्रता संघर्ष के इतिहास में सम्माननीय स्थान प्राप्त किया है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, जब तक जिन्ना राष्ट्रवादी रहे तब तक वे भारतीय जनता के प्रत्येक वर्ग की प्रशंसा अर्जित करते रहे, उसके बाद भी उनके कुछ गैर मुस्लिम दोस्त उन्हें प्यार दिखाते रहे।

व्यक्तियों के साथ-साथ बहुत से मुस्लिम संगठन भी, जैसे नेशनलिस्ट मुस्लिम पार्टी, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त की खुदाई खिदमतगार पार्टी, शिया पालिटिकल

9. एच०सी० आर्मस्ट्रांग लिखित, 'ग्रे वुल्फ: मुस्तफा कमाल : एन इंटिमेट स्टडी आफ डिक्टेटर'', आर्थर बार्कर, 1932, पृ० 247

10. ''द स्टोरी आफ माई लाइफ'', भाग 2, पृ० 75

कान्फ्रेंस, मोमिन कान्फ्रेंस तथा खिलाफत कान्फ्रेंस की अहरार शाखा राष्ट्रीय हित के प्रति अविचल रूप से निष्ठावान रहे। परन्तु न तो ये व्यक्ति और न उनकी संस्थाएं ही धर्मोन्माद की उनकी शक्तियों को रोक सकीं, जिनका अनुगमन करने वालों की संख्या सदा ही अधिक रहती थी। मुस्लिम लीग अपने गठन, अपने दृष्टिकोण और अपने कार्यों में एक प्रतिक्रियावादी संस्था थी, फिर भी वह अन्त में लगभग समस्त मुस्लिम समुदाय की पूर्ण निष्ठा प्राप्त करने में सफल हो गई।

ऐसी ही संस्था की सहायता से भारत का विभाजन हुआ। यदि जिन्ना अपने धर्मनिरपेक्षता के विचारों में आस्था बनाए रखते, तो वे मुस्लिम जनमत को प्रभावित न कर सकते। वे राष्ट्रवादी के रूप में अधिकांशतः गैर-मुस्लिमों में ही लोकप्रिय थे। यद्यपि उन्होंने कई बार मुस्लिम लीग की अध्यक्षता की, पर वे उसके विचारों और आदर्शों को कभी नहीं हिला सके। अपने समुदाय को अपने साथ ले चलने की उनकी असमर्थता अक्सर उन्हें विचलित कर देती थी। जैसा कि हम आगे देखेंगे, 1930 से आरंभ होने वाले दशक में, लन्दन में भारतीय गोलमेज सम्मेलन में मुस्लिम प्रतिनिधियों ने उन्हें अस्वीकार कर दिया था तथा उसके तीसरे अधिवेशन में ब्रिटिश सरकार ने उन्हें शामिल ही नहीं किया था। उन्होंने एक पत्रकार से कहा था कि "मुस्लिम मेरे विचारों को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे डिप्टी कमिश्नर (जिला अधिकारी) से आदेश प्राप्त करते हैं।" वे सोचते थे कि साम्प्रदायिक एकता के लिए महात्मा गांधी और सर तेज बहादुर सप्रू के साथ काम करना बेकार था। उन्होंने कहा: "मान लो, मैं सफल हो भी जाता हूं, तब भी इस शख्स आगा खां और फजली के कुत्तों को कौन रोकेगा ?"[11] केवल इन्हीं लोगों की संकीर्ण विचारधारा को अपना कर जिन्ना मुसलमानों के दिलों को जीत सके।

जयकर, जो उनके अच्छे मित्र थे, तभी उनसे अलग हुए, जब उन्होंने राष्ट्रीय हितों को तिलांजलि दे दी। उन्होंने देखा कि बहुत से मुसलमान, जो कुछ समय पहले तक देशभक्त कहे जाते थे, खिलाफत आन्दोलन के लड़खड़ाते ही साम्प्रदायिक राजनीति में लौटने के लिए उतावले हो गए। साम्प्रदायिक उपद्रव अधिक

11. दुर्गादास लिखित "इंडिया फ्राम कर्जन टु नेहरु एंड आफ्टर" कालिन्स, 1969, पृ० 154-55 जिन्ना एक कट्टर सम्प्रदायवादी सर फजल हुसेन की चर्चा कर रहे थे, जो वायसराय की कार्यकारिणी परिषद के भी सदस्य थे।

व्यापक हो गए और जल्दी-जल्दी होने लगे। स्वामी श्रद्धानन्द, जो एक महान आध्यात्मिक नेता, शिक्षा शास्त्री और समाजसुधारक थे, तथा जिन्होंने दिल्ली की ऐतिहासिक जामा मस्जिद के प्रांगण से राष्ट्रीय एकता का उपदेश दिया था, 26 दिसम्बर, 1926 को एक धर्मान्ध मुस्लिम द्वारा मार डाले गए। इस जघन्य अपराध के कारण देश भर में भय की एक लहर दौड़ गई, परन्तु कुछ धर्मान्ध मुसलमानों ने, जिनमें मौलाना मोहम्मद अली भी शामिल थे, इसकी निन्दा करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी।

देश की राजनीति ने जो भयावह मोड़ लिया था, उससे जयकर बहुत दुखी थे। फिर भी उन्होंने स्थिति को राजनीति की दृष्टि से देखा। स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा : "लाला लाजपतराय ने जो सन्देश दिया है उससे मैं सहमत हूं और हिन्दुओं से प्रार्थना करता हूं कि वे क्षुब्ध न हों, बल्कि उस कार्य पर पूरी तरह विचार करें जिसके लिए स्वामी श्रद्धानन्द शहीद हुए तथा अनुरोध करता हूं कि ऐसी घटनाओं के बावजूद वे उनके कार्य को जारी रखें। . . .हम हिन्दुओं से अपील करते हैं कि वे ऐसा कोई काम न करें जो बदले की भावना से किया हुआ मालूम पड़े या दोनों सम्प्रदायों के बीच कटुता की भावना बढ़ाए। हिन्दू धर्म में ऐसे कार्य का निषेध है।"[12]

जयकर के इस विश्वास का कि मुस्लिम साम्प्रदायिकता युद्ध के मार्ग पर अग्रसर है, कारण था। 1925 से ही एक नव-निर्मित संस्था, जिसका नाम मुस्लिम सोसायटी था, उत्तर भारत में एक प्रबल आन्दोलन चला रही थी और यह मांग कर रही थी कि वहां के हिन्दू मुसलमानों के सामने आत्मसमर्पण करें और यदि उन्होंने आत्मसमर्पण नहीं किया तो उन्हे भारी मूल्य चुकाना पड़ेगा। इस संस्था द्वारा जारी किए गए एक पत्रक में कहा गया था : "यदि हिन्दू अब भी हमारे प्रस्तावों से सहमत न होंगे तो जब तक हम सन्तुष्ट न होंगे, तब तक बाध्य होकर भारी हानि पहुंचाते रहेंगे, जैसे कि हत्या करना, मार डालना' आदि इस प्रकार का धमकी भरा कुछ साहित्य केन्द्रीय विधान सभा में भी पहुंच गया। जयकर ने इस अशुभ सूचक घटनाओं की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। 6 मार्च, 1927 को, छात्रों की एक सभा में भाषण करते समय, उन्होंने

---

12. "द स्टोरी आफ माई लाइफ" का अप्रकाशित भाग 3, टाइप किया हुआ, पृ० 194 (भारत का राष्ट्रीय अभिलेखागार)

इनका उल्लेख किया। एक सप्ताह बाद, उन्होंने एक दूसरे कालेज के छात्रों से तथा सामान्य रूप से सभी हिन्दुओं से अपील की कि वे "हर प्रकार की उत्तेजना के समय शान्त रहें तथा दोनों सम्प्रदायों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के विकास को बढ़ावा देने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करें।"

अपनी विशिष्ट कुशाग्रता से जयकर ने यह जान लिया कि कुछ कार्य क्षेत्रों में मुसलमान हिन्दुओं से आगे क्यों रहते हैं। उनके अनुसार, मुसलमान बिना किसी दिखावे के और पूर्ण अनुशासन के साथ अपना काम करता है। वह अपने धर्म में पूर्ण आस्था रखता है, जिससे मुस्लिम समुदाय में अपने लक्ष्यों को पूरा करने के लिए कार्यकर्ताओं की कभी कमी नहीं रहती। जयकर ने लिखा है: "मुसलमान खुले तौर से अपने धर्म को मानेगा, उसकी घोषणा करेगा तथा कठिनाइयों और विरोध के बावजूद उसके अनसार चलेगा। मुस्लिम चरित्र की यह एक प्रशंसनीय विशेषता है जिसे पाश्चात्य शिक्षा भी नहीं मिटा सकी। इसी प्रकार, जब कोई मुसलमान जीवन में किसी महत्वपूर्ण स्थिति पर विचार करता है, तो उसे सबसे पहले धर्म की चिंता होती है।" उन्होंने कहा कि हिन्दुओं के सोचने का ढंग इससे बिल्कुल भिन्न है। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता में दृढ़ विश्वास रखते थे और इस संदेश को फैलाने में कभी आगा-पीछा नहीं करते थे। नवाब जूनागढ़ की अध्यक्षता में आयोजित एक मुस्लिम शिक्षा-सम्मेलन को संबोधित करते हुए, जयकर ने कहा था कि 'दोनों सम्प्रदायों का यह कर्तव्य है कि वे दोनों संस्कृतियों में मेल कराने वालों की एक जाति पैदा करें।"[13]

जयकर की भांति और भी कई शीर्षस्थ नेता देश में बढ़ती हुई साम्प्रदायिक असहिष्णुता से चिन्तित थे। 4 मार्च, 1927 को, जब मौलाना शौकत अली ने गांधीजी को लिखा कि "मुसलमान कुछ नहीं सुनना चाहते, वे चाहते हैं कि हिन्दुओं से इस्लाम की रक्षा के लिए हम उन्हें संगठित करें"। पंडित मदन मोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, सावरकर और भाई परमानंद, जिन्हें राष्ट्रीयता या धर्म निरपेक्षता सिखाने की आवश्यकता नहीं थी, यह समझ गए कि खुश करने की नीति से राष्ट्रीय एकता के संवर्धन में कभी सफलता न मिलेगी। ब्रिटिश षड़यन्त्र साम्प्रदायिक एकता के लिए किए जाने वाले सभी प्रयत्नों को विफल करने में सदा सफल होते रहेंगे।

---

13. वही पुस्तक, पृ० 148

डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी, डा० बी० एस० मुंजे और डा० सुनीति चटर्जी आदि नेताओं को पूरा विश्वास था कि यदि हिन्दू अपने ही घर को ठीक-ठाक रखें, तो उस लक्ष्य की प्राप्ति अधिक आसानी से हो सकती है। टैगोर तक को इस बात से आश्चर्य था कि क्या सर्व इस्लाम एकतावाद की कल्पना राष्ट्रीय एकता में सहायक हो सकेगी? हिन्दू-मुस्लिम एकता की संभावना के विषय में महात्मा गांधी को जो भ्रांति थी, वह भी अब पूरी तरह दूर हो गई।

फिर भी विदेशी शासन के विरुद्ध एक आम मोर्चा तैयार करने के लिए उपायों की खोज जारी रही। लार्ड बर्किनहैड ने, जो 1924 से 1928 तक भारत का मन्त्री था, और अपनी धृष्टता के लिए कुख्यात था, भारतीयों को अपने देश के लिए एक सर्वसम्मत शासन-विधान प्रस्तुत करने की चुनौती दी थी। उसे विश्वास था कि उसके मुस्लिम पिछलग्गू तथा अधिकारी ऐसे किसी भी प्रयत्न को निष्फल कर देंगे। इस सुविदित खतरे के बावजूद, 19 मई, 1928 को, बंबई में एक सर्वदल सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें स्वतंत्र भारत के संविधान के सिद्धांत तैयार करने के लिए पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति के सदस्य थे—सर तेज बहादुर सप्रू, सुभाषचंद्र बोस, एम० आर० जयकर, सर अली इमाम, जी आर० प्रधान, श्वाएब कुरैशी, एन० एम० जोशी, एम० एस० अणे और सरदार मंगलसिंह। यह ऐसे प्रतिष्ठित और प्रतिभाशाली लोगों की समिति थी, जो देश की सत्वर संवैधानिक प्रगति की हार्दिक इच्छा से अनुप्राणित थे। इसकी सिफारिशों पर केवल भारतीय जनमत के द्वारा ही नहीं, ब्रिटिश सरकार के द्वारा भी सावधानीपूर्वक विचार किए जाने की आवश्यकता थी।

समिति के सामने "मुस्लिम प्रस्ताव" थे, जो उस सम्प्रदाय के नाम से 20 मई, 1927 को तैयार किए गए थे। "प्रस्ताव" वास्तव में मांगों की एक फहरिस्त थी। इनमें संयुक्त प्रतिनिधित्व स्वीकार किया गया था, परन्तु शर्त यह रखी गई थी कि मुसलमानों को केन्द्रीय विधान मंडल में उसकी सदस्य संख्या के कम से कम एक तिहाई के बराबर प्रतिनिधित्व दिया जाए तथा सिन्ध को बम्बई प्रेसीडेंसी से पृथक करके एक नया प्रान्त बनाया जाए। इसके अलावा, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त और बलूचिस्तान का प्रशासनिक स्तर उठा कर उतना कर दिया जाए जितना अन्य पूर्ण प्रांतों का है तथा बंगाल और पंजाब में मुसलमानों को उनकी जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया जाए।

ये दूरगामी प्रस्ताव थे और इनकी उल्लेखनीय विशेषता थी इनके निर्माताओं की साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की मांग को त्यागने की इच्छा। परन्तु यह विश्वास करना कठिन था कि धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद के लिए इतनी चौंकानेवाली रियायत को अधिकांश मुस्लिम स्वतंत्र विचारों का समर्थन प्राप्त था। 29 मार्च को, जिन्ना ने घोषणा की कि यद्यपि मैं व्यक्तिगत रूप से पृथक प्रतिनिधित्व के पक्ष में नहीं हूं, पर मुसलमानों की एक बहुत बड़ी संख्या दृढ़ता से और ईमानदारी से यह विश्वास करती है कि यही एकमात्र ऐसा तरीका है, जिससे वे सुरक्षित रह सकते हैं। इन परिस्थितियों में, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि "मुस्लिम प्रस्तावों" के निर्माताओं का मूल उद्देश्य, राष्ट्रवादियों को फंसाने के लिए संयुक्त निर्वाचन का चारा डालकर मुसलमानों के लिए अधिक से अधिक रियायतें प्राप्त करना था।

1928 की नेहरू रिपोर्ट जिसे स्वराज्य संविधान भी कहा जाता है, लगभग पूरी की पूरी, समिति के अध्यक्ष मोतीलाल नेहरू द्वारा लिखी गई थी। देशी राज्यों और औपनिवेशिक स्वराज्य सम्बन्धी कुछ भाग सर तेज बहादुर सप्रू द्वारा लिखे गए थे। यह सर्वांगपूर्ण संविधान नहीं था, परन्तु इसमें निविष्ट प्रस्ताव इतने व्यापक थे कि उनके आधार पर पूरा शासन-विधान तैयार किया जा सकता था। रिपोर्ट कुछ योग्यतम भारतीयों के दिमाग की उपज थी, जिन्होंने बड़े विचार के बाद अपनी सिफारिशें की थीं।

स्वराज्य संविधान में साम्प्रदायिक समस्या की उपेक्षा नहीं की गई थी और न उससे बचकर निकलने की कोशिश की गई थी। मोतीलाल नेहरू को इस समस्या की गंभीरता के बारे में कोई भ्रांति न थी। 1909 में अपने पुत्र जवाहरलाल नेहरू को लिखे गए पत्रों में उन्होंने मुस्लिम साम्प्रदायिकता के प्रति अपने क्षोभ को खुल कर व्यक्त किया। उन्होंने कहा : "आजकल सर्वत्र हिन्दू–मुस्लिम समस्या की ही चर्चा है। उन्होंने (मुसलमानों ने) कितनी ही बार इतनी बुरी तरह से हमारा अपमान किया है कि हम गंभीरता के साथ उनसे संबंध तोड़ने की बात सोच रहे हैं।" ....अमीर अली तथा अन्यों को 5 करोड़ 30 लाख भारतीय मुसलमानों द्वारा नहीं, मुट्ठीभर आंग्ल-भारतीयों द्वारा पेश किया जा रहा है, जो हिन्दुओं को मुसलमानों से लड़ाने में ही अपना भला समझते हैं। जिसके लिए हिन्दू सद्भावना रखते थे, उसी के लिए वे अब सर्वत्र बदनाम

किए जा रहे हैं।"[14] मोतीलाल इतने उदार हृदय और सच्चे थे कि झूठा आरोप नहीं लगा सकते थे।

सभी देशभक्तों की भांति, उनको तथा उनकी समिति को भी यह पता था कि यदि पृथक निर्वाचन की पद्धति जारी रही तो उसके परिणाम विनाशकारी होंगे। स्वराज्य संविधान कहता है: "अब अधिकांश लोग यह मानते हैं कि पृथक निर्वाचन पद्धति पूरी तरह खराब है और इसे छोड़ देना चाहिए।" उसने बताया कि मुसलमानों में यह प्रवृत्ति है कि वे साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को "महत्वपूर्ण विशेषाधिकार" समझते हैं। परन्तु अनेक लोग ऐसे हैं जो "कुछ अन्य चीजों के बदले इसे त्यागने को तैयार हैं। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व राष्ट्रीयता की भावना के विकास के लिए बुरा है और अल्पसंख्यकों के लिए बदतर है, क्योंकि राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा से अलग होने पर उन्हें विरोधी बहुसंख्यकों से टक्कर लेनी होगी।

22 दिसम्बर, 1928 को सर्वदल सम्मेलन में, अपने संतुलित अध्यक्षीय भाषण में डा० अंसारी ने अपने सहधर्मियों से अनुरोध किया कि वे नेहरू रिपोर्ट का समर्थन करें, परन्तु उसका भी कोई असर न हुआ। उन्होंने बताया था कि संवैधानिक सुरक्षा "अयोग्यता के लिए पुरस्कार" है। जो अल्पसंख्यक समुदाय विशेष संरक्षण का अभ्यस्त हो जाता है वह कभी भी प्रतिस्पर्धा में खड़े होने की योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता। वह वस्तुत: "अज्ञान, धर्मोन्माद और आलस्य में इतना अधिक डूब जाएगा कि अन्त में उन्हीं लोगों द्वारा उसका गला घोंट दिया जाएगा, जो उसे आंशिक समर्थन दे रहे हैं।" नेहरू समिति की सिफारिशों के प्रति तर्कसंगत रुख अपनाने की वकालत करते हुए, डा० अंसारी ने कहा: "मैं उस मनोवृत्ति को समझने में असमर्थ हूं और उससे सन्तुष्ट नहीं हूँ। जो मसौदा संविधान में दिया गया है, बल्कि जो इस ढंग से मांग करती है मानो उसका निषेध जीवन और मरण का प्रश्न बन जाएगा।" उन्होंने 'लीग आफ नेशन्स' की एक समिति द्वारा कुछ समय पहले व्यक्त किये गये मत का उल्लेख किया। विशेषज्ञों की इस अन्तर्राष्ट्रीय समिति ने कहा था: "अल्पसंख्यकों की सच्ची सुरक्षा बहुसंख्यकों की सद्भावना है।" डा० अंसारी को विश्वास था कि बेहिचक स्वराज्य—संविधान

14. बी०आर० नंद लिखित "दी नेहरूज : मोतीलाल एंड जवाहरलाल"। जार्ज एलिन एंड अनविन, 1962, पृ० 109

स्वीकार कर लेने से साम्प्रदायिक एकता बढ़ाना संभव हो जाएगा।[15] डा० अंसारी का भाषण धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद पर एक सुललित निबन्ध था। राष्ट्रवादी की हैसियत से इसमें दोष निकालना जिन्ना के लिए असंभव था। पर साथ ही वे मुस्लिम लोग के उन पृथक्तावादियों की उपक्षा नहीं कर सकते थे, जो यह आग्रह कर रहे थे कि मुसलमानों को केन्द्रीय विधान मंडल में उसकी सदस्य संख्या के कम से कम एक तिहाई के बराबर प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। 28 दिसम्बर को सर्वदल-सम्मेलन में भाषण देते हुए उन्होंने इसकी मांग की। उन्होंने यह तो स्वीकार किया कि नेहरू रिपोर्ट के अनुसार, मुसलमानों को केन्द्रीय विधान मंडल में इस अनुपात में तथा इससे भी अधिक प्रतिनिधित्व मिल सकता है, पर साथ ही कहा कि "प्रान्तों में, जहां मुसलमान अल्पमत में हैं, इसे प्राप्त करने की प्रक्रिया बिलकुल ठीक नहीं है।" उन्हें भय था कि पंजाब और बंगाल के मुसलमानों को अधिक प्रतिनिधित्व मिल जाएगा। उन्होंने कहा : "यही कारण है कि हम कहते हैं कि एक तिहाई निश्चित कर दिया जाए और उसे अपनी सुविधा के अनुसार मुसलमानों में बांटने के लिए हम पर छोड़ दिया जाए।" उन्होंने यह भी अनुरोध किया कि भावी संविधान में अवशिष्ट शक्तियां प्रान्तों को देने की व्यवस्था की जानी चाहिए। जिन्ना ने दावा किया कि मैं विशुद्ध संवैधानिक प्रश्न उठा रहा हूं, जिसका साम्प्रदायिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

सर तेज बहादुर सप्रू जिन्होंने नेहरू रिपोर्ट तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी, उसमें कोई आमूल परिवर्तन नहीं करना चाहते थे। फिर भी वे राष्ट्रीय एकता की खातिर जिन्ना की मांगें स्वीकार करने को तैयार थे। उन्होंने बताया कि केन्द्रीय विधानमंडल में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व, नामजद सदस्यों सहित, पहले ही 27 प्रतिशत है, जबकि जिन्ना 33 प्रतिशत चाहते हैं। सप्रू ने सम्मेलन से कहा कि यद्यपि यह मांग "तर्क विरुद्ध एवं असंगत" है, फिर भी इसे स्वीकार कर लेना चाहिए। वे 15 वर्षों से जिन्ना को भलीभांति जानते थे। वह एक "बिगड़े" और "नटखट बच्चे" जैसा था। उसे मनाने का सबसे अच्छा तरीका यह था कि जो वह चाहे वही उसे दे दिया जाए। सप्रू ने यह भी कहा कि मैं अपनी "तार्किक होने की प्रतिष्ठा" की बलि देकर भी समझौते के लिए उत्सुक हूं। राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता अन्य सभी आवश्यकताओं से ऊपर है।[16]

15. एन०एन० मित्रा द्वारा संपादित "दी इंडियन क्वार्टर्ली रजिस्टर" भाग I 1928, पृ० 97

16. वही पुस्तक, पृ० 123—26

उसी दिन, 28 दिसम्बर को सम्मेलन को संबोधित करते हुए जयकर ने जोरदार शब्दों में वकालत की कि नेहरू रिपोर्ट को, बिना परिवर्तन के, उसी रूप में स्वीकार किया जाए, जिस रूप में वह तैयार की गई है। उन्होंने कहा कि उसमें ऐसे अनेक उपबन्ध हैं, जिनसे मैं तथा मेरे मित्र सहमत नहीं हैं, फिर भी हमने उसके समर्थन का निश्चय किया है, क्योंकि, जैसा सर तेज बहादुर सप्रू ने कहा है, उसे देश में सबसे अधिक सहमति प्राप्त है। उन्होंने बताया कि उनके द्वारा तैयार किया गया संविधान का ढांचा चार सिद्धांतों पर आधारित है। पहला यह कि, मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य किसी समुदाय के लिए स्थान सुरक्षित नहीं किए जाएंगे, दूसरा यह कि मतदान वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा, तीसरा यह कि, किसी भी प्रान्त में बहुसंख्यक समुदाय को सुरक्षित स्थान नहीं मिलेंगे तथा अन्तिम यह कि अल्पसंख्यकों को केवल उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और सिन्ध में ही मान्यता मिलेगी।

जयकर ने यह भी कहा कि यदि मुसलमानों को कुछ अधिक सीटें मिलती हैं, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। परन्तु उन्होंने आग्रह किया कि संपूर्ण प्रश्न पर एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार होना चाहिए। रिपोर्ट में जो विविध प्रकार की सिफारिशें की गई हैं, वे प्रस्तावित संविधान के अभिन्न अंग हैं। इसलिए उनमें से किसी के साथ छेड़-छाड़ करना तथा इस प्रकार संपूर्ण संवैधानिक ढांचे के ढहने का खतरा मोल लेना बुद्धिमानी का काम नहीं होगा। जिस प्रश्न पर गंभीर विचार की आवश्यकता है वह यह कि मुसलमानों को संरक्षण प्रदान करने के लिए आखिर कितनी दूर तक जाया जा सकता है। लखनऊ समझौते में मुसलमानों को दूरगामी रियायतें दी गई थीं, फिर भी वह एक रद्दी कागज बनकर रह गया, क्योंकि मुस्लिम लीग उससे असन्तुष्ट थी। जब जयकर को नेहरू समिति में काम करने के लिए निमंत्रित किया गया तो उन्होंने अध्यक्ष से कहा था कि अभी सर्वसम्मत संविधान तैयार करने की शुभ घड़ी नहीं आई है।

जयकर ने यह भी कहा कि सच बोलने के कारण मैं सम्प्रदायवादी कह कर "बदनाम" किया जा रहा हूं। हाल के वर्षों में इस शब्द का एक नया अर्थ हो गया है। उन्होंने कहा कि : "अगर मैं हिन्दुओं के अधिकारों की बात कहने की जुर्रत करता हूं तो मैं सम्प्रदायवादी हूं, परन्तु यदि राष्ट्रीय प्रवृत्ति का कोई मुसलमान मुसलमानों के अधिकारों के लिए लड़ता है तो वह फिर भी राष्ट्रवादी है।"

उन्होंने जिन्ना का भाषण ध्यान से सुना था और जिस कुशलता से उन्होंने मुसलमानों के मामले को प्रस्तुत किया था, उससे वे प्रभावित हुए थे। परन्तु इसमें उन्हें कोई संदेह नहीं था कि जिन्ना ने मसौदा संविधान में जो संशोधन चाहे थे, उनका "मूल सांप्रदायिक भावना में" था। वे संदेह पर आधारित थे। जयकर बहुत वर्षों से जिन्ना को जानते थे और उनका आदर करते थे। वे "देशभक्त" आदमी थे और अपनी मांगों के न माने जाने पर भी राष्ट्रवादियों की पंक्ति से पृथक होने वाले न थे।

जयकर का भाषण इतना प्रभावशाली था कि जिन्ना के संशोधन अधर में ही लटके रह गए।[17] कुछ लेखकों का तो यहां तक कहना है कि यह जिन्ना के राजनीतिक जीवन में मोड़ लाने वाला सिद्ध हुआ। यह आरोप सर्वथा असंगत है कि जिन्ना को साम्प्रदायिक खेमे में धक्का देने के लिए जयकर का भाषण जिम्मेदार है। कोई असाधारण रूप से भोला व्यक्ति ही यह विश्वास कर सकता है कि यदि दिसम्बर 1928 के सर्वदल-सम्मेलन में जिन्ना की मांगें मान ली जातीं, तो मुस्लिम संप्रदायवाद का चीता अपना स्वभाव बदल लेता। वस्तुतः यह मानने का भी कोई कारण नहीं है कि उस घटना के बाद वे चिड़चिड़े हो गए। वे पहले की तरह ही राष्ट्रवादी और मुस्लिम मांगों के लिए लड़ने वाले की दुहरी भूमिका निभाते रहे। मार्च 1929 में, उन्होंने अपने प्रसिद्ध 14 सूत्र तैयार किए और उनके लिए मुस्लिम लीग की अनुमति प्राप्त कर ली। इससे यह सिद्ध होता है कि मुस्लिम साम्प्रदायिक हित उनको कम से कम उतने प्रिय थे, जितनी भारत की स्वतंत्रता। जून 1929 में उन्होंने ब्रिटिश प्रधान मंत्री रामजे मेक्डोनाल्ड को लिख कर इस देश को स्वशासन का अधिकार देने से इन्कार करने पर, व्हाइटहाल की निन्दा की। इस प्रकार जिन्ना में पूरी संजीदगी के साथ डा० जेकिल और मि० हाइड की भूमिका अदा करने की अद्भुत प्रतिभा थी।

नेहरू रिपोर्ट को जयकर या जिन्ना ने नहीं, ब्रिटिश सरकार ने आगा खां और उसके राष्ट्रविरोधी विचारधारा वाले साथियों की सक्रिय सहायता से पलीता लगाया। वायसराय लार्ड इर्विन ने इस आधार पर उसे रद्द कर दिया कि भारत

17. वही, पृ० 128–129

के लिए संविधान बनाने का एकमात्र अधिकार ब्रिटिश संसद को है। तकनीकी दृष्टि से तो वह निश्चय ही ठीक था, परन्तु नेहरू रिपोर्ट की खास-खास बातों को स्वीकार करने और उन्हें अपनी मान कर प्रस्तुत करने से ब्रिटिश संसद को कौन रोक रहा था? रिपोर्ट का लेखक तो उसमें उचित संशोधन स्वीकार करने के लिए भी तैयार था। मोतीलाल नेहरू को विश्वास था कि यदि यह स्पष्ट कर दिया जाए कि "हमारे पारस्परिक सम्बन्धों के ऐसे समंजनों की शर्त के साथ, जो भारत की विशिष्ट आवश्यकताओं और परिस्थितियों तथा हमारे पुराने सम्पर्क के लिए जरूरी हैं, स्वतन्त्र भारत का संविधान बनाने के लिए" एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाएगा, तो कांग्रेस को किसी भी समझौता प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए मनाया जा सकता है।[18] लन्दन के "द टाइम्स" के सम्पादक ज्योफ्रे डासन जब भारत में मोतीलाल से मिले थे, तब उनसे भी उन्होंने यही बात कही थी।

इस सामान्य से न्याय कार्य को करने के बजाय, व्हाइटहाल ने नेहरू समिति के महान कार्य को ध्वस्त करने के लिए मुस्लिम सम्प्रदायवादियों को उकसाया। 31 दिसम्बर, 1928 को दिल्ली में शुरू हुए मुस्लिम सर्वदल सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए, आगा खां ने कुछ "सत्याभास" प्रस्तुत किए, जिनका तात्पर्य यह था कि भारत में ब्रिटिश शासन तथा मुस्लिम पृथकतावाद को स्थायित्व प्रदान किया जाए। सम्यक् प्रकार से अपना भाषण शुरू करते हुए उन्होंने सम्राट के स्वास्थ्य के प्रति चिन्ता प्रकट की तथा अल्लाह से दुआ की कि वे शीघ्र ठीक हो जाएं, ताकि वे अपनी प्रजा पर अपने कल्याणकारी शासन के आशीर्वाद की वर्षा करने के लिए बहुत दिनों तक जी सकें। आगा खां द्वारा प्रतिपादित सबसे उल्लेखनीय 'सत्याभास' यह था कि भारत के मुसलमान सम्प्रदाय नहीं हैं, बल्कि एक विशिष्ट अर्थ में राष्ट्र हैं।

हिज हाइनेस आगा खां द्वारा नेतृत्व प्रदान किए जाने मात्र के हर्षोल्लास से सम्मेलन झूम उठा। उसने संयुक्त निर्वाचनों को न चलने योग्य प्रथा बताकर दृढ़ता से और अन्तिम रूप से रद्द कर दिया। इस अवसर पर दिए गए कुछ भाषणों से यह सिद्ध हो गया कि ऐसे लोगों के साथ कोई तर्कसंगत समझौता करने का प्रयत्न कितना निरर्थक था। अपने सहधर्मियों के समक्ष यह सिद्ध करने के लिए कि एक

---

18. जार्ज स्कोलोंबी लिखित "दी ट्यूनल्ड ऐंड दी शाउटिंग", मेकमिलन, 1936, पृ० 37

मुसलमान तीन "काफिरों" के लिए काफी है, मौलाना मोहम्मद अली ने एक काल्पनिक अतीत की दुहाई दी।[19]

यह मनोवृत्ति थी, जिसने जयकर जैसे लोगों के इस विश्वास को दृढ़ कर दिया कि यदि हिन्दू लोग, महात्मा गांधी और कांग्रेस की बात मानकर, आक्रमणकारी मुस्लिम सम्प्रदायवाद के विरुद्ध हारी हुई लड़ाई लड़ते रहे, तो राष्ट्रीय एकता कभी नहीं स्थापित हो सकती। जैसा कि हम आगे देखेंगे, जयकर सभी प्रकार के धार्मिक पूर्वाग्रहों से सर्वथा मुक्त थे। वे मुस्लिम सन्तों का आदर तथा मुस्लिम संगीतज्ञों की प्रशंसा करते थे। उनका एक मुसलमान नौकर सलामुद्दीन था, जिसने अटल स्वामिभक्ति के साथ अन्त तक उनकी सेवा की। सलामुद्दीन पठान था और अबोटाबाद का रहनेवाला था। जयकर को धर्मान्धता और बुद्धि की संकीर्णता से घृणा थी। ऐसा आदमी कभी साम्प्रदायवादी नहीं हो सकता था।

---

[19]"दी इंडियन क्वार्टर्ली रजिस्टर", 1928, भाग 2, पृ० 417, 20 अक्तूबर, 1921 को महात्मा गांधी ने मोहम्मद अली और उनके भाई के बारे में यंग इंडिया में लिखा: "मैं ऐसे तीन आदमी नहीं जानता, जिनके हृदय अलीभाइयों के और मेरे हृदय से अधिक जुड़े हों। फिर भी मैं पाठक को विश्वास दिलाता हूं कि यह एकता दिखावा मात्र नहीं है, बल्कि स्थायी मैत्री है, जो एक-दूसरे के विचारों और आदतों के प्रति अत्यंत शिष्टतापूर्ण सम्मान और सहिष्णुता पर आधारित है।" गांधीजी के ऐसे उद्गारों से प्रकट होता है कि हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए वे कितने व्यग्र थे।

अध्याय 9

समाज-सुधारक

'द इंडियन एक्सप्रेस' में, 28 सितम्बर, 1941 को लिखे गए एक अत्यन्त ज्ञानवर्धक लेख में रैम्बलर ने लिखा कि जयकर वास्तव में उदारवादी थे तथा संकीर्ण सम्प्रदायवादी नहीं हो सकते थे। रैम्बलर ने कहा : "हाल ही में मिस्टर जिन्ना ने उन पर यह आरोप लगाया है कि वे विभिन्न अवसरों पर विभिन्न दलों के सदस्य रह चुके हैं। ऊपरी तौर से देखने पर जयकर का राजनीतिक रंग-ढंग जैसा भी रहा हो, जैसा कि मिस्टर जिन्ना कहते हैं, परन्तु आरोप उनके चरित्र और सार्वजनिक कार्य के गलत मूल्यांकन पर आधारित है।" लेखक ने बताया कि जयकर "तिलकवादी" थे, स्वराज्य पार्टी के सदस्य थे, "अनुक्रियावादी" थे, उदारवादी थे तथा हिन्दू महासभा के सदस्य थे, फिर भी, बम्बई के उस वकील ने विभिन्न भूमिकाओं में, जो उन्हें करनी पड़ीं, कोई असंगति नहीं देखी।

रैम्बलर ने बताया कि हिन्दू महासभा के साथ जयकर का संबंध तब शुरू हुआ, जब ख़िलाफत के बाद के समय में मुसलमानों के असमझौतावादी रवैये ने हिन्दू हितों के संगठन को अनिवार्य बना दिया। भारत विभाजन की मांग ने मुसलमानों के दावे को अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया जिससे उनकी विचित्र गतिविधियों के बारे में जयकर के विचार सुदृढ़ हो गए। परन्तु जयकर संकीर्ण सम्प्रदायवादी नहीं हैं और उनके आदर्शों एवं स्वप्नों का भारत सभी सम्प्रदायों के दावों को न्याय एवं निष्पक्षता से देखेगा।

बारम्बार होने वाले साम्प्रदायिक उपद्रवों तथा राष्ट्रवादी कहे जाने वाले कुछ शीर्षस्थ मुस्लिम नेताओं के उत्तेजक धुंआधार भाषणों ने जयकर की भ्रान्ति भी उसी प्रकार दूर कर दी, जिस प्रकार पंडित मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय आदि अनेक अन्य नेताओं की की थी। अब वे गांधीजी और कांग्रेस की तरह यह विश्वास नहीं करते थे कि हिन्दुओं के लिए साम्प्रदायिक एकता इतनी अधिक कीमती है कि उसका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। वे यह नहीं मान सकते थे कि बहुसंख्यक समुदाय द्वारा लगातार अपने वैध अधिकारों का समर्पण करते रहने से हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य संभव है अथवा अभीष्ट है।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, जयकर की दृष्टि संकीर्ण साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों से धूमिल न थी। धर्मनिष्ठा के प्रति उनमें स्वाभाविक आदर की भावना थी, चाहे यह किसी भी व्यक्ति में श्रेष्ठ मात्रा में विद्यमान हो। वे हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द्र में दृढ़ विश्वास रखते थे और अनेक वर्षों तक जिन्ना के साथी रहे थे तथा राष्ट्रीय एकता बढ़ाने के लिए उनसे मिलकर काम किया था। साथ ही उनका विश्वास था कि अपनी विरासत की रक्षा करना भी एक कर्तव्य है, जिसकी उपेक्षा करना उनके लिए असंभव था। मौलाना मोहम्मद अली, जोकि कभी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे, तथा उन जैसे अन्य लोगों की गतिविधियों और सार्वजनिक भाषणों ने उन्हें आश्चर्य में डाल दिया और क्षुब्ध भी कर दिया। 8 मई, 1926 को अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन को संबोधित करते हुए मौलाना ने तबलिग या धर्म-परिवर्तन आन्दोलन के समर्थन के साथ-साथ यह घोषणा भी की कि 'मैं बड़ी उत्सुकता से उस दिन की बाट जोह रहा हूं, जब मैं महात्मा गांधी का धर्म-परिवर्तन करके उन्हें इस्लाम में दीक्षित करूंगा।'[1]

महात्मा गांधी गाय को 'दया की कविता' समझते थे, परन्तु बहुत कम मुसलमान उनके इस विचार से सहमत थे। जयकर ने लिखा है कि एक एकता-सम्मेलन में, जिसमें देश के सभी प्रमुख समुदायों के सदस्य एकत्रित हुए थे, एक मुस्लिम धर्मोपदेशक ने घोषणा की थी : "यदि धर्म की बात की जाए, तो मेरा धर्म मुझे यह सिखाता है कि मुझे गाय का वध करना चाहिए तथा ऐसे बहुत से काम करने चाहिए, जो हिन्दुओं को बुरे लग सकते हैं। परन्तु क्या केवल इसलिए कि भारतीय धर्म में इसके लिए दंड का विधान है अथवा इसलिए कि भारतीय राष्ट्रीयतावाद इसे छुड़वाना चाहता है, मैं इसे छोड़ सकता हूँ?" इस भाषण ने लाजपतराय और जयकर दोनों को अचम्भे में डाल दिया, दोनों ही सम्मेलन में उपस्थित थे।[2]

यद्यपि ऐसी घटनाएं अत्यन्त क्षोभजनक थीं, फिर भी जयकर ने भारत के प्रमुख समुदायों में सौहार्द्र पैदा करने की आशा कभी नहीं छोड़ी। अनेक बार उन्हें केवल मुस्लिम श्रोताओं को सम्बोधित करने के लिए आमन्त्रित किया गया, इससे यह सिद्ध होता है कि उन्हें किसी सम्प्रदाय से द्वेष नहीं था। उदाहरणार्थ 22 अक्तूबर, 1924 को, उन्होंने बम्बई प्रेसीडेंसी मुस्लिम शिक्षा

1. "द इंडियन क्वार्टर्ली रजिस्टर" भाग 1, 1926, पृ० 411
2. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 1, पृष्ठ० 359

9—262 M. of I & B/ND/82

सम्मेलन में एक विशाल जनसभा को संबोधित किया था, जिसमें उनके भाषण का विषय था—मुस्लिम शिक्षा। शिक्षा की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा—"यह शैशव एवं किशोरावस्था में नागरिकों को प्रशिक्षित करने का विज्ञान एवं कला है।" उन्होंने अनुरोध किया कि ऐसी शिक्षा पर्यावरण का विशेष ध्यान रखते हुए दी जानी चाहिए। उन्होंने कहा कि सभी समुदायों के बच्चों को साथ-साथ रखना चाहिए और साथ-साथ ही पढ़ाना चाहिए। उन्होंने यह स्वीकार किया कि न तो मसलमान और न हिन्दू ही अभी यह कहने को तैयार हैं कि वे पहले भारतीय हैं और बाद में और कुछ हैं। परन्तु उन्होंने यह महसूस किया कि ध्यानपूर्वक तैयार की गई पाठ्य पुस्तकों की सहायता तथा अन्य तरीकों से युवकों म एक समान राष्ट्रीयता की सच्ची भावना पैदा कर सकना संभव है।

मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन में तथा अन्यत्र भी उन्होंने इस बात पर बल दिया कि सच्ची शिक्षा और ज्ञान के समुचित प्रसार से ही राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। उसी महीने, कलकत्ता के एक पत्र में उनका एक लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें कहा गया था "हमें उन्हे (हिन्दूओं और मुसलमानों को) यह सिखाना चाहिए कि देशभक्ति को जिसकी अपेक्षा है वही उनके धर्म के उपदेश हैं तथा एक अधिक अच्छा, अधिक धर्मनिष्ठ और अधिक श्रद्धालु हिन्दू या मुसलमान बनने के लिए उतनी सद्भावना और सहिष्णुता रखनी चाहिए, जितनी भारतीय देशभक्ति के लिए आवश्यक है"।[3] अनेक वर्षों बाद, एक अन्य मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन को संबोधित करते हुए जयकर ने कहा कि दोनों सम्प्रदायों के लोगों की एक संस्था बनाई जाए जो दोनों संस्कृतियों की व्याख्या एवं समन्वय करे।

परन्तु वे यह भी समझते थे कि जब तक बहुसंख्यक समुदाय अनेक सामाजिक और धार्मिक बुराइयों से ग्रस्त रहेगा, तब तक हिन्दू-मुस्लिम एकता एक कल्पना की वस्तु ही रहेगी। हिन्दू एक ऐसे परिवार का दयनीय दृश्य प्रस्तुत करते थे, जो विभाजित होकर आपस में ही लड़ रहा हो। समूचे इतिहास में मिल कर काम करने की उनकी क्षमता उनके सामाजिक विभाजन के कारण विनष्ट होती रही है। सामाजिक विभाजन अपनी पूर्णता की दृष्टि से ही नहीं, विवेकहीनता की दृष्टि से भी अद्भुत है। चातुर्वर्ण्य या चतुर्विध वर्णव्यवस्था, जिससे हिन्दू जाति की उत्पत्ति मानी जाती है, अपने जन्म के समय कदाचित एक मामूली संस्था थी।

3. 'द स्टोरी आफ माई लाइफ', भाग 2, पृ० 461–67

बताया जाता है कि हिन्दू समाज व्यवस्था प्रारम्भिक काल में पूर्णतया व्यावहारिक थी। कुछ विद्वानों के अनुसार, ब्राह्मण वर्ण या पुरोहित वर्ग का काम समाज की शैक्षिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा करना था। उसके सदस्यों से आशा की जाती थी कि वे समस्त श्रेष्ठ गुणों से युक्त आदर्श व्यक्ति होंगे और व्यक्तिगत सच्चरित्रता एवं पाण्डित्य में विशिष्टता प्राप्त करेंगे। क्षत्रिय वर्ण या योद्धा जाति का काम बाह्य आक्रमण एवं आन्तरिक अशान्ति से देश की रक्षा करना तथा धर्म को बचाना था। वैश्य वर्ण या व्यापारी वर्ग का काम समाज की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करना तथा उसकी आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना था। इसने देश के वाणिज्य व्यवसाय में विशेषज्ञता प्राप्त कर ली थी। शूद्र वर्ण के काम भी कम महत्वपूर्ण या कम सम्माननीय नहीं थे। लोगों की खाद्य पदार्थ संबंधी तथा अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए शूद्र जमीन जोतते थे और भरपूर फसलें पैदा करते थे। वे ही वस्तुतः अर्थव्यवस्था के आधार-स्तम्भ थे।

यह निःसन्देह समाज की एक आकर्षक तस्वीर है, जिसमें कर्तव्यों को बड़ी सावधानी से अधिकारों के साथ जोड़ दिया गया था। यह बताया गया है कि योग्यता और क्षमता के आधार पर किसी व्यक्ति का समाज में स्थान निश्चित किया जाता था। यदि कोई शूद्र बौद्धिक तथा अन्य गुणों से युक्त होता, तो वह पुरोहित का काम कर सकता था। पूर्णतया कर्मप्रधान होने के कारण समाज-व्यवस्था, ऊंच-नीच के विचार पर आधारित और अपरिवर्तनीयता का दम भरने वाली कठोर जातिप्रथा का रूप न ले सकी।

कदाचित् ऐसी आदर्श परिस्थितियां ईसा से हजारों वर्ष पहले उस समय मौजूद थीं, जब आर्य-समाज अपनी आरम्भिक अवस्था में था। ज्यों-ज्यों आर्यों का प्रभाव देश के बड़े भूभागों में बढ़ता गया, त्यों-त्यों समाज का ढांचा अधिकाधिक जटिल होता गया। विकास की विभिन्न अवस्थाओं में विद्यमान विविध जातियों को हिन्दू क्रोड़ में लेने का महान कार्य मौजूदा समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन किए बिना पूरा नहीं किया जा सकता था। फिर भी इसकी लचक अधिकतर कायम रही, जिससे यह अनेक जातियों को, जो समय–समय पर उमड़ती हुई इस देश में आती रहीं, बिना किसी कठिनाई के आत्मसात कर सकी। यूनानी, हूण, सीथियन जातियां तथा अगणित अन्य विदेशी लोग शीघ्र ही अपना पृथक अस्तित्व समाप्त कर भारतीय समाज व्यवस्था में घुल-मिल कर एकरस हो गए।

हिन्दू, जो बहुत समय से सभ्यता के उच्चतम शिखर पर थे, उस समय नीचे गिर गए, जब उन्होंने अपने समाज को अनेक कठोर, एक-दूसरे से अलग तथा स्वाभिमानी जातियों के बन्धनों में बंधने दिया। जाति-प्रथा का अस्तित्व तर्कसंगत न होकर केवल जन्म और अनुरूपता पर आधारित था, जिससे हिन्दुओं में काफी सामाजिक विषमता पैदा हो गई। जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग अमानवीय सामाजिक बहिष्कार का शिकार हो गया और उसमें अपने अधःपतन के लिए जिम्मेवार पुरोहित वर्ग के विरुद्ध तीव्र आक्रोश की भावना जागृत हो गई।

जयकर ने हिन्दू धर्मविज्ञान का गम्भीर अध्ययन किया था। वे ऊंच-नीच के भेदों और असमानताओं वाली मौजूदा समाज-व्यवस्था को स्वाभाविक व्यवस्था मानने के लिए तैयार न थे। उनकी यह धारणा थी कि हिन्दू समाज में "विशेषाधिकार प्राप्त कट्टर पन्थ" के लिए स्थान नहीं है। उनका कहना था कि हिन्दू समाज को प्रत्येक सांचे में ढलने और फैलने की अपनी पुरानी क्षमता अवश्य प्राप्त करनी चाहिए। प्राचीन समय की इस विशिष्टता का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा, "जैसा कि आलोचकों का कहना है, सैक्रोफैगस की तरह उसमें आत्मसात करने की अपरिमित शक्ति थी, जो उसमें बन्द किए गए पदार्थों को धीरे-धीरे निगल जाता है।" वे चाहते थे कि हिन्दू वर्तमान स्थिति की वास्तविकता को समझें और उसका मुकाबला करें तथा अपनी सामाजिक संस्थाओं को नया रूप दें ताकि हिन्दुओं को अपना धर्म त्याग कर दूसरे धर्मों में जाने से रोका जा सके। उन्होंने लिखा "इसलिए हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि हम आत्मसात् करने की इस प्राचीन समन्वयकारी भावना को पुनर्जीवित करें, ताकि एक नए प्रकार की संस्कृति का विकास हो सके, जिसमें मुस्लिम और ईसाई संस्कृतियां भी शामिल हों।"

जयकर उतने ही पक्के हिन्दू थे, जितने पक्के राष्ट्रवादी। वे अपने सहधर्मियों का, सब मतभेद भुला कर एक होने तथा उन भारी बुराइयों को दूर कर एक सुदृढ़ और एकीभूत राष्ट्र बनने के लिए आह्वान करने के किसी अवसर को नहीं चूकते थे, जो शताब्दियों से उनके सामाजिक जीवन और राजनीतिक विश्वासों में घुस गई थीं। उनका कहना था कि एक समुदाय के रूप में जीवित रहने के लिए उनका सुधार आवश्यक था। वे उनमें अलगाव की सभी प्रवृत्तियों को आत्मघाती समझते थे, इसलिए उन्होंने ब्राह्मण-अब्राह्मण आन्दोलन के बारे में, जिसने 1920 और 1930 के दशकों में काफी उग्र रूप धारण कर लिया था, अत्यंत तर्कसंगत रुख

अपनाया। उनका विरोध अयोग्य ब्राह्मणों को मिले बहुत से विशेषाधिकारों से था, ब्राह्मण समुदाय से नहीं था। उनमें अनेक व्यक्ति ऐसे थे जो उनके गुरु होने के साथ-साथ, प्रगतिशील हिन्दुओं के मार्गदर्शक थे। उदाहरणार्थ, लोकमान्य तिलक के प्रति, जो एक चितपावन ब्राह्मण थे, उनके आदर और प्रशंसा के भाव लगभग चरम कोटि के थे। वह एक दुर्दम राजनीतिक नेता के रूप में ही नहीं, अपितु एक महान विद्वान के रूप में भी तिलक की प्रशंसा करते थे, जिनका 'गीता-रहस्य' उनकी विद्वत्ता का ही नहीं, धर्म के प्रति उनके व्यावहारिक दृष्टिकोण का भी परिचायक है।

सभी तर्कवादियों की भांति जयकर भी जाति-प्रथा की पवित्रता को स्वीकार नहीं करते थे। मानव की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनी कोई भी संस्था अपरिवर्तनशील होने का दावा नहीं कर सकती। वस्तुतः अलग-अलग समूहों के मिश्रण से बनी जाति-प्रथा स्वयं परिवर्तन से पैदा हुई थी। भगवान बुद्ध जैसे महान व्यक्ति ने भी अन्धे बन कर परम्परा से चिपके रहने का निषेध किया था। एक महान तर्कवादी होने के कारण, उनका उद्देश्य अन्धविश्वास तथा उसके साथ-साथ चलने वाली यज्ञ संबंधी पवित्रता के बढ़ते हुए प्रभाव को दूर कर आध्यात्मिक धर्म की श्रेष्ठता को पुनःस्थापित करना था।

जयकर ने जाति-प्रथा की बुराई अपने जीवन में ही अनुभव कर ली थी। वे ब्राह्मण नहीं थे, अतः समाज में ऊंचा स्थान प्राप्त नहीं कर सकते थे। जैसा कि हम इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में देख चुके हैं, हाई स्कूल में उनके सनातनी अध्यापक ने उन्हें दूसरी भाषा के रूप में संस्कृत लेने से रोकने के लिए पूरा प्रयास किया था परन्तु उनकी अपनी एवं उनके नाना की दृढ़ता तथा संस्थान के प्रमुख, जो कि एक ब्राह्मण थे, के प्रभाव के कारण अन्त में उनकी विजय हुई। यह जयकर की विशेषता थी कि उन्होंने अपने दिमाग को इस अनुभव से कभी विकृत नहीं होने दिया। वे अब्राह्मण आन्दोलन के तात्विक औचित्य में विश्वास करते थे, परन्तु इस बात के लिए उत्सुक थे कि सामाजिक समानता के अभियान में द्वेष की भावना न रहे।

जयकर ने इस विषय पर काफी सोच-विचार किया, लेख लिखे और भाषण दिए। वे इस बात के लिए चिन्तित थे कि ब्रिटिश भारतीय सरकार ने जो देश में अपना स्थायित्व बनाए रखने के प्रयत्न में 'फूट डालो और राज्य करो' के सिद्धांत पर चलने में तनिक भी नहीं हिचकिचाती थी, ब्राह्मणों

तथा अन्य लोगों के मतभेदों से कोई लाभ न उठा सके। सितम्बर 1921 में, सामाजिक न्याय के लिए धर्मयुद्ध चलाने वाले एक व्यक्ति को जयकर ने लिखा: "मेरे जैसे विचारों के लोग यह समझते हैं कि अब्राह्मण समुदाय हिन्दू समाज में एक बहुत ऊंचे स्थान का अधिकारी है, बशर्ते कि वह हिन्दू समाज के और टुकड़े न होने दे।" उन्हें इसमें कोई सन्देह न था कि अब्राह्मणों का भविष्य उज्ज्वल है। उन्होंने लिखा : "यदि अब्राह्मण विवेकशील देशभक्त के रूप में अपने संघर्ष में विश्वास करता है और राज्य को मजबूत बनाने के खेल में ब्रिटिश सरकार के हाथ का खिलौना बनने से इन्कार कर देता है, तो मैं समझता हूं उसका रवैया ठीक है।"

1923 में अपने एक भाषण में, उन्होंने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया और कहा कि जाति-सम्बन्धों की समस्या आराम से या लापरवाही से हल नहीं हो सकती। इस पर तत्काल ध्यान देने और व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। उन्होंने बताया कि प्राचीन काल में भी जाति भेद मौजूद थे। उन्होंने उस घटना का उल्लेख किया, जिसमें अब्राह्मण ऋषि विश्वामित्र दूसरे ब्राह्मण ऋषि वशिष्ठ से भिड़ गए थे और अन्त में ब्राह्मणत्व प्राप्त करने में सफल हो गए थे। उनका विश्वास था कि पेशवा, जो अपनी जाति को सर्वश्रेष्ठ समझते थे मराठा साम्राज्य के शीघ्र पतन के लिए कम जिम्मेदार नहीं थे।

उन्होंने ब्राह्मणों से हृदय-परिवर्तन के लिए कहा। हिन्दू समाज के एकमात्र ठेकेदार बनने का दावा करते हुए उन्हें अपनी जाति पर गर्व करने वाले गोरों की तरह अहंकार की भावना नहीं रखनी चाहिए। उन्होंने कहा कि अब्राह्मणों को उनके महत्व और उनके संख्याबल के अनुसार "समाज के जीवन में अधिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिए"। उन्होंने बताया कि तत्वतः अब्राह्मणों की मांग सांस्कृतिक समानता और समरसता की है। परन्तु उन्होंन यह चेतावनी भी दी कि यदि अब्राह्मण स्वार्थपरता का जवाब स्वार्थपरता से, ईर्ष्या का ईर्ष्या से और घृणा का घृणा से देगा तो उसे कुछ न मिलेगा।

सहिष्णुता की वकालत करते हुए उन्होंने कहा : "ब्राह्मण को हटाने के लिए अब्राह्मण की सौदेबाजी को स्वार्थपूर्ण इच्छा का रूप नहीं लेना चाहिए। बल्कि यह उसके समानता के दावे की स्पष्ट रूप में प्रथम मान्यता होनी चाहिए। महात्माजी

ने अपने व्यक्तिगत उदाहरण से इस समस्या के समाधान का ठीक तरीका बताया है। हमें कम से कम उनके तरीके के रहस्य को समझना चाहिए और उस पर अमल करना चाहिए तथा अपने व्यवहार में इन वर्गों के प्रति अपना दृष्टिकोण धीरे-धीरे पूर्णतया बदल लेना चाहिए। तभी समस्या सुलझेगी और सच्चा स्वराज्य स्थापित होगा"।[4]

अनेक अब्राह्मणों की निगाह में जयकर का उपदेश पूर्णता का उपदेश था। सरकार के संरक्षण की कोई सीमा न थी और महत्वाकांक्षी लोगों के लिए अपनी व्यक्तिगत उन्नति के लिए दिए जाने वाले प्रलोभन से बचना आसान न था। अब्राह्मण आंदोलन बम्बई प्रान्त में और विशेष रूप से मद्रास की दक्षिणी प्रेसीडेंसी में बड़े जोरों पर चला। उसका आधार बेहतर सुविधाओं की मांग था। अधिक सीटों और अधिक पदों के लिए इतना अधिक शोर-गुल मचा कि उसने भारत मंत्री एडविन मांटेग्यू जैसे व्यक्ति को भी, जो 1917 में भारत आए थे, खिन्न कर दिया। उसने अपनी डायरी में लिखा : "इन अब्राह्मणों के बारे में सबसे अधिक चकित करने वाली बात मुझे यह लगी कि यद्यपि ये ब्राह्मणों के प्रभाव को रोकने के लिए काफी शक्तिशाली हैं, फिर भी ये लड़ने के बजाय पेट के बल लेट जाते हैं और सरकार से सहायता के लिए अपील करते हैं।"[5] जयकर चाहते थे कि वे अपने अधिकारों के लिए लड़ें, पर बिना क्रोध या कटुता के।

समाज के ऐसे अनेक प्रवक्ता थे, जो इस सुलझे हुए विचार से सहमत थे। 1924 में, बेलगांव में, अखिल भारतीय अब्राह्मण सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए सर ए० रामस्वामी मुदलियार ने स्पष्ट कहा कि अब्राह्मण आन्दोलन प्रतिक्रिया-वादी आन्दोलन नहीं है। उन्होंने कहा : "हम समाज की एक समान प्रगति के लिए उत्सुक हैं। हम अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन की संश्लिष्ट प्रगति के लिए उत्सुक हैं।"

11 मई, 1925 को, महाराष्ट्र प्रान्तीय सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए विदर्भ के एक नेता रामराव देशमुख ने भी ऐसा ही तर्क दिया था। लेकिन उनका यह मत था कि अब्राह्मण पार्टी ऊंचे आदर्शों से प्रेरित नहीं थी तथा उसके सदस्य जिस असमानता के विरुद्ध लड़ना चाहते थे, वह केवल उनके और ब्राह्मणों के बीच थी। उनका लक्ष्य इस बुराई को हिन्दू समाज से पूर्णतया हटाने

4. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 1, पृष्ठ 441, भाग 2, पृ० 119-21
5. एडविन एस० मांटेग्यू लिखित "एन इंडियन डायरी", हेनोमैन, 1930, पृ० 116

का न था। उस पार्टी की जैनों और लिंगायतों के प्रति भेदभाव की नीति की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए सम्मेलन के अध्यक्ष ने पूछा, "यह क्यों न कहा जाए कि अब्राह्मण पार्टी सभी जातियों में समानता लाने के लिए नहीं, बल्कि एक समूह को दूसरे समूह पर श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए बनाई गई थी ?"[6]

जयकर ने दलित जातियों की सभी कमजोरियों को दूर करने का निर्भीकता से समर्थन किया। उन्होंने कहा कि स्वर्ण हिन्दुओं को इस बात का स्पष्ट प्रमाण देना चाहिए कि ये नीची जातियां वास्तव में उनके धर्म से ही सम्बन्धित हैं। उन्होंने उन्हें गांधीजी का अनुसरण करने के लिए कहा जिन्होंने हरिजनों के उत्थान के लिए केवल संघर्ष ही नहीं शुरू किया अपितु अन्त्यज या अछूत जाति के एक बच्चे को लेकर उसका पालन-पोषण अपने पोते-पोतियों के साथ किया। 23 फरवरी, 1928 को केन्द्रीय विधान सभा में भाषण देते हुए उन्होंने सिफारिश की कि सभी स्थानीय सरकारों को हिदायतें जारी की जाएं कि वे अछूतों तथा अन्य पिछड़ी जातियों की शिक्षा के लिए विशेष सुविधाएं प्रदान करें। उन्होंने आग्रह किया कि सभी सार्वजनिक सेवाएं उनके लिए खोल दी जाएं। हिन्दू समाज के सभी प्रगतिशील वर्गों ने उनके विचारों का समर्थन किया। जयकर के इस अनुरोध को कि उन लोगों के प्रति उदारता दिखाई जाए, आगे बढ़ाते हुए, लाला लाजपतराय ने मांग की कि सरकार उनके बच्चों की शिक्षा के लिए एक करोड़ रुपये अलग रख दिया करे। उन्होंने भारत मंत्री लार्ड बर्किनहैड को चुनौती दी कि वह उन्हें स्वतंत्र रूप से सभी सार्वजनिक कुओं, गलियों, सड़कों और संस्थाओं के इस्तेमाल की आज्ञा देकर उनके प्रति अपनी उत्कण्ठा की सत्यता का प्रमाण दे।

जयकर को इस समस्या की जटिलता के संबंध में कोई भ्रांति नहीं थी। वे जानते थे कि अस्पृश्यता हिन्दू समाज के जीवन की नस-नस में घुसी हुई है। उन्होंने बताया कि यह समझाने के लिए कि मनुष्य-मनुष्य में वास्तव में कोई अंतर नहीं है, महान धर्मज्ञ शंकराचार्य की भ्रांति दूर करने की कैसे आवश्यकता हुई। जब शंकराचार्य पवित्र गंगा नदी में स्नान करके वाराणसी में अपने स्थान को लौट रहे थे तो उन्हें एक चांडाल का धक्का लग गया, जिससे वे लड़खड़ा गए। परन्तु सावधान होने से पहले ही उस नीच चांडाल ने इतनी बुद्धिमानी

6. "द इंडियन क्वार्टर्ली रजिस्टर", 1925, भाग 1, पृ० 402

से उन्हें संबोधित किया कि उनकी आंखें खुल गईं । उस आदमी ने विनम्रता से पूछा : "क्या गंगा की पवित्र धारा और मेरे कमंडलु के अपवित्र जल में पड़ने वाली सूर्य की किरणें एक ही स्रोत से नहीं आतीं ? क्या चींटी से लेकर परम विधाता ब्रह्मा तक सभी प्रकार की सृष्टि में एक ही आत्मा विद्यमान नहीं है ? निद्रा और जागृति में, जीवन और मृत्यु में क्या एक ही चेतना विद्यमान नहीं है ? इन महान सत्यों की शिक्षा तुम्हीं ने मनुष्य जाति को दी है । तब कितने आश्चर्य की बात है कि तुम्हारे अन्दर फिर भी यह भ्रामक भेदभाव मौजूद है कि 'यह ब्राह्मण है, यह चांडाल है' ?"

इस रहस्य ज्ञान को स्वीकार करते हुए, महान शंकराचार्य ने उस अद्भुत उपदेशक को नम्रतापूर्वक प्रणाम किया । लोकोक्ति के अनुसार, यह चांडाल मनष्य रूप में भगवान शिव के अतिरिक्त और कोई न था । श्रद्धालु के अलावा, अन्य सभी के लिए यह कहानी मनगढ़न्त है, परन्तु इसके अन्दर जो उपदेश छिपा है, उसका मूल्य शाश्वत है तथा जब तक मनुष्य अपनी जाति की तात्विक एकता को न समझेगा तब तक वह सदा संगत रहेगा । इस घटना का कुछ विस्तार से उल्लेख करते हुए, जयकर ने बुद्धिमानी के साथ कहा है : "अब वे दिन नहीं हैं, जब देवता स्खलनशील मनुष्य जाति को दण्ड देने के लिए वेष बदल कर पृथ्वी पर आते हैं । परन्तु यह निश्चित है कि वे सुव्यवस्था के लिए अपने एजेंटों को यहां भेज देते हैं, ताकि गलती करने वाली जातियों को उनके पापों के लिए नीचा दिखाया जा सके ।"[7]

अपने लम्बे सार्वजनिक जीवन में जयकर ने अनेक बार अपने समाज का ध्यान इस दु:खद तथ्य की ओर आकर्षित किया और उसे जीवित रखने के लिए सुधार की आवश्यकता बताई । मई 1917 में, एक सामाजिक सम्मेलन में उन्होंने जो अध्यक्षीय भाषण दिया, उसमें हिन्दू-सुधार पर उनके विचारों का सार सन्निविष्ट है । उन्होंने कहा कि हिन्दू समाज का आधार अत्यन्त पुराना हो गया है, इसलिए उसके "सभी अंगों का" पूर्णतया पुनर्गठन होना चाहिए । उन्होंने घोषणा की कि "अन्तरात्मा की आवाज से अधिक बाहरी दबाव या ताकत के सामने झुकना, वंशपराम्परागत और जन्म के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में काल्पनिक भेद देखना, बुराई या गलती को चुपचाप सह लेना तथा भौतिक कल्याण की सामान्य उपेक्षा कर भाग्यवाद में विश्वास करना" अनुचित है ।

---

7 "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग ii, पृ० 9,10

उन्होंने तर्कपूर्वक कहा कि सामाजिक भेदभाव पैदा करके हिन्दुओं ने अपने समाज के कुछ वर्गों को "मानवता के प्रति स्वाभाविक आदर" से वंचित कर दिया है। जयकर के इस कथन की सत्यता को समझने के लिए डा० आंबेडकर की कुछ उक्तियों का अध्ययन करना काफी है। विद्वान डा० आंबेडकर को, जो महार कुल में पैदा हुए थे, तब तक लगातार उत्पीड़ित किया जाता रहा जब तक वे ख्याति को प्राप्त न हुए। डा० आंबेडकर बहुत बड़े विद्वान तो थे, पर साथ ही एक रूखे आदमी भी थे, जो अपने समुदाय के उत्पीड़तों पर हथौड़ा बजाने में कभी नहीं हिचकते थे। उन्होंने लिखा है "हिन्दू सभ्यता सभ्यता नहीं कही जा सकती। यह मानव जाति को दबाने और दास बनाने की दानवीय कपट-योजना है। उनकी कटुता की गहराई उनकी इस टिप्पणी में प्रतिबिम्बित होती है, "मैं हिन्दू पैदा हुआ, पर हिन्दू नहीं मरूंगा।"[8] परन्तु उनके पूर्वजों के धर्म के श्रेष्ठ उपदेशों का प्रभाव उन पर इतना अधिक था कि उन्होंने बौद्धधर्म अंगीकार किया, जो हिन्दू धर्म से अधिक भिन्न न था।

महाराष्ट्र के नासिक शहर में आयोजित सामाजिक सम्मेलन में दिए गए जयकर के भाषण की खूब प्रशंसा हुई। इसे वे अपनी "व्यक्तिगत विजय" समझते थे, क्योंकि लोकमान्य तिलक ने इस सम्मेलन में भाग ही नहीं लिया, अपितु उनके विचारों का दिल से समर्थन भी किया। जयकर ने लिखा है कि इस महापुरुष की "सुविदित सहमति के कारण पश्चिमी भारत के अनुदारवादी समाचारपत्रों ने भी मेरे भाषण का दिल से स्वागत किया और प्रशंसा की।" के० नटराजन द्वारा सम्पादित "इण्डियन सोशल रिफार्मर" ने हिन्दू समाज व्यवस्था को युक्तियुक्त बनाने की वकालत करने के लिए भाषण का दिल खोल कर स्वागत किया। डा० एनी बेसेन्ट ने उन्हें इसलिए धन्यवाद दिया कि उन्होंने अपनी बात "स्पष्टतः और निर्भीकता से कही थी।" बम्बई के मुख्य न्यायाधीश स्काट ने लिखा "आपने जो मार्ग अपनाया है, उससे यह प्रकट होता है कि आपके अन्दर साहस है, और साहस उस व्यक्ति का महत्वपूर्ण गुण है, जो सुधार आन्दोलन में नेता का पद स्वीकार करता है।"

हिन्दू पुनर्जागरण आन्दोलन ने यह दिखा दिया कि सुधार और प्रगति का कार्य व्यक्तियों के असहाय प्रयत्नों की अपेक्षा संस्थाओं की सहायता से अधिक अच्छी

8. डब्ल्यू०एन० कुबेर लिखित "आंबेडकर ए क्रिटिकल स्टडी" पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1973, पृ० 38

तरह सम्पन्न होता है। स्वभावतः हिन्दू समाज में अभीष्ट परिवर्तन करने के लिए उपयुक्त साधन के रूप में उन्होंने हिन्दू महासभा को अपनाया। उन्होंने उसे साम्प्रदायिक संगठन कभी नहीं समझा। हिन्दू-सुधार के लिए लड़ने के अलावा वह राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए भी दृढ़ता से तैयार थे।

इसलिए, उस संगठन से सम्बन्धित होने के कारण जयकर को साम्प्रदायिक कहना गलत है। 1925 में महासभा की बंम्बई शाखा की स्वागत समिति के अध्यक्ष के रूप में, उन्होंने घोषणा की कि मैं चाहता हूं कि यह संस्था हिन्दू समुदाय के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास का स्रोत बन जाए। उन्होंने इस आरोप को पूर्णतया अस्वीकृत कर दिया कि महासभा "मुस्लिम-विरोधी" है। हिन्दू-समाज के मामलों को सुव्यवस्थित करने के लिए उन्होंने कई सुझाव दिए। वे चाहते थे कि हिन्दू देव-मन्दिरों में उच्चतम स्तर की शुद्धता और पवित्रता रहे तथा पुरोहित वर्ग को उसके कर्त्तव्यों की समुचित शिक्षा दी जाए। पुराने ढंग की शिक्षा के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा थी और वे चाहते थे कि ऐसी शिक्षा में रत पंडितों और अन्य व्यक्तियों को उदारता से सहायता दी जाए। पशु-बलि की घृणित प्रथा तुरन्त बन्द की जाए। अन्त में, हिन्दू धर्म को त्याग कर धर्मान्तर स्वीकार करने वाले लोगों को पुनः हिन्दू धर्म में दीक्षित करने संबंधी प्रस्ताव का, जो सम्मेलन में लाया गया था, उन्होंने दृढता से समर्थन किया। प्रस्ताव में कहा गया था : "यह पूर्णतया उचित और अभीष्ट है कि जिन हिन्दुओं ने दूसरे धर्म स्वीकार कर लिए हैं और जो हिन्दू समाज में फिर से आने के इच्छुक हैं तथा ऐसे गैर-हिन्दू जो हिन्दू धर्म स्वीकार करना चाहते हैं, उन्हें बेरोकटोक हिन्दू धर्म में दीक्षित कर लिया जाए।

जयकर स्वभावतः आर्यसमाज की ओर आकर्षित हुए, जिसके गतिशील सिद्धान्तों में उन्हें निश्चित रूप से हिन्दू-पुनर्जागरण की आशा की झलक दिखाई दी। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824–1883) के वे बहुत बड़े प्रशंसक थे। जयकर ने लिखा : "हिन्दू धर्म और संस्कृति के इतिहास में उनका नाम सदा कृतज्ञता से याद किया जाता रहेगा। "स्वामी दयानन्द, जो गुजरात में मोर्वी के रहने वाले थे तथा जिनका पहला नाम मूलशंकर था, मनुष्यों में सिंह के समान थे। बचपन से ही वे अन्धविश्वास और मिथ्याकांड से घृणा करते थे तथा एक नई जीवन-विधि की खोज में घर से निकल गए थे। मथुरा में उन्हें एक ऐसा अन्धा संन्यासी मिला, जो दृढ़ चरित्रवान, उपदेशक तथा सच्चा मार्गदर्शक

था, उसका नाम स्वामी विरजानन्द था। उस अन्धे साधु ने अपने युवा शिष्य को भारत का प्राचीन ज्ञान सिखाया तथा हिन्दू धर्म एवं दर्शन की एक नई कल्पना के लिए उन्हें अपने उत्साह से प्रेरित किया।

दयानन्द ने अपना ज्ञान और विद्वत्ता तथा आध्यात्मिक शक्ति पूर्णतया प्राचीन हिन्दू साहित्य के स्त्रोतों से प्राप्त की। उनका विश्वास था कि जाति भेद और मूर्तिपूजा के लिए आर्यों के सीधे-सादे धर्म में कोई स्थान नहीं है। वे उन विश्वासों और रीतिरिवाजों को भी दृढ़ता से अस्वीकार कर देते थे, जिनका वर्णन प्राचीन ज्ञान का भंडार माने जाने वाले वेदों में नहीं है। उन्होंने सनातनधर्मियों को चुनौती दी कि वे उन्हें गलत साबित करें। वाराणसी के विद्वान पंडितों के साथ एक लम्बे शास्त्रार्थ में, जो काशी नरेश की अध्यक्षता में हुआ था, यह सिद्ध करके कि मूर्तिपूजा प्राचीन हिन्दू धर्म से बाहर की चीज है, उन्होंने अपने विरोधियों को पूर्णतया परास्त कर दिया।''[9]

दयानन्द और आर्यसमाज पर टिप्पणी करते हुए, महान यूरोपीय विचारक रोमां रोलां ने कहा है ''उनके आर्यसमाज ने, उनके चाहे-अनचाहे, 1905 में बंगाल के विद्रोह के लिए मार्ग तैयार कर दिया। वे पुनर्निर्माण और राष्ट्रीय संगठन के सबसे अधिक जोशीले प्रचारकों में से थे।[10] रोमां रोलां ने बंगाल विभाजन तथा उसके कारण हुए प्रान्तव्यापी विद्रोह का उल्लेख किया है। स्वभावतः दयानन्द का गतिशील दर्शन जयकर को अच्छा लगा। एक बार सुप्रसिद्ध राजनीतिक नेता और प्रकाशक सर सी० वाई० चिन्तामणि ने जयकर को आर्य समाज पर अपने विचार प्रकट करने के लिए आमन्त्रित किया। जयकर ने कहा कि इसके संस्थापक ने ''उन प्राचीन कालगणना संबंधी कुछ दोषों और मिथ्यावादों को दूर किया, जो समय पाकर हिन्दू जीवन के अन्तरंग तथ्यों के इर्द-गिर्द इकट्ठे हो गए थे तथा तपस्या, पवित्रता और उत्साह, जिनसे उन्होंने हिन्दुओं के धार्मिक जीवन को विभूषित किया, उनके उपदेशों की विशेषता थी।''

जयकर की यह धारणा थी कि हिन्दू तब तक आदर के पात्र नहीं बन सकेंगे, जब तक उनका समाज ऐक्य और आन्तरिक शक्ति को पुनः प्राप्त न कर लेगा।

9. धनपति पांडे लिखित --''द आर्य समाज एंड इंडियन नेशनलिज्म'', एस० चंद एंड को०, 1972, पृ० 32-33

10. रोमां रोलां लिखित ''द लाइफ आफ रामकृष्ण'' अद्वैत आश्रम, 1944, पृ० 157-58

उन्होंने लिखा, "वर्तमान युग में हमारे धर्म को कठोर परिश्रम के उपदेश का रूप ग्रहण करना चाहिए और उसे विरोधी मतों को मानने वाले हमारे पड़ोसियों के धर्म के मुकाबले में --विरोध में नहीं--खड़ा हो जाना चाहिए। यदि विद्यमान शक्तियों में बराबरी का मुकाबला हो और वह ईमानदारी का हो एवं वह पारस्परिक आदर और सहिष्णुता की ओर ले जाए तो ऐसे मुकाबले से प्रायः शान्ति और एकता का उदय होता है।"[11] ये शब्द आज भी उतने ही सत्य हैं जितने उस समय थे, जब लिखे गए थे।

---

11. "द स्टोरी आफ माई लाइफ" भाग 2, पृ० 527

अध्याय 10

विधायक

ब्रिटिश भारत के विधान मण्डल केवल विचार करनेवाली, सलाह लेनेवाली और सलाह देने वाली संस्थाएं थीं, जिनका कार्यपालिका के निर्णयों और कार्यों पर कोई प्रभाव न था। उनकी प्रभावकारिता के बारे में किसी देशभक्त भारतीय को कोई भ्रान्ति न थी। परन्तु जयकर जैसे विचारों के राजनीतिज्ञ उनके बहिष्कार में विश्वास नहीं रखते थे, जैसा कि कांग्रेस ने, दो-एक अवसरों को छोड़ कर, करना पसन्द किया। सितम्बर 1932 में, अखिल भारतीय हिन्दू महासभा के चौदहवें वार्षिक अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए, एन० सी० केलकर ने, जो सहयोगवादियों के दल से सम्बन्धित थे, कौंसिल-प्रवेश का विषय इस प्रकार प्रस्तुत किया : "हिन्दुओं द्वारा लेजिस्लेटिव कौंसिल से असहयोग व्यर्थ ही नहीं, आत्मघाती भी होगा। जब तक समान्तर सरकार स्थापित न हो जाए, तब तक हिन्दुओं द्वारा कौंसिलों का बहिष्कार करना अपने पैर पर स्वयं कुल्हाड़ी मारना होगा, जिसका कोई औचित्य नहीं है।"

जयकर ने फरवरी 1924 में बम्बई विधान परिषद में प्रवेश किया तथा विपक्ष के स्वराज्यवादी नेता के रूप में वे सदन में विशिष्ट भूमिका निभाते रहे। उसके बाद नवम्बर 1926 में, एक कांग्रेस प्रत्याशी को हरा कर, वे नई दिल्ली की केन्द्रीय विधान सभा में पहुंच गए। प्रान्तीय विधायक के रूप में अपनी भूमिका पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा : "हमने बम्बई विधान परिषद के अधिवेशन में भाग लिया। हम स्वराज्यवादियों और स्वतन्त्र सदस्यों की एक सुदृढ़ और सुगठित पार्टी में शामिल हो गए। स्वराज्यवादियों के रूप में हम सब सिर से पैर तक मोटा सफेद खद्दर पहना करते थे। इस पोशाक में हम काफी आक्रामक मालूम पड़ते थे, जबकि परिषद में हमारे पूर्ववर्ती इसके ठीक उलटे थे—वे हंसमुख, नम्र और विनयशील थे तथा सुन्दर पोशाक में अच्छे लगते थे। मैं विपक्ष के आधिकारिक नेता के रूप में विपक्षी सदस्यों के आगे बैठता था।"

जयकर एक प्रभावशाली वक्ता थे। कोई भी विषय हो और किसी भी सभा में भाषण करना हो, उनकी वक्तृता सदा गंभीर ज्ञान और प्रवाह से युक्त रहती

थी । चाहे वे शिष्ट और सुसंस्कृत श्रोताओं के समक्ष वाद-विवाद में भाग लेते या किसी न्यायालय में किसी मुकदमे में वकालत करते अथवा किसी विधानमण्डल में भाषण देते, उनकी बात सदा ध्यान और आदर के साथ सुनी जाती थी । वे एक निपुण व्याख्यानदाता थे तथा उनका शब्द-प्रवाह उनके वाक्चातुर्य से प्रायः जीवन्त हो उठता था। जयकर का कोई भाषण जड़ या सस्ती किस्म का नहीं होता था ।

हाउस आफ कामन्स में लार्ड बर्किनहैड के प्रथम भाषण पर टिप्पणी करते हुए चर्चिल ने, जो स्वयं असाधारण प्रतिभाशाली वक्ता थे, उसे उनकी विजय बताया। उन्होंने लिखा : "मैंने केवल पिछला भाग सुना; परन्तु जिस क्षण मैं अन्दर आया उस क्षण से मैं महसूस करता रहा कि खचाखच भरा सदन प्रथम कोटि के एक नए व्यक्ति का भाषण ध्यान से सुन रहा था।" जयकर के भाषणों का भी ऐसा ही प्रभाव पड़ता था । उनके विषय-ज्ञान और भाषण-प्रवाह से श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते थे । प्रथम कोटि के विवादक के रूप में उन्होंने बम्बई और केन्द्रीय विधानमण्डलों की कार्यवाही में महत्वपूर्ण योगदान किया । विवाद का विषय चाहे कोयला हो चाहे संविधान, वह सदा विश्वास और समझदारी के साथ बोला करते थे ।

यद्यपि वह तर्कयुक्त वाक्पटुता द्वारा अपनी बात मनवाने में विश्वास करते थे, फिर भी सरकारी पक्ष उनके प्रहारों से प्रायः तिलमिला उठता था । फरवरी 1927 में, उन्होंने केन्द्रीय विधान सभा में कहा कि यदि कोई अभीष्ट विधान विलम्बित हो जाता है, तो इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं, परन्तु मैं किसी भी प्रकार से न्याय का गला घोटा जाना बर्दाश्त नहीं करूंगा । तीन साल बाद, उन्होंने उसी सदन में लार्ड ब्राइस की उस टिप्पणी का उल्लेख किया, जो उसने इस देश की यात्रा के बाद की थी । ब्रिटिश राजनेता और लेखक ने कहा था : "मुझे भारत में सर्वत्र बारूद की गन्ध आती है ।" बजट पर बोलते हुए जयकर ने कहा कि "मैं इसमें सर्वत्र ज्वलनशील और प्राणघातक सामग्री देखता हूं ।" उन्होंने यह भी कहा कि "खर्च करनेवाले की फिजूल खर्ची के लिए कराधान किसी नियम से उचित नहीं ठहराया जा सकता।"

उन्होंने बम्बई सरकार की फिजूल खर्ची पर गहरा क्षोभ प्रकट किया क्योंकि वह दक्षिण अफ्रीका से कोयला खरीद रही थी जबकि आवश्यकता का समस्त

कोयला बंगाल से सस्ती कीमत पर प्राप्त किया जा सकता था । उस सुदूरवर्ती देश से सौदा दो ब्रिटिश अधिकारियों ने किया था । उनका यह कथन कि विदेशी कोयला सस्ता पड़ेगा, पूरी तरह असत्य सिद्ध कर दिया गया । जयकर और उनके साथियों ने डट कर सौदे का विरोध किया । सौदा दो करोड़ रुपये का था। इस घटना और प्रान्तीय विधानमंडल में इसके सम्बन्ध में जयकर के रुख पर टिप्पणी करते हुए एक लेखक ने लिखा : "जयकर ने विवाद के स्तर को ऊपर उठाया और भारतीय उपक्रम के विरुद्ध तरजीह देने की नीति पर भारी दोषारोपण किया। बंगाल के कोयले की कीमत कम थी तथा बम्बई सरकार का बहाना झूठा और अविश्वसनीय था।" जयकर ने बताया कि दक्षिण अफ्रीका के कोयले को भारी आर्थिक सहायता दी जाती है तथा वहां के खान-मालिक भारतीय मूल के लोगों का निर्ममता से उत्पीड़न करते हैं । विवाद के परिणाम से जयकर को सन्तोष हुआ, क्योंकि उनका उद्देश्य भली भांति सिद्ध हो गया था।

यूरोप के सस्ते इस्पात के मुकाबले ब्रिटेन के महंगे इस्पात को इस देश में आयात करने के भारत सरकार के प्रयत्नों की निन्दा करने में भी वह सबसे आगे थे । 26 जनवरी, 1927 को केन्द्रीय विधान सभा में स्टील प्रोटेक्शन बिल पर बोलते हुए उन्होंने कहा कि राजनीतिज्ञ के रूप में मुझे ब्रिटिश माल के आयात पर कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु प्रस्तावित विधेयक का समर्थन मैं इसलिए नहीं कर सकता क्योंकि यह पिछले दरवाजे से साम्राज्यवादी अधिमान्यता ला देगा, जबकि बदले में भारत को कुछ नहीं मिलेगा । उन्होंने कहा कि तटकर बोर्ड ने जान-बूझ कर यूरोपीय इस्पात की गुणवत्ता के बारे में आशंका पैदा की है । उसके इस भय का कोई प्रमाण नहीं है कि पुलों के लिए ऐसे इस्पात के इस्तेमाल से सार्वजनिक सुरक्षा को खतरा पैदा हो जाएगा । उन्होंने जानना चाहा कि क्यों इंग्लैंड ने स्वयं यूरोपीय इस्पात के आयात पर कोई प्रतिबन्ध लगाया है। उन्होंने पूछा कि इस बात की क्या गारन्टी है कि ब्रिटिश इस्पात भी यूरोपीय इस्पात की तरह गुणहीन नहीं होगा । अथवा यूरोपीय इस्पात को ही ब्रिटिश इस्पात के रूप में इंग्लैंड से भारत नहीं भेजा जाएगा ।

इस देश पर ब्रिटिश वाणिज्यिक प्रभुत्व के विरुद्ध अपने तर्क को उन्होंने स्टील प्रोटेक्शन बिल सम्बन्धी प्रवर समिति की रिपोर्ट पर अन्य व्यक्तियों के साथ अपना दृढ़ विमत देकर और भी अधिक पुष्ट कर दिया । विमत देने वाले सदस्यों ने लिखा : "यदि हम इस आश्वासन को मानने के लिए तैयार भी हो

जाएं कि इस विधेयक के माध्यम से साम्राज्यवादी अधिमान्यता शुरू नहीं की जाएगी, फिर भी यह तथ्य तो रहता ही है कि जो शुल्क लगाया जा रहा है, उसका अन्तर केवल माल की गुणवत्ता पर ही नहीं, माल भेजने वाले देश पर भी आधारित है। आयातित माल के मूल देश पर आधारित सुरक्षात्मक शुल्कों की किसी भी योजना को स्वीकार करना हम वांछनीय नहीं समझते। ऐसे सिद्धान्त को किसी भी रूप में मानना केवल गलत ही नहीं है, इससे भविष्य में पेचीदगियां भी पैदा हो सकती हैं।''

6 फरवरी को पुनः इसी विषय को उठाते हुए जयकर ने पूछा कि टटकर बोर्ड ने यह कैसे मान लिया कि ब्रिटिश इस्पात का मूल्य अपरिवर्तनीय है और यूरोपीय इस्पात का बदलता रहता है। यह तर्क भी सिद्ध नहीं हुआ कि यूरोपीय इस्पात महंगा है। ब्रिटिश इस्पात खरीदने के आग्रह का अर्थ केवल भारतीय उपभोक्ता को दण्डित करना ही नहीं है, उन ''अनेक लघु उद्योगों का गला घोंटना भी है, जो अपने कच्चे माल के लिए यूरोप महाद्वीप पर निर्भर रहते हैं।'' जयकर ने इस विषय पर एक अनुभवी ब्रिटिश इंजीनियर का अभिमत भी सदन को बताया। उस इंजीनियर के अनुसार बिल साम्राज्य के माल को अधिमान्यता प्रदान करता था।

जयकर ने गरीबी में जकड़े अपने देश पर साम्राज्यवादी बोझा लादने की सरकारी नीति की निन्दा की और उसके साथ अच्छा व्यवहार करने की दलील दी। उन्होंने सदन को बताया कि किस प्रकार भारत के महान पुरोगन्ता जे० एन० टाटा को, जिनमें नवीन और साहसिक उपक्रमों की स्थापना की अद्भुत प्रतिभा थी, अपने औद्योगिक प्रतिष्ठान को उसके ऐतिहासिक मार्ग पर प्रतिष्ठित करने के लिए कठिन संघर्ष करना पड़ा। एक ब्रिटिश उद्योगपति ने तो यहां तक कहने की धृष्टता की थी कि टाटा की मिल जितना इस्पात तैयार करेगी उसका प्रत्येक टन मैं खुशी-खुशी खाता जाऊंगा। उसे यह विश्वास था कि कोई भी भारतीय इतनी बड़ी परियोजना हाथ में नहीं ले सकेगा।

फरवरी 1928 में, केन्द्रीय विधान सभा में, रिजर्व बैंक बिल पर हुई बहस में भी, जयकर का योगदान उतना ही महत्वपूर्ण था। विधेयक में यह प्रावधान था कि विधान मण्डल के सार्वजनिक लोगों को बैंक के डाइरेक्टरों के रूप में नियुक्त न किया जाए। जयकर ने इस प्रावधान का विरोध किया। हंसी के बीच अपना

10—262 M. of I & B/ND/82

विश्वास प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि सभी व्यवसायी "अपने-अपने ढंग से निरंकुश होते हैं ।" वे चाहते थे कि सार्वजनिक लोग और विशेषज्ञ मिल कर बैंकों का प्रबन्ध करें । उन्होंने कहा—"मैं सड़क विकास समिति का अध्यक्ष था । मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं था कि यदि समिति में सभी केवल विशेषज्ञ इंजीनियर होते तो सबके सब लड़-मरते । इंग्लैंड में, प्रथम विश्वयुद्ध में, युद्ध-कार्यालय में लार्ड हालडेन की नियुक्ति का विरोध इस आधार पर किया गया था कि वे युद्ध के विषय में कुछ नहीं जानते थे । परन्तु वे बड़े योग्य प्रशासक निकले और उनके आलोचकों को मुंह की खानी पड़ी ।" सदन में अपना सुझाव प्रस्तुत करते हुए जयकर ने प्रशंसा की बौछारों के मध्य कहा : "हम जनता के आदमी देशभक्ति का दृष्टिकोण प्रस्तुत करेंगे । हमारे बिना निदेशालय निरंकुश प्रशासकों और स्वनियुक्त लोगों का जमघट मात्र रह जाएगा ।"

जयकर हिन्दू समाज का पूर्ण सुधार चाहते थे, लेकिन सरकार के रवैये से वे अप्रसन्न थे । उसकी अत्यधिक सावधानी को वे कायरता समझते थे । यदि उसका मतलब हल होता तो वह बिना किसी पापशंका के कठोर से कठोर कदम उठा सकती थी; परन्तु जब हिन्दू समाज व्यवस्था के सुधार की बात आती थी तो उसे लकवा मार जाता था । सितम्बर 1927 में उन्होंने रायसाहब हरविलास शारदा द्वारा प्रस्तुत हिन्दू बाल-विवाह नियम विधेयक का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि इसे स्वीकार करने से किसी की भावनाओं को ठेस नहीं पहुंचेगी, क्योंकि यह किसी धार्मिक सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है । उन्होंने बताया कि बाल्यावस्था के विवाह से मृत्यु और वैधव्य की संभावना बढ़ जाती है । मैसूर, बड़ौदा और भरतपुर जैसे देशी राज्यों ने कानून पास करके छोटी लड़कियों के विवाह पर प्रतिबन्ध लगा दिया था ।

विधेयक को व्यापक समर्थन मिल रहा था । सरकार भी इसका विरोध नहीं कर सकती थी, परन्तु उसे शीघ्र पास करने की उसकी कोई इच्छा न थी । होम-मेम्बर जैम्स क्रेरार ने स्वीकार किया कि बाल-विवाह की समस्या गम्भीर है और उसमें से अनेक अवांछनीय शाखायें फूटी हुई हैं । फिर भी उसने यह घोषणा की कि प्रस्तावित सुधार की सफलता विशेषकर विवेकशील जनमत के समर्थन पर निर्भर होगी । उसने कहा कि ऐसा जन-समर्थन प्राप्त करने का महान उत्तरदायित्व सरकार और विधानमंडल दोनों का है । विधेयक के

सम्बन्ध में सरकार की स्थिति के बारे में वह प्रत्यक्षतः चिन्तित थे, क्योंकि "इससे असन्दिग्ध रूप से जनसंख्या के एक बहुत बड़े भाग के धार्मिक विचारों और सामाजिक प्रथाओं को गहरी ठेस पहुंचेगी।" इसलिए उसने अनुरोध किया कि "सभी प्रकार के तर्क संगत विचारों का सावधानी से और निष्पक्षता से पता लगाया जाए।"

एक आवश्यक सुधार के सम्बन्ध में उदासीन रहने का क्रेरार का प्रयत्न सदन के अनेक प्रमुख सदस्यों को पसन्द नहीं आया। लाला लाजपतराय ने सरकार की अपनी अतिशय सावधानीपूर्ण एवं प्रतिगामी नीतियों द्वारा भारत की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रगति अवरुद्ध करने के लिए भर्त्सना की। उन्होंने बताया कि जब भी आवश्यकता होती है, हिन्दू समाज अपने सामाजिक विधानों में परिवर्तन करने में कभी नहीं हिचकिचाता तथा धर्म का विवाह की आयु से कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्होंने होम-मेम्बर के इस तर्क का मजाक उड़ाया कि विधेयक पर जनमत लेना चाहिए और पूछा कि क्या सरकार ने कभी जनमत की कोई परवाह की है।

विधेयक को प्रवर समिति को भेजने के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए जयकर ने कहा कि बहस से यह परीक्षा हो गयी कि क्या सरकार वस्तुतः "स्वभाव से राष्ट्रीय" है। उन्होंने कहा कि ऐसे अवसरों पर इसकी असली कमजोरी जाहिर हो जाती है। उन्होंने कहा: "सही और गलत की अपनी धारणाओं के आधार पर इस प्रश्न को जांचिये और यदि आपको प्रबुद्ध समाज का समर्थन मिले तो सुधार के लिए आगे बढ़िये क्योंकि थोड़ा-बहुत बल-प्रयोग तो अनिवार्य होता ही है। इस बात से न डरिये कि कुछ हिन्दू विधेयक का विरोध करेंगे। क्या यह जानने के लिए सावधानी बरतने की आवश्यकता है कि 12 वर्ष के लड़के या लड़की को कहां होना चाहिए—हाकी के मैदान में या नर्सरी में या शादी की सेज पर? घर में आग लगी है और आप क्या यह पता लगाने के लिए सावधानी बरतेंगे कि जनमत उसे बुझाना चाहता है या नहीं?" उन्होंने कहा कि एक अत्यावश्यक विधेयक पर अत्यधिक सावधानी बरतना न तो तर्कसंगत है और न टिकाऊ। उन्होंने पूछा: "भारतीय चिकित्सा सेवा में एक अंग्रेज को 12 वर्ष बाद 37,000 रु० की ग्रेच्युटी मिलती है। क्या इस विषय में भारतीय जनमत की राय ली गई थी?"[1]

---

1. "द इंडियन क्वार्टर्ली रजिस्टर", 1927, भाग-2, पृ० 248-49

हिन्दू परिवार लेन-देन विधेयक पर भी जयकर की टिप्पणियां उतनी ही तीखी थीं। इस विधेयक पर विधान सभा में 15 फरवरी, 1928 को विचार हुआ था। विधेयक को विचारार्थ प्रस्तुत करते हुए होम-मेम्बर जेम्स क्रेरार ने बताया कि इसका उद्देश्य सिविल जस्टिस कमेटी की कुछ सिफारिशों को अमल में लाना है। इसके लिए यह प्रावधान किया जाएगा कि हिन्दू अविभाजित परिवारों के सदस्यों में हितों के विभाजन एवं पृथक्करण तथा हिन्दू विधि से प्रशासित व्यक्तियों में अन्य लेन-देन, कुछ मामलों में, लिखित और रजिस्टर्ड प्रपत्रों द्वारा किये जाएं।

सदन के अधिकांश प्रमुख हिन्दू सदस्यों ने विधेयक का डट कर विरोध किया। एक प्रसिद्ध विधिवेत्ता सर हरिसिंह गौड़ और ठाकुरदास भार्गव ने एक स्वर से कहा कि विधेयक हिन्दुओं पर भारी वित्तीय बोझ डाल देगा। हरिसिंह गौड़ ने इसे अत्यन्त प्रतिक्रियावादी विधान बताया और आशंका व्यक्त की कि हिन्दू परिवारों को ही छांट कर क्यों बांधा जा रहा है और अन्य सम्प्रदायों को क्यों अलग रखा जा रहा है? उन्होंने बताया कि प्रबुद्ध जनमत इसके विरुद्ध है और प्रान्तीय सरकारों द्वारा दिये गये समर्थन को कोई महत्व नहीं देता। प्रान्तीय सरकारों के पास "धन का अभाव" है और यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि कागज लिखने के लिए वे विधेयक के अधीन भारी स्टाम्प ड्यूटी नहीं लगायेंगी और अधिक रजिस्ट्री-शुल्क नहीं लेंगी। सरकार कम से कम यह तो कर सकती है कि वह विधेयक को प्रवर समिति के विचारार्थ भेज दे।

जयकर ने सर हरिसिंह गौड़ के इस तर्क का जोरदार समर्थन किया कि विधि रुप पारित होने से पहले विधेयक पर विशेषज्ञों द्वारा विचार होना चाहिए। उन्होंने बताया कि सर हरिसिंह गौड़ द्वारा विधेयक के विरुद्ध उठायी गयी अनेक आपत्तियों के कारण ला-मेम्बर एस० आर० दास परेशानी में पड़ गए हैं। उन्होंने सिविल जस्टिस कमेटी को 'अत्यन्त शरारती' समिति बताया और कहा कि विधेयक परिवर्तन की उस 'अदृश्य प्रक्रिया' में भारी अवरोध पैदा कर देगा, जो हिन्दू समाज में चल रही है। वे जानना चाहते थे कि क्या सरकार हिन्दुओं की समाज-व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन नहीं चाहती।

जयकर ने घोषणा की कि सामाजिक और राजनीतिक सुधारक होने के कारण मैं हिन्दू समाज के क्रमिक सुधार में कोई भी सरकारी हस्तक्षेप नहीं होने दूंगा।

विधेयक त्रुटियों से भरा हुआ है; अतः प्रवर समिति द्वारा इसकी जांच पर ला-मेम्बर को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । उन्होंने कहा कि अपनी 23 वर्ष की वकालत में मैं यह नहीं जान सका कि अलग होने की इच्छामात्र को अनिवार्य रजिस्ट्रेशन की आवश्यकता है । विधेयक के उपबन्धों की पूरी तरह जांच-पड़ताल करना आवश्यक है । उन्होंने कहा कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो मैं इसके पारित होने का विरोध करूंगा ।

जयकर को अपनी विरासत पर गर्व था, परन्तु उसमें जो अवांछनीय तत्व आकर मिल गए थे, उन्हें दूर करने में वे किसी की नहीं सुनते थे । यद्यपि पाश्चात्य शिक्षा से उन्होंने बहुत लाभ उठाया था, फिर भी पश्चिम से आनेवाली हर वस्तु की अन्ध-स्वीकृति के वे विरोधी थे । अपने विधायक जीवन के आरम्भ में मद्यपान की बुराई को रोकने के पक्ष में उन्होंने जोशीले भाषण दिए थे । वे यह नहीं चाहते थे कि बम्बई प्रान्त में कलम उठाते ही मद्यनिषेध लागू हो जाए; बल्कि उनका सरकार से अनुरोध था कि वह इस दिशा में आवश्यक कदम उठाए । जुलाई 1924 में, बम्बई विधान परिषद में, स्वराज्य पार्टी के एक सदस्य द्वारा प्रस्तुत किए गए एक प्रस्ताव को उन्होंने प्रबल समर्थन प्रदान किया । प्रस्ताव में सरकार से अनुरोध किया गया था कि वह मद्यनिषेध विधि को लागू करे और क्रमशः उस पर अमल करे ।

इस विषय पर विचार करते हुए, जयकर ने प्रस्ताव का मुख्य अंश भी दिया जो इस प्रकार है : "यह परिषद सरकार से सिफारिश करती है कि इस बात की तुरन्त घोषणा की जाए कि आगामी दस वर्षों में मद्यपान का पूर्ण निषेध तथा मद्य सम्बन्धी समस्त व्यवसाय का पूर्ण उन्मूलन इस प्रेसीडेंसी की सरकार की आबकारी नीति का उद्देश्य होगा तथा (क) स्थानीय इच्छा के अधिकार को स्वीकार कर, (ख) मद्य के लिए राशन-प्रणाली अपनाकर, (ग) दुकानों की संख्या क्रमशः घटा कर, (घ) निर्वाचित सलाहकार समितियां बना कर और उन्हें अधिकार देकर, (ङ) अन्य समस्त आवश्यक एवं समुचित उपायों का अव-लम्बन कर, और (च) जहां आवश्यक हो, वहां विधान बना कर, इस नीति को शीघ्रता से कार्यान्वित किया जाए ।"

जयकर ने लिखा है कि प्रस्ताव के प्रस्तोता सप्तर्षि ने उसके समर्थन में तर्कपूर्ण भाषण दिया । सप्तर्षि ने कहा कि मद्यपान न तो हिन्दुओं में लोकप्रिय है और

न मुसलमानों में, जबकि ये दोनों भारत की आबादी के प्रमुख तत्व हैं । सामान्य मद्यपी "सामान्य" चोर समझा जाता है । ब्रिटिश शासन के आरम्भ के साथ ही मद्यपान एक सामान्य बुराई बन गया । शासक इस तथ्य को मानने से इन्कार करते हैं, क्योंकि उन्हें उत्पादन-शुल्क के रूप में भारी राजस्व की प्राप्ति होती है, जिसे वे भारतीय जनता के स्थायी हित में भी छोड़ने को तैयार नहीं थे । जयकर ने लिखा है कि इस भाषण का सदन पर भारी प्रभाव पड़ा ।

सप्तर्षि का तर्क अकाट्य था । भारत में तथा अन्य अनेक देशों में भी मद्यपान की समस्या ने शताब्दियों से लोगों का ध्यान आकर्षित किया है । सभी प्रबुद्ध और गम्भीरचेता लोग यह मानते हैं कि मद्यपत्व जानबूझ कर पैदा की गई पागलपन की स्थिति है । कौटिल्य ने राजनीति-विषयक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र में, जो ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी में लिखा गया था, मद्यपान की बुराई को रोकने के लिए आवश्यक समझे जाने वाले उपायों पर विस्तार से विचार किया है । प्राचीन काल में भारत में आये विदेशी पर्यटकों ने लिखा है कि इस देश के लोगों को "नशीले पेय पीने की आदत न थी" तथा यहां के बाजारों में शराब की दुकानें न थीं । इस्लाम में भी मद्यपान का पूर्ण निषेध है । अन्य देशों की ही भांति भारत में भी पूर्ण मद्य-निषेध युगयुगान्त से लक्ष्य मात्र बना हुआ है, परन्तु मद्यपान इस देश में निःसन्देह जनता के एक छोटे वर्ग तक ही सीमित रहा है ।

परन्तु अंग्रेजों के आने के साथ ही स्थिति बदल गई । उनके लिए शराब पीना एक राष्ट्रीय आदत थी और भारतीयों की उसके प्रति घृणा उन्हें विचित्र पूर्वाग्रह मालूम पड़ती थी । इसके अलावा, शराब की बिक्री से उनकी सरकार को प्रभूत राजस्व प्राप्त होता था इसलिए उनकी आबकारी नीति के प्रति भारतीयों के विरोध का उन पर कोई असर नहीं पड़ता था । देश के नेता प्रजा में शराब पीने की आदत के प्रसार तथा उसके हानिकारक परिणामों के प्रति सरकार की घोर उपेक्षा से अति चिन्तित थे । महाराष्ट्र के रावबहादुर गोपालराव ने तो 1849 में ही इस खतरनाक प्रवृति का विरोध किया था । 1874 में, बंगाल के प्रसिद्ध ब्रह्म समाजी नेता केशवचन्द्र सेन ने, काबू से बाहर होने से पहले ही इस बुराई को रोकने के उपाय करने के लिए वाइसराय से कहा था । उन्होंने कहा था कि अंग्रेज केवल शेक्सपीयर और मिल्टन को ही भारत नहीं लाए, ब्रांडी को भी लाए ।

1885 में अपनी स्थापना के तीन वर्ष बाद कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास कर सरकार से 'सादर' अनुरोध किया कि उसे कोई ऐसी सुधरी हुई व्यवस्था अपनानी चाहिए, जो शराबखोरी को निरुत्साहित करे। इस शताब्दी के आरम्भ में, गोपाल कृष्ण गोखले ने इंग्लैंड में ब्रिटिश श्रोताओं के समक्ष भारत सरकार की आबकारी नीति की अनैतिकता का पूरी तरह से भंडाफोड़ किया। उन्होंने कहा कि मद्यपान की आदत, जो अंग्रेजों के आने से पहले भारतीय जनता के एक छोटे से वर्ग तक सीमित थी, उनके आने के बाद कई गुनी बढ़ गई। वे यह मानने को तैयार थे कि सरकार मद्यपान को प्रोत्साहन नहीं देना चाहती थी, परन्तु यह भी सच था कि क्योंकि वह आबकारी-राजस्व में दिलचस्पी रखती थी, इसलिए समस्या गंभीर हो गई थी।

लोकमान्य तिलक भी सरकार की आबकारी नीति के विरुद्ध थे। 1908 में उन्होंने कहा :"अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद भी मद्यपान की बुराई मौजूद रहेगी। इसलिए हमें अभी से इसके विरुद्ध आन्दोलन शुरू कर देना चाहिए।" महात्मा गांधी ने इसके विरुद्ध देशव्यापी आन्दोलन छेड़ दिया और उसे अपने स्वराज्य आन्दोलन का अभिन्न अंग बना लिया। उनके प्रबल आन्दोलन के फलस्वरूप मद्यनिषेध को राजकीय नीति के निदेशक सिद्धान्त के रूप में संविधान में स्थान मिल गया है।

जयकर ने, जिन्हें शराबबन्दी के लाभ बताने की कोई आवश्यकता न थी, प्रस्ताव को पेश करने के विरुद्ध दिये गए सभी तर्कों को क्रमशः काटते हुए, सप्तर्षि के प्रस्ताव का सोत्साह समर्थन किया। 1924 में बम्बई सरकार के आबकारी विभाग का प्रभारी मन्त्री एक मुस्लिम था। परन्तु पद पर होने के कारण उसका यह कर्त्तव्य था कि अपने धर्म में मद्य निषेध की व्यवस्था होते हुए भी वह उसका विरोध करे। उसने तर्क दिया कि सरकार इस स्थिति में नहीं है कि वह प्रतिवर्ष 4 करोड़ रुपये के राजस्व की हानि सह सके तथा मद्यनिषेध कानून के कार्यान्वयन पर लगभग 2 करोड़ रु० और खर्च कर सके। प्रान्त में ऐसे अनेक देशी राज्य हैं जो कदाचित बम्बई सरकार का अनुकरण करने की परवाह ही न करें। अन्त में, यह भी बात है कि एक सुगठित प्रशासन-तन्त्र के बिना मद्यनिषेध पूरी तरह लागू करना संभव ही न होगा।

जयकर ने विधान परिषद में अपने भाषण में इन प्रश्नों का उत्तर दिया और उनका खोखलापन जाहिर किया। उन्होंने कहा कि कोई भी पूर्ण मद्यनिषेध

तुरन्त लागू कराना नहीं चाहता । सदन इस पर अमल के लिए 10 या 20 वर्ष का उचित समय देने को तैयार है । उन्होंने इस सुझाव का कि देशी राज्य इस सुधार को कार्यान्वित नहीं होने देंगे, यह कह कर मजाक उड़ाया कि उनके शासक ब्रिटिश भारत की सरकार के साथ अपने सम्बन्धों में नितान्त शक्तिहीन हैं । उन्होंने पूछा : "सरकार देशी राज्यों से उनके राजद्रोह के कानूनों तथा शस्त्र-अधिनियम लाइसेंस-नियमों को ब्रिटिश भारत के कानूनों के मेल में कैसे रखवा लेती है ? हम से यह भी कहा जाता है कि देशी राज्य इसका प्रतिफल भी चाहेंगे । निश्चय ही, उनके लिए 'नरेश रक्षा अधिनियम' बना हुआ है । सरकार ने नरेशों के प्रति आदर और चिन्ता के कारण यह विधान पास कर राज्यों को अनुगृहीत किया है । इसके कारण नरेशों को सदा कृतज्ञ और विनम्र रहना चाहिए ।"

उन्होंने यह तो मान लिया कि इससे सरकार को अचानक भारी राजस्व की हानि होगी और इसको यों ही नहीं टाला जा सकता ; परन्तु साथ ही उन्होंने यह विश्वास प्रकट किया कि यदि अधिकारीवर्ग मद्यपान की बुराई से लड़ने में अपनी ईमानदारी का परिचय दें, तो वित्तीय समस्या का हल निकाला जा सकता है । उन्होंने स्मरण दिलाया कि कुछ वर्ष पहले इस प्रेसीडेंसी में सरकारी भवनों को सजाने और सुन्दर बनाने में 30 लाख रु० खर्च हुए थे । यह धन कहां से आया था ? सरकार को इसकी विकट आवश्यकता थी और इसका प्रबन्ध किया गया । इसलिए यह कठिनाई दुष्कर नहीं है । उनका और सप्तर्षि का तर्क सही था । शराब बन्दी के प्रस्ताव को, कुछ संशोधनों के बाद, विधान मंडल में अब्राह्मणों और मुस्लिमों के बहुमत का समर्थन मिल गया ।[2]

जयकर ने इस विषय पर कुछ विस्तार से विचार क्यों किया है, इसका कारण बताया है । उनका कहना है कि उनके समय में प्रान्तीय विधान मंडल में शराब बन्दी के लिए जो अभियान चला, उससे बाद के वर्षों में बम्बई सरकार को अपनी मद्यनिषेध नीति बनाने की प्रेरणा मिली । बी० जी० खेर, जो 1937 में प्रान्त के कांग्रेसी प्रधान मन्त्री थे, उत्साही मद्यनिषेधवादी थे और जयकर के अच्छे मित्र थे । परन्तु मद्यनिषेध कानून, जो राज्य में तथा देश के अन्य भागों में, गाजे-बाजे के साथ लागू किया गया, भारी घाटे का सौदा सिद्ध हुआ, जिसके कारण

2. "दी स्टोरी आफ माई लाइफ" भाग –2, पृ० 401– 408

अनेक राज्यों को उसे वापस लेना पड़ा । कुछ वर्ष पहले महाराष्ट्र ने यह साहसिक कदम उठाया, क्योंकि उसकी राजधानी बम्बई शराब के तस्करों के लिए स्वर्ग और अपराध एवं हिंसा के लिए उपजाऊ भूमि बन गई थी । भारत में मद्य-निषेध इसलिए असफल रहा, क्योंकि अभी जनमत उसके साथ नहीं है ।

हम जस्टिस टेकचन्द की उक्ति के साथ इस विचार को समाप्त करते हैं । वे लिखते हैं : "हमारे देश में मद्य-कर के लिए राज्यों की भूख सभी सीमाओं को पार कर गई है। यह परा ध्वनिक जेट की गति से बढ़ी है और 1861 के दो करोड़ रु० से बढ़कर 1969-70 में 159 करोड़ रु० की हो गई है । यदि कम से कम चार एक के अनुपात से भी हिसाब लगाएं तो भारत में शराब की बिक्री से होनेवाली वार्षिक आय 636 करोड़ रु० की बैठती है ।[3] हाल के वर्षों में अपने तथा अन्य राज्यों के दुःखद अनुभव के बावजूद, द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम नियन्त्रित तमिलनाडु सरकार ने 1 सितम्बर, 1973 को राज्य में मद्यनिषेध पुनः लागू कर दिया । इसके परिणामस्वरूप होने वाली राजस्व की वार्षिक हानि का अनुमान 11 करोड़ रु० लगाया गया था । यह एक साहसिक कदम है, परन्तु अभी यह देखना है कि यह सफल होगा या नहीं । यह निश्चय ही, जयकर के क्रमिकता के सिद्धान्त के अनुरूप नहीं है ।"

जयकर के जुझारू स्वभाव ने भारत में अंग्रेजी सेना रखने की नीति के विरुद्ध विद्रोह कर दिया । उनके शासनकाल में कोई वास्तविक भारतीय सेना नहीं थी । भारत में केवल एक सेना थी, जो अपने दृष्टिकोण में पूर्णतः विदेशी थी और भारतीय हितों के सर्वथा विरुद्ध थी । उसमें जो भारतीय कर्मचारी थे वे केवल भाड़े के टट्टू थे । अंग्रेजों का विश्वास था कि वे इस देश में अपने प्रभुत्व को स्थायी बना लेंगे और उन्हें आशा थी कि वे तलवार के जोर से ऐसा कर सकेंगे । भारत-वासियों का जुझारू और गैर-जुझारू जातियों में विभाजन, उनकी भारतीय राष्ट्रीयता के जुझारूपन को कमजोर करने की सुविचारित नीति का ही एक अंग था ।

जो जुझारू जातियां देशभक्ति की उदात्त भावना से प्रेरित थीं, उन्हें यह कह कर बदनाम किया गया कि वे युद्ध करने के अयोग्य हैं तथा उन्हें बेरहमी के साथ अलग कर दिया गया । केवल उन वर्गों को तरजीह दी गई जो केवल जीविका कमाने के लिए सेना में भर्ती होना चाहते थे । जिन मराठों को समस्त देश पर

3. टेकचंद लिखित "लिकर मिनेस इन इंडिया", गांधी पीस फाउंडेशन, 1972 पृ० 186

पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करने में थोड़ी ही कसर रह गई थी, उन्हें बिल्कुल ही अलग रखा गया और उनमें से कुछ को ही सेना में लिया गया। जयकर छात्र-समुदाय के निकट सम्पर्क में रहते थे और यह जानते थे कि एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे शिक्षित युवा भारतीयों की थी, जो राजा के कमीशन वाले पदों पर विशेष योग्यता से काम कर सकते थे। युवा क्रान्तिकारी अनन्त कान्हेरे ने, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है, जयकर से कहा था कि मैं सेना में भर्ती होना और वहां मान प्राप्त करना चाहता हूं। उन्होंने पिस्तौल और बम का मार्ग तब अपनाया जब उन्हें यह मालूम हो गया कि उनके देशवासियों के लिए सेना में ऐसा कोई दरवाजा खुला न था।

भारतीयों के लिए सेना में कमीशन वाले पद प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त तक बंद रहे। सबसे ऊंचा पद, जिसे वे प्राप्त कर सकते थे, रिसालदार मेजर या सूबेदार-मेजर का था। ये पद अंग्रेज कप्तान के अधीन कनिष्ठ अधिकारी के पद से भी छोटे थे। निष्पक्ष ब्रिटिश अधिकारियों ने इस देश के लोगों की महान यौद्धिक परम्पराओं का स्मरण दिलाते हुए उनके साथ न्याय करने की वकालत की, परन्तु वह भी व्यर्थ रही। जनरल मैकमन ने कहा कि जब नागरिक प्रशासन में वे अपनी महान योग्यता प्रदर्शित कर चुके हैं तो सेना में उत्तरदायित्वपूर्ण पदों से उन्हें अलग रखना बेवकूफी है। जनरल सर जार्ज चेसनी ने सैनिक सेवाओं में उनके विरुद्ध किये जाने वाले द्वेषपूर्ण भेदभाव की निन्दा की। उन्होंने कहा कि न्याय और निष्पक्षता के विचार के अलावा, हमें यह भी सोचना चाहिए कि प्रतिभा सम्पन्न एवं महत्वाकांक्षी लोगों को शासन की ओर ले जाना 'राज' सुरक्षा की दृष्टि से अच्छा है। उनके अन्दर यह भावना पैदा नहीं होनी चाहिए कि उनकी मुक्ति केवल हमारे शासन को उखाड़ने में और ऐसी क्रान्ति से होने वाली अराजकता में ही है।[4]

15 मार्च, 1927 को विधान सभा में सेना की मांग पर बहस में भाग लेते हुए जयकर ने एक प्रभावशाली भाषण दिया। उनसे पहले, जिन्ना यह शिकायत कर चुके थे कि यद्यपि स्कीम कमेटी की सिफारिशें नवम्बर 1926 में ही सरकार के पास भेज दी गई थीं; फिर भी वे प्रकाशित नहीं की गई थीं। भारत सरकार और ब्रिटिश अधिकारी रिपोर्ट के प्रकाशन में विलम्ब के लिए एक-दूसरे

4. सर जार्ज चेसनी लिखित "इंडियन पोलिटी", लोंगमैन्स, 1894, पृ० 271

की शिकायत कर रहे थे । उन्होंने इसका कारण "सार्वजनिक मांग को पूरा करने में" सरकार की अनिच्छा बताया ।

जयकर ने कहा कि यदि भारतीयों में "शक्ति और उत्तरदायित्व की भावना" का विकास करना है तो उन्हें आग्नेयास्त्र दिये जाने चाहिए। उन्होंने कहा कि बम्बई में स्कूलों और कालेजों के सैंकड़ों नवयुवकों ने भारतीय प्रतिरक्षा बल और पलटन से खीझ-कर इसलिए त्यागपत्र दे दिए क्योंकि उनकी उचित शिकायतें दूर नहीं की गई थीं । उनके साथ जो व्यवहार किया जाता था, वह उनके आत्म-सम्मान के खिलाफ था और वे उसे सहन करने को तैयार न थे । जयकर ने कहा, "मैं कहता हूं, तुम वास्तव में पाखंडी हो" । वे यह जानना चाहते थे कि सेना के पूरी तौर से भारतीय बनने में कितना समय लगेगा । प्रधान सेनापति के भाषण की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए उन्होंने कहा कि यह नितान्त असन्तोषजनक है । बीसियों नवयुवक इस बारे में सलाह लेने के लिए उनके पास आया करते थे कि उन्हें सेना में भर्ती होना चाहिए अथवा नहीं ।

वे चाहते थे कि अधिकारी श्रेणी के पद उनके लिए खोल दिए जाएं । उन्होंने कहा " मुझे विश्वास है कि यदि वे पद हमारे जीवन के आरम्भ में, जब कि हम युवा और उत्साहशील थे तथा निराशा से कुंठित नहीं हुए थे, जैसा कि मेरी जैसी अवस्था में होता है, खोल दिए जाते, तो मैं और मुझ जैसे अनेक लोग, अपने जीवन भर के व्यवसाय के रूप में सैनिक सेवा को चुनते ।[5] जिस मंच से भी वे बोले, उसी से उन्होंने सतत आग्रह के साथ सेना के द्रुत भारतीयकरण की वकालत की ।

1939 में, जब द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हुआ, तो उनके लिए तथा अन्य भारतीय नेताओं के लिए सेना के कमीशन वाले पदों पर अधिकाधिक संख्या में अपने देशवासियों की नियुक्ति की मांग करना आवश्यक न रहा । युद्ध की आवश्यकताओं ने सरकार की अधिकांश भेदभाव पूर्ण नीतियों का सफाया कर दिया । सेना में भारतीय अधिकारियों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई । उनकी संख्या अक्तूबर 1939 म 396 में बढ़ कर सितम्बर 1945 में 8,340 हो गयी । इसलिए भारतीय मांग अब और ऊंची चढ़ गयी । सरकार से कहा गया कि वह

5. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", अप्रकाशित भाग 3, पृ० 57, तथा "द इंडियन क्वार्टर्ली रजिस्टर", 1927, भाग-2, पृ० 188-89

प्रतिरक्षा-विभाग वाइसराय की प्रबन्ध-परिषद् के किसी भारतीय सदस्य के नियन्त्रण में दे दे। जयकर उन लोगों में थे, जो प्रमुख रूप से इस मांग से सम्बन्धित थे।

1924 में, पंडित मोतीलाल नेहरू ने, जो विधान सभा में स्वराज्य पार्टी के नेता थे, भारत के लिए "पूर्ण उत्तरदायी सरकार" की योजना बनाने के वास्ते एक गोलमेज सम्मेलन बुलाने की मांग की। होम-मेम्बर सर मालकम हेली इस प्रस्ताव से अति क्षुब्ध हुए। उन्हें आश्चर्य था कि देश में विभिन्न "परस्पर-विरोधी हितों" में सामंजस्य स्थापित करने से पहले कोई भी संवैधानिक प्रगति कैसे संभव हो सकती है। सबसे पहले तो साम्प्रदायिक समस्या थी, जिसे सुलझाना कठिन था। फिर देशी नरेश थे, जिन्हें मनाना कठिन था। यह कहना संभव न था कि वे उस कार्यकारी सरकार से सम्बन्ध रखने को राजी हो जायेंगे जो पूर्णतया भारतीय विधान मडल के प्रति उत्तरदायी थी। प्रत्यक्षतः महाराजा और नवाब स्वतन्त्र भारत की अपेक्षा ब्रिटिश सम्राट की अधीनता में अधिक प्रसन्न रहते। इसके बाद, यूरोपीय व्यापारी थे जिनके हित तभी अच्छी तरह सुरक्षित रह सकते थे, जब यथास्थिति बनी रहती। सिविल सर्विस को भी सुरक्षा की आवश्यकता थी। इन सभी "हितों" को सन्तुष्ट करने के बाद ही भारत स्वराज्य के मार्ग पर आगे बढ़ सकता था।

भारतीयों ने एक संशोधित संविधान की मांग की थी, परन्तु उन्हें मिली-एक विभागीय जांच समिति, जो एक अधिकारी सर अलेक्जेंडर मुडीमैन की अध्यक्षता में बनायी गयी थी। मुडीमैन एक उदारवादी नौकरशाह था, परन्तु फौलादी शिकंजे ने उसके मनोभावों को असंगत बना दिया था। समिति में भारतीय जनमत का प्रतिनिधित्व सर तेज बहादुर सप्रू, सर पी०एस० शिवस्वामी अय्यर, जिन्ना और डा० आर० पी० परांजपे ने किया। जयकर ने लिखा है कि स्वराज्य-वादियों को भी समिति में एक स्थान दिया गया था, परन्तु उन्होंने इस आधार पर उसे अस्वीकार कर दिया कि जांच समिति का क्षेत्र सीमित होने के कारण, उसकी सिफारिशें "देश का कुछ भी भला नहीं करेंगी"। इस निराशावाद में वे गलत न थे।

जयकर ने, जो उस समय बम्बई विधान परिषद में थे, मुडीमैन रिपोर्ट पर बड़ा तीखा प्रहार किया। इसका कारण भी था। समिति में अधिकारियों का बाहुल्य होने के कारण, रिपोर्ट पूर्णतया असन्तोषजनक थी। समिति ने स्वीकार

किया कि उसे ऐसे सभी उपाय सुझाने से रोक दिया गया था जो 1919 के अधिनियम के ढांचे, नीति अथवा प्रयोजन से असंबद्ध थे । इसलिए उसने प्रशासन तन्त्र में कुछ छोटे-छोटे संमजन सुझा कर ही सन्तोष कर लिया । परन्तु, चूंकि मांटफोर्ड सुधार अत्यन्त असन्तोषजनक सिद्ध हुए थे, इसलिए अल्पसंख्यक समूह ने अधिक काम चलाऊ शासन व्यवस्था की मांग की ।

जयकर ने बम्बई विधान मंडल में कहा कि मुडीमैन समिति ने अपनी सीमाओं के बारे में जो तर्क दिया है, वह विश्वसनीय नहीं है । वर्तमान अधिनियम के कार्यान्वयन में अनेक रुकावटों को दूर करने तथा जनता के अधिकार बढ़ाने के लिए महत्वपूर्ण सिफारिशें करने से उसे कौन रोक रहा था ? उन्होंने बताया कि द्वैध शासनप्रणाली, जिसे तीन वर्ष तक परखा गया था, विफल हो चुकी है । सुधारों से भारतीयों को कोई वास्तविक अधिकार नहीं मिले । सुधारों के प्रस्तावकों ने स्थायित्व और संविधान के सन्तुलन की रक्षा की आवश्यकता की बात कही थी । जयकर ने पूछा, ''परन्तु इस बुद्धिमत्तापूर्ण भूमिका के बाद वे क्या देते हैं ?—'बायलर और गैस' 'मात्स्यिकी और वन' । मात्स्यिकी अर्थात् मछली मारना । समिति के बहुमत की राय में मन्त्री इससे अधिक अच्छे और किसी काम के योग्य नहीं हैं ।''

जयकर ने रिपोर्ट को एक निरर्थक कागज बताते हुए उसकी आलोचना की । उसका लक्ष्य केवल देश में ब्रिटिश शासन और ब्रिटिश हितों की रक्षा करना था । उन्होंने कहा : ''मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि समिति का मुख्य उद्देश्य सबसे पहले भारतीय नागरिक सेवा के अधिकारों की रक्षा करना था ।'' उन्होंने बताया कि संविधान के दोष ही द्वैध-शासन में अन्तर्निहित हैं । जब तक यह साधारण सी बात नहीं समझी जाएगी, तब तक सरकार का कार्य में सुधार के लिए किया जाने वाला कोई प्रयत्न सफल नहीं हो सकता । समिति के कार्य की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा : ''पूरा पहाड़ खोदा गया–और वाक्य पूरा नहीं किया, क्योंकि अर्थ स्पष्ट था । उन्होंने अपना भाषण इस प्रकार समाप्त किया : ''भारत बचता है या ब्रिटिश साम्राज्य में जाता है यह अधिकतर इस बात पर निर्भर है कि लार्ड रीडिंग ब्रिटिश मंत्रिमंडल को उचित निर्णय करने के लिए मनाने के वास्ते क्या कदम उठाते हैं ।[6] परन्तु क्या चीता कहने से कभी अपना स्वभाव बदल सकता है ?''

6. ''द स्टोरी आफ माई लाइफ'', भाग 2, पृ० 550–54

सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक के विरुद्ध भी जयकर उतने ही जोश और निर्भीकता से बोले। यह विधेयक होम-मेंबर जेम्स क्रेरार द्वारा सितंबर 1928 में केन्द्रीय विधान सभा में पेश किया गया था। विधेयक का घोषित लक्ष्य देश में साम्यवाद की वृद्धि को रोकना था। नौकरशाही और ब्रिटिश व्यापारी वर्ग दोनों ही औद्योगिक श्रमिकों की बढ़ती हुई शक्ति से चिंतित थे। श्रमिक वर्ग मजदूर संघों के माध्यम से अपने आपको मजबूती से संगठित कर रहा था। मजदूर संघ अधिकतर साम्यवादियों द्वारा प्रायोजित थे, जिनका बड़े शहरों में, विशेष रूप से बंबई और कलकत्ता में, श्रमिक वर्ग पर विशेष प्रभाव था। मजदूर आंदोलन को अधिक शक्तिशाली बनाने में सहायता देने के लिए ब्रिटिश श्रमिक नेता भी, जिनमें बी० एफ० ब्रेडले और फिलिप स्प्रेट शामिल थे, यहां आए।

सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक का उद्देश्य इसी नये "खतरे" को टालना था। इसमें उन विदेशियों के निष्कासन की व्यवस्था थी, जो साम्यवादियों जैसे तरीके अपनाकर सरकार को उखाड़-फेंकना चाहते थे। होम-मेंबर ने कहा कि राज्य की बुनियाद को विनाश से बचाने के लिए ऐसे विधान की आवश्यकता है। साम्यवाद विध्वंसकारी है और उस पर सख्ती से अंकुश लगाने की आवश्यकता है। विधेयक, जो प्रवर समिति को भेज दिया गया था, फिर सदन में वापस आ गया और जब उसे विचारार्थ प्रस्तुत किये जाने के प्रस्ताव पर मत लिए गए तो 61 पक्ष में तथा 61 ही विपक्ष में आये। अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल ने अपना मत बिना किसी हिचकिचाहट के प्रस्ताव के विपक्ष में दिया और इस प्रकार सदन में विधेयक पर किसी भी प्रकार के विचार को असंभव बना दिया। उन्होंने बताया कि इस प्रकार के असाधारण विधान को व्यापक समर्थन की आवश्यकता है और उसके पक्ष में अध्यक्ष के निर्णायक मत के बल पर उसे कानून नहीं बनना चाहिए। उनके इस कार्य से ब्रिटिश निहित स्वार्थ वाले अति क्षुब्ध हुए।

जनवरी, 1929 में एक संशोधित विधेयक विधान सभा में पेश किया गया, जिसके उपबंध और भी कठोर थे। प्रवर-समिति को भेजे जाने की सामान्य कार्रवाई के बाद, उसे 21 मार्च को सदन के समक्ष लाया गया। उससे एक दिन पहले ही, 31 साम्यवादी, जिनमें एस० ए० डांगे, एस० एस० मिराजकर, जी० एम० अधिकारी, एस० एच० झाबवाला, के० एन० जोगलेकर, आर० एस० निंबकर, शौकत उस्मान और शिवनाथ बनर्जी जैसे प्रसिद्ध नेता भी थे, गिरफ्तार कर

लिये गये । ब्रिटिश मजदूर नेता स्प्रेट और ब्रैडले भी गिरफ्तार कर लिये गये । यद्यपि कलकत्ता के एक वरिष्ठ बैरिस्टर लैंगफोर्ड जेम्स ने यह मत व्यक्त किया था कि गिरफ्तारियां बाजाब्ता हुई हैं, फिर भी सरकार को अपने आधार पर विश्वास न था । सुप्रसिद्ध ब्रिटिश पत्रकार, एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड को, जो उस समय भारत में ही था, सरकार की इस कार्रवाई की वैधता में संदेह था । उसने कहा कि "यूरोप में प्रत्येक समाजवादी पार्टी अधिकांशतः उन्हीं कामों को करती है तथा उन्हीं सिद्धांतों का उपदेश करती है, जिनके लिए ये लोग गिरफ्तार किये जा रहे हैं ।" अभियुक्तों पर मुकदमा बम्बई, कलकत्ता जैसे प्रसिद्ध स्थानों पर, जहां से इनमें से अधिकांश नेता आये थे, न चला कर, दिल्ली के समीपवर्ती छोटे से शहर मेरठ में चलाया गया । अधिकारियों को यह विश्वास न था कि यदि उन पर बम्बई और कलकत्ता के उच्च न्यायालयों में जूरी के सामने मुकदमा चलाया गया तो उनके विरुद्ध षड़यंत्र का अपराध सिद्ध हो जाएगा ।

जब सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक विधान सभा के सामने लाया गया तो उस का भारी विरोध हुआ । अनेक सदस्यों ने तर्क दिया कि प्रस्तावित विधेयक का आधार हु-ब-हू वही है जो मेरठ षड़यंत्र केस के अभियुक्तों को दी गयी चार्ज-शीट का है । अतः उन्होंने सरकार से मांग की कि या तो वह मुकदमा वापस ले या जब तक न्यायालय अपना निर्णय न दे तब तक विधेयक को रोक दे। इस तर्क की वैधता को चुनौती नहीं दी जा सकती थी । ला-मेंबर सर बी०एल० मित्र ने यह स्वीकार किया कि सदन विधेयक पर विचार इसलिए नहीं कर सकेगा क्योंकि इसके कुछ उपबंध लगभग वैसे ही हैं जैसी वह सामग्री, जिस पर षड़यंत्र के अभियोग का अभियोजन पक्ष निर्भर है ।

सप्रू और जयकर जैसे प्रतिष्ठित विधिवेत्ताओं को सरकारी पक्ष के खोखलेपन में कोई संदेह न था । 28 मार्च को, जब ला-मेंबर ने विधान सभा में यह प्रस्ताव पेश किया कि संशोधित विधेयक पर प्रवर समिति की रिपोर्ट पर विचार किया जाए, तो जयकर ने अध्यक्ष का ध्यान पिछले सप्ताह की घटनाओं की ओर खींचा । उन्होंने 31 व्यक्तियों की गिरफ्तारी तथा मेरठ में एक मजिस्ट्रेट की अदालत में, भारतीय दंड संहिता की धारा 121ए के अधीन, उन पर चलाये जाने वाले मुकदमे का उल्लेख किया । उन्होंने कहा कि विधेयक के उपबंधों पर विचार करते समय, सदस्यों के लिए ऐसे अनेक मामलों का उल्लेख करना अनिवार्य हो जाएगा,

जिनका संबंध मेरठ षड़यंत्र केस से है। जब मुकदमा चल रहा है, तो ऐसा करना ठीक न होगा।

शुरू में ही जयकर ने इस कठोर विधान के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट कर दिया था। सितंबर 1928 में सदन में बहस के दौरान उन्होंने साफ-साफ कह दिया था कि ऐसा निकृष्ट विधान बनाने का कोई औचित्य नहीं है। उन्होंने कहा कि विवादास्पद दंडविधि संशोधन विधेयक जो रौलट बिल के नाम से भी जाने जाते है, तथा जो 1919 में पारित होकर कानून बने थे, एक बार भी प्रयोग में नहीं लाये गये। ऐसे "त्रासदायक" विधान "पहाड़ जैसी भूलें" हैं। उन्होंने कहा : "लाला लाजपत राय को निर्वासित किया गया। सरकार ने केवल इतना कहा कि हमें खेद है। इसी प्रकार, क्या इस सदन के भूतपूर्व नजरबंद सदस्य एस०सी० मित्रा क्रांतिकारी थे? हड़ताल सबंधी उपबन्धों को छोड़कर, प्रस्तावित प्रत्येक अधिकार सरकार के पास पहले से ही मौजूद हैं। उनके विचार से हड़ताल-संबंधी उपबंधों को विधेयक में शामिल करना खतरनाक था।

उन्होंने होम-मेंबर से पूछा कि प्रस्तावित विधान लाने से पहले गैर-सरकारी भारतीय नेताओं को विश्वास में क्यों नहीं लिया गया था? उन्होंने कहा : "यही लोग अब से 25 वर्ष बाद भारत पर शासन करेंगे।" उन्होंने विधेयक के विरुद्ध अपना विरोध घोषित किया और कहा कि कार्यपालिका में मेरा बिलकुल विश्वास नहीं है।

अध्यक्ष पटेल 8 अप्रैल, 1929 को विधेयक पर अपनी रूलिंग नहीं दे सके। उस दिन जैसे ही वे रूलिंग देने खड़े हुए, गैलरी से दो बम सदन में फेंके गये। सर जोन साइमन, जिसके विषय में हम अगले अध्याय में विस्तार से कहेंगे, इस अवसर पर उपस्थित था। बाद में, इस घटना के संबंध में भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त को गिरफ्तार किया गया।

अध्यक्ष ने विधेयक पर अपनी रूलिंग 11 अप्रैल को यह घोषित करते हुए दी कि षड़यंत्र के केस पर विचार के दौरान इस पर किसी प्रकार की बहस "एक धोखा और तमाशा" होगी। उन्होंने जयकर द्वारा उठाये गये कानूनी मुद्दों का समर्थन किया और इस सरकारी तर्क को अस्वीकार कर दिया कि अध्यक्ष किसी विधान को रोकने के लिए सक्षम नहीं है। उन्होंने कहा कि यदि सरकार के तर्क

को स्वीकार किया गया तो इस सदन की कार्यवाही चलाना असंभव हो जाएगा। इसलिए उन्होंने विधेयक को अनियमित घोषित कर दिया। वाइसराय ने अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करके एक अध्यादेश द्वारा विधेयक को वैध बना दिया और इस प्रकार देश के औपनिवेशिक दर्जे की पुष्टि कर दी। ब्रिटिश काल में अपने पूरे सार्वजनिक जीवन में जयकर को ऐसी ही सरकारी स्वेच्छाचारिता का सामना करना पड़ा परंतु उदारता को उन्होंने भी नहीं छोड़ा।

11—262 M. of I & B/ND/82

अध्याय 11

समझौता-वार्ताकार

जयकर ने इस बात की वकालत की थी कि 1919 के सुधारों को ईमानदारी से परखा जाए, परंतु उनके खोखलेपन ने शीघ्र ही उनकी भ्रांति दूर कर दी। एडविन मोंटेग्यु जैसे व्यक्ति ने, जो इन सुधारों के प्रस्तावकों में से एक था, साफ-साफ कह दिया था कि ब्रिटेन किसी भी हालत में भारत पर अपना शिकंजा ढीला नहीं करेगा। परंतु अन्य उदारवादियों की तरह, जयकर व्हाइटहाल के इस दुराग्रह से निराश नहीं हुए। जब भी उन्हें मौका मिलता, तभी अपने देश के लिए औपनिवेशिक संविधान की मांग करते। 1924 में मेजर ग्राहम पोल की भारत यात्रा का उन्होंने अच्छा लाभ उठाया। ग्राहम पोल लेबर पार्टी (मजदूर दल) का, जो ब्रिटेन में उसी समय सत्ता में आयी थी, एक प्रभावशाली सदस्य था। वे उससे बंबई में कई बार मिले थे और उससे दोस्ती जोड़ ली थी।

जयकर के ज्ञापन ने, जिसमें भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य की योजना की रूपरेखा दी गयी थी, ग्राहम पोल को बहुत प्रभावित किया। उसने 5 फरवरी, 1924 को जयकर को एक पत्र लिख कर योजना की प्रशंसा की और उसे भारत में तैयार की जाने वाली सबसे अच्छी योजना बताया। उसने लिखा "आपने मेरे पास जो भेजा है, वह इतना अच्छा है कि ओलिवर ट्विस्ट की भांति, मैं और अधिक चाहता हूं। यदि संसद-सदस्यों में वितरण के लिए तथा मजदूर संघ की बैठकों में विचार विमर्श के लिए आप मेरे पास सामग्री भेजते रहे, तो मैं समझता हूं आप भारत की ऐसी अच्छी सेवा करेंगे, जिसका मूल्य आंका नहीं जा सकेगा।" अठारह दिन बाद, उसने फिर जयकर को लिख कर बताया कि मैंने वह सामग्री भारत मंत्री लार्ड ओलिवियर को दे दी थी, जिसे उसने ध्यानपूर्वक पढ़ा।

ब्रिटिश मजदूर दल में ऐसे बहुत से आदमी थे, जो असंदिग्ध रूप से भारतीय आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति रखते थे।[1] परंतु जब शब्दों को कार्यरूप में परिणत करने का प्रश्न आया तो वे पूर्णतया अयोग्य सिद्ध हुए। लार्ड ओलिवियर और कर्नल वैजवुड ने यह विश्वास व्यक्त किया कि संसद, 1919 के भारत सरकार अधिनियम में निर्दिष्ट 10 वर्ष की अवधि तक प्रतीक्षा किये बिना किसी भी

1. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 2, पृ० 209

समय, जब वह चाहे, भारत की संवैधानिक स्थिति पर विचार करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है। भारत मंत्री ने घोषणा की कि "कमीशन अंतरिम काल में कभी भी नियुक्त किया जा सकता है।" परंतु उसने यह भी कहा कि यदि भारतीय परिस्थितियों में उल्लेखनीय और अप्रत्याशित परिवर्तन हुआ तो ऐसी जांच जल्दी कराई जाएगी।

1924 में विधानसभा में भारतीय जनमत को स्वीकार्य एक योजना तैयार करने के वास्ते एक गोलमेज सम्मेलन बुलाने के लिए सरकार की स्वीकृति प्राप्त करने में मोतीलाल नेहरू की असफलता से तथा सरकार के मौजूदा ढांचे में कोई भी महत्वपूर्ण परिवर्तन सुझाने से मुडीमैन कमेटी के दृढ़ इंकार से यह सिद्ध हो गया कि मजदूर दल भारत के प्रति केवल मौखिक सहानुभूति रखता था, वास्तव में करना कुछ नहीं चाहता था। अपनी पहली वचनबद्धता की उपेक्षा करते हुए लार्ड ओलिवियर ने भारत सरकार के इस तर्क का समर्थन किया कि किसी भी संवैधानिक सुधार पर तब तक विचार नहीं किया जाएगा जब तक पूरी जांच के बाद उसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी। मार्च 1926 में, स्वराज्यवादी विधानसभा से अलग हो गए। उनकी भ्रांति दूर हो गई थी और वे यह समझ गए थे कि वहां रहने से कोई मतलब सिद्ध नहीं होगा। उनके नेता मोतीलाल नेहरू ने सरकार को चेतावनी दी कि यदि उसने समय रहते भारतीय जनमत को संतुष्ट नहीं किया तो समस्त देश "शहद की मक्खी के छत्ते की तरह" अराजक तत्वों से भर जायेगा।

सत्ता में टोरियों की वापसी से किसी को यह संदेह नहीं रहा कि भारत की राजनीतिक प्रगति का भविष्य अंधकारमय हो जाएगा। लार्ड बर्किनहैड, जो भारत मंत्री के रूप में, इस देश को 1924 से 1928 तक अपनी संपत्ति समझता रहा, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के देवता का पक्का पुजारी था। वह "एफ० ई०" नाम से प्रसिद्ध था और जितना चतुर था उतना ही चिपटू था। वह अपने मजदूर पार्टी के प्रेमी देशवासियों की राजनीति से घृणा भी करता था और डरता भी था। उसका ख्याल था कि यदि वे निश्चित बहुमत के साथ सत्ता में लौट आये तो वे भारत को बेच देंगे। निर्धारित समय से काफी पहले भारत पर कमीशन नियुक्त करने के अपने निर्णय का समर्थन करते हुए उसने दिसम्बर 1925 में लिखा "मेरे दिमाग में यह बात सदा स्पष्ट रहती थी कि यदि 1928 के

कमीशन के नामांकन का काम हमारे उत्तराधिकारियों के हाथों में रहा तो खतरा पैदा हो सकता है और हमें तनिक भी खतरा मोल नहीं लेना चाहिए। आप स्वयं सोच सकते हैं कि यदि कर्नल वैजवुड और उसके मित्र कमीशन नियुक्त कर दे तो वह कैसा होता ।"

कमीशन की अध्यक्षता के लिए बर्किनहैड ने सर जोन साइमन को चुना । सर जोन साइमन ब्रिटेन का प्रतिभाशाली और सबसे अधिक खर्चीला वकील था तथा पक्का साम्राज्यवादी था। वह उनमें से था जो यह समझते थे कि यदि भारत हाथ से निकल गया तो उन्हें उतना ही व्यक्तिगत हार्दिक दुख होगा, जितना किसी आत्म-जन के वियोग से होता है। उसने अपने मन में यह निश्चय कर लिया कि कमीशन द्वारा भारत को कोई तत्व की वस्तु नहीं दी जानी चाहिए। बड़ी चतुराई से, जो आसानी से उसके दिमाग में आ गई, उसने उत्तरदायित्वपूर्ण शासन और औपनिवेशिक स्वराज्य के भेद की व्याख्या कर डाली । उसने वाइसराय इर्विन से कहा "यदि मैं अपने बाग में जाऊं तो माली मुझे मिट्टी में से झांकती हुई एक हरी पत्ती दिखाएगा और कहेगा कि यह सूरजमुखी है । हालांकि वह पूरा बढ़ा हुआ 6 फीट ऊँचा पौधा अभी नहीं है, फिर भी वह सूरजमुखी ही है ।"

भारत में उसका और उसके साथियों का अच्छा स्वागत नहीं हुआ, कदाचित इसलिए कुछ न देने का उसका संकल्प और भी दृढ़ हो गया । जनवरी 1929 में उसने लिखा "कभी-कभी मैं यह सोचता हूँ कि मुझे एक बहुत बड़ी पहेली दो वर्ष में हल करने के लिए दी गई है और किसी ने चुपके से मेरे कान में यह कह दिया है कि पहेली का कोई हल ही नहीं है। उसकी अति अनुदारवादिता के कारण उसके अपने ही देश में प्रगतिशील जनमत उससे घृणा करता था। ऐसा था वह आदमी, जिसे भारत की शासन-योग्यता का पता लगाने और निर्णय देने का काम सौंपा गया था। उसे 6 साथी और दिए गए थे, जिनमें से एक को छोड़ कर कोई भी शैली के "प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध" के स्तर तक भी नहीं पहुंच सका। उनमें से अकेला क्लीमेंट एटली ही, बाद के वर्षों में, अप्रसिद्धि के अंधकार से बाहर आ सका।

भारतीयों को कमीशन की सदस्यता से अलग रखने का देश में व्यापक विरोध हुआ। नवंबर 1927 में, भारतमंत्री और वाइसराय दोनों ने इस आधार पर इस उपेक्षा का समर्थन किया कि कमिश्नरों की भूमिका 'जुररों' जैसी ही होगी। मजाक के तौर पर कमिश्नरों को 'साइमन सप्तक' कहा जाता था और भारतीय

जनमत का कोई भी महत्वपूर्ण वर्ग उनसे सहयोग के लिए तैयार न था। सर तेज बहादुर सप्रू, सर चिमनलाल सीतलवाड़ और जिन्ना जसे उदार विचार वाले नेताओं तक ने उसके साथ कोई संबंध रखने से इंकार कर दिया। जयकर ने, जो 5 नवंबर, 1927 को वाइसराय से मिले, स्पष्ट कह दिया कि वे सम्मानजनक शर्तों के अलावा और किसी स्तर पर कमीशन के साथ सहयोग के लिए तैयार नहीं हैं। सप्रू और जयकर जैसे उदार नेताओं के ऐसे रवैये पर इर्विन को बहुत चिंता हुई।

कमीशन की उपेक्षा करने के लिए तैयार किए गये कांग्रेस के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए डा० एनी बेसेंट ने घोषणा की: "हमें यह कहना चाहिए : 'आपका कहना है कि कमीशन में कोई भारतीय नहीं होगा। हम कहते हैं कि कोई अंग्रेज भारत की योग्यता की जांच नहीं करेगा। हमारा स्वाभिमान हमारा अपना है'।" 16 फरवरी, 1928 को विधानसभा में भाषण देते हुए लाला लाजपतराय ने कहा कि जिन्होंने साइमन कमीशन को नियुक्त किया है, उनकी ईमानदारी में मुझे कोई विश्वास नहीं है। यह एक विदेशी समिति है, जो भारत में जूरी और जज दोनों का काम करने के लिए आई है। ब्रिटिश सरकार की नीति पर प्रहार करते हुए उन्होंने कहा, "मैं कहता हूँ सरकार और एंग्लो-भारतीय व्यापारी वर्ग का हमें छोड़ने का निश्चय ही कोई इरादा नहीं है।"

इस महान देशभक्त की, जिन्होंने लाहौर में अवांछित विदेशियों के बहिष्कार के लिए निकाले गए जुलूस का नेतृत्व किया, पुलिस ने इतनी बर्बरता से पिटाई की कि उसके परिणामस्वरुप 17 नवंबर को उनकी मृत्यु हो गई। किसी को नहीं बख्शा गया। मोतीलाल के शब्दों में–"ऐसा मालूम पड़ता था मानो किसी पेंटर ने उनके शरीरों को काले और नीले रंगों से रंग दिया हो।" साइमन कमीशन का सर्वत्र "साइमन वापस जाओ" के नारे से स्वागत किया जाता था, जिसकी प्रतिध्वनि सारे देश में गूंज उठी थी।

जयकर ने विशुद्ध गोरा कमीशन भारत भेजने में प्रदर्शित ब्रिटिश अविवेकशीलता पर प्रहार करते हुए कुछ अत्यन्त स्मरणीय भाषण दिये। 16 फरवरी को उन्होंने विधान सभा में कहा कि मैं निष्पक्षता से स्थिति की जांच के लिए होम-मेम्बर के आमन्त्रण को स्वीकार करने के लिए तैयार हूं। लाला लाजपतराय, जिन्होंने 35 वर्ष तक तन्मयता से देश की सेवा की, देशभक्ति और आत्मसम्मान की दृष्टि से बोला करते थे। एस० श्रीनिवास आयंगार ने भी कांग्रेस

की ओर से ऐसा ही किया था परन्तु जयकर सर जोन साइमन के वक्तव्यों, वाइसराय की उक्तियों तथा ब्रिटिश संसद में दिए गए भाषणों के संदर्भ में इस प्रश्न पर विचार करना चाहते थे। 16 नवम्बर, 1927 को उन्होंने पुणे में यह घोषणा की थी कि यदि महाराष्ट्र पार्टी की शर्तें मान ली गईं, तो वह कमीशन से सहयोग को राजी हो जाएगी। परन्तु शर्तें नहीं मानी गईं, इसलिए उनकी अवज्ञा होने लगी।

जयकर ने कहा––"जैसा कि महाराष्ट्र के अनुक्रियावादियों के घोषणापत्र में कहा गया है, भारत चाहता है कि उसके मान्य प्रतिनिधि, ब्रिटिश जनता के प्रतिनिधियों के साथ बैठने के समान अधिकारों से युक्त होकर, भारत के निर्माताओं और भाग्यनिर्णायकों का पद ग्रहण करें। यदि यह स्वीकार नहीं किया गया तो कमीशन के काम में सहयोग और सहायता देना भारत के लिए संभव न होगा।" उन्होंने और उनकी पार्टी ने जिस समानता की मांग की थी, वह नहीं मानी गई। साइमन ने दावा किया कि कमीशन का यह अधिकार है कि वह गुप्त रूप से गवाही ले और उसका उतना ही अंश 'भारतीय पक्ष' की जानकारी के लिए प्रकट करे, जितना अपने विवेक के अनुसार वह ठीक समझे। जयकर ने कहा कि ऐसी शर्तों पर भारतीय सहयोग मिलना असम्भव है। उन्होंने साइमन के इस कथन की ओर भी ध्यान आकर्षित किया कि ब्रिटिश संसद में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करना कमीशन की अनिवार्य जिम्मेदारी है। भारतीय सहयोगी अपना अलग प्रलेख तैयार करने के लिए स्वतन्त्र हैं, परन्तु वह अलग ही छपेगा। जयकर ने कहा : "यह कैसी रियायत है।" यह सुझाव ठुकरा दिया गया कि रिपोर्ट भारतीयों और अंग्रेजों के संयुक्त प्रयास से तैयार की जानी चाहिए।

जयकर ने तुमुल प्रशंसा-ध्वनि के मध्य इन शब्दों के साथ अपना भाषण समाप्त किया "मैं कहता हूं कि दरवाजा अब भी खुला है। सरकार को यह नहीं सोचना चाहिए कि दरवाजा बहुत दिनों तक खुला रहेगा। जो आज संभव है कल संभव न होगा।....हम सर जोन साइमन के वक्तव्य को अस्वीकार करते हैं, क्योंकि यह प्रामाणिक वक्तव्य नहीं है।" 18 फरवरी को विधान सभा ने भारी उत्तेजना के बीच एक प्रस्ताव पास कर विदेशी जांचकर्ताओं में 'पूर्ण अविश्वास' प्रकट कर दिया।

सुप्रतिष्ठित ब्रिटिश वकील मार्क रोमर ने, जिसके लन्दन स्थित चैम्बर में जयकर ने कुछ साल बिताये थे, अक्तूबर 1928 में जयकर को पत्र लिखकर

उनसे उनकी राजनीतिक गतिविधियों के बारे में पूछा। जयकर ने उत्तर दिया कि मैं यह देख रहा हूं कि सर जोन साइमन क्या करेगा। उन्होंने भारतीय जनमत की उपेक्षा करके कमीशन नियुक्त करने में सरकार की भारी गलती का उल्लेख किया और कहा कि बहुत-कुछ साइमन की रिपोर्ट पर निर्भर होगा। कमीशन की रिपोर्ट के बारे में उन्हें इतना उत्सुक नहीं होना चाहिए था, क्योंकि उसकी सिफारिशों के बारे में पहले से ही विश्वासपूर्वक अनुमान लगाया जा सकता था। जैसी की आशा थी, साइमन ने एक पूरी तरह प्रतिक्रियावादी रिपोर्ट तैयार की।

परन्तु कमीशन को बदला भी जल्दी ही मिल गया। मई 1930 में प्रकाशित होने से पहले ही उसकी सिफारिशें असंगत हो गईं। साइमन रिपोर्ट लिखी तो सुन्दर गद्य में गई थी, परन्तु उसमें भारत को देने के लिए कुछ न था। उसमें, प्रान्तों में द्वैध या विभाजित उत्तरदायित्व की प्रणाली को समाप्त करने की सिफारिश की गई थी, परन्तु लोकप्रिय सरकार के माध्यम से अपने मामलों के प्रशासन के लिए स्वशासन का अधिकार उन्हें बिल्कुल नहीं दिया गया था। राज्यपाल को पहले की तरह उनके भाग्य का निर्णायक बना दिया गया था और उसे कोई चुनौती नहीं दे सकता था। केन्द्र को इस आधार पर अछूता छोड़ दिया गया था कि जब तक प्रान्तों में स्वशासन स्थापित न हो जाए तब तक उसके बारे में कुछ नहीं किया जा सकता।[2]

मई 1929 में मजदूर दल के सत्ता में आ जाने से टोरियों को हटना पड़ा। मजदूर दल के रेमजे मैक्डोनाल्ड प्रधानमंत्री और वैजवुड बेन भारतमंत्री बने। इन दोनों आदमियों ने भारत की समस्या को सुलझाने के नाम पर नये प्रयत्न शुरू किये परंतु उनका परिणाम एक बदतर संवैधानिक गतिरोध के रूप में सामने आया। 31 अक्तूबर, 1929 को, वाइसराय लार्ड इर्विन ने यह घोषणा की "मुझे सम्राट की सरकार की ओर से यह स्पष्ट कहने का अधिकार दिया गया है कि उसके विचार से 1917 की घोषणा में यह स्पष्ट है कि भारत की संवैधानिक प्रगति की स्वाभाविक समस्या, जैसी कि वहां सोची गई है, औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करने की है।" उसने यह भी घोषणा की कि साइमन कमीशन की रिपोर्ट के संसद में पेश किए जाने से पहले ही उस पर विचार के लिए भारतीय

2. "रिपोर्ट आफ दी इंडियन स्टैट्यूटरी कमीशन" भाग 2, भारत सरकार, 1930, पृ० 143

और ब्रिटिश प्रतिनिधियों का एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जायेगा। भारतीय नेताओं ने वाइसराय की घोषणा का स्वागत किया और ब्रिटिश सरकार को उसकी नई प्रतिज्ञा को पूरा करने में पूरा-पूरा सहयोग देने की पेशकश की। उन्होंने आशा व्यक्त की कि सम्मेलन का उद्देश्य "औपनिवेशिक स्वराज्य कब मिलेगा, इस पर विचार करना न होकर, भारत के लिए औपनिवेशिक संविधान बनाना होगा।"

परंतु उनकी भ्रांति दूर होने में देर न लगी। ब्रिटिश संसद में देश के अधिकांश बड़े लोगों ने अक्तूबर घोषणा पर अपनी-अपनी बड़ी बंदूकों से गोलियां बरसानी शुरू कर दीं। हाउस आफ लार्डस में रीडिंग और बर्किनहैड इससे बहुत क्रुद्ध हुए और बर्किनहैड ने सर जोन साइमन से, जो अभी अपनी रिपोर्ट तैयार करने में ही लगे हुए थे, कहा कि वह "उसे, जिसे करने को सरकार ने वाइसराय को हिदायत दी है अथवा अधिकार दिया है, असंगत समझे।" 2 दिसम्बर को लार्ड स्टामफोर्डहम ने उस हंगामे का सुन्दर वर्णन किया, जो वाइसराय की घोषणा पर इंग्लैंड में मचा। कुछ लार्ड तो, जो वृद्धावस्था में पहुंच गए थे, यह भी भूल गए कि वे किस विषय पर बात कर रहे थे और महारानी विक्टोरिया के उस बीते जमाने की बात करने लगे, जब ब्रिटिश साम्राज्य अपने गौरव के शिखर पर था।"[3]

स्टेनले बाल्डविन, जो अनुदार दल का नेता था तथा मैक्स बीरबोहम द्वारा जिसके दकियानूसीपन का स्मरणीय व्यंग्यचित्र खींचा गया था, ने भारत के औपनिवेशिक स्वराज्य के दावे के समर्थन के लिए दिए गए अपने पहले वचन को वापस ले लिया। प्रधानमन्त्री रेमजे मैक्डोनाल्ड ने, जिसके आदेश से अक्तूबर की घोषणा की गई थी, भारत के जनमत को पुनः आश्वस्त करने के लिए कुछ नहीं किया। अपने देश में शक्तिशाली लोगों द्वारा तिरस्कृत और निन्दित हो जाने के कारण, इर्विन को अपनी प्रतिज्ञा पर जमे रहने का साहस ही नहीं हुआ और हवा में कलाबाजियां खाने लगा। जनवरी 1930 में उसने विधान सभा में कहा कि "लक्ष्य का समर्थन लक्ष्य से भिन्न है।" इस प्रकार उसने कांग्रेस के लिए अपना राजनीतिक लक्ष्य पूर्ण स्वतन्त्रता घोषित करने तथा महात्मा गांधी के लिए मार्च 1930 का शक्तिशाली नमक सत्याग्रह शुरू करने के वास्ते मार्ग प्रशस्त कर दिया।

---

3. हेराल्ड निकल्सन लिखित "किंग जार्ज द फिफ्थ" कांस्टेबिल, 1952, पृ० 505

12 मार्च को, गांधीजी नमक कानून तोड़ने के लिए 78 व्यक्तियों के साथ गुजरात में समुद्र के किनारे पर स्थित दांड़ी नामक स्थान को अपनी ऐतिहासिक पद यात्रा पर चल पड़े। आंदोलन ने शीघ्र ही तेजी और जोर पकड़ कर क्रांति का रूप ले लिया तथा साम्राज्यवादियों के लिए काफी सिरदर्दी पैदा कर दी। प्रोफेसर ब्रैचर ने लिखा है, "नाटकीय ढंग से चिंगारी लगते ही महाविनाशकारी विस्फोट हुआ। हजारों लोगों की दबी हुई भावनाएँ फूट पड़ीं और देशभर में नमक कानून तोड़ा जाने लगा।"[4] 1930 के अंत तक 90,000 से अधिक पुरुष और स्त्रियां जेलों में डाल दिए गए। सरकार आतंकित हो गई और जन-आंदोलन को पाशविक कार्यों से दबाने की आशा करने लगी।

आंदोलन को दबाने के लिए सभी प्रकार के हिंसात्मक कार्य किए गए और सभी प्रकार के कूटनीतिक हथकंडे अपनाये गए। समाजवादी प्रधानमंत्री रेमजे मैक्डोनाल्ड और उसके सहयोगी बैजवुड बैन ने इर्विन की दमन नीति का पूरी तरह समर्थन किया। इर्विन को इतिहास में गलती से "ईसाई" वाइसराय कह दिया गया है। शांतिपूर्ण सत्याग्रहियों के प्रति सरकार की बर्बरता की विदेशियों सहित अनेक लोगों ने निंदा की। वब मिलर ने उस दृश्य का वर्णन स्मरण रखने लायक किया है, जो उसने ढरसना में नमक के कड़ाहों के समीप अपनी आंखों से देखा। पुलिस ने "हमलावरों" पर इतनी बर्बरता से प्रहार किया कि वहां प्रतीक्षा में खड़ी देखनेवालों की भीड़ फूट-फूट कर रोने-चिल्लाने लगी तथा प्रत्येक चोट पर सहानुभूति में पीड़ा का अनुभव करती हुई सांस रोक कर स्तब्ध रह गई।"[5]

इस भीषण विद्रोह को दबाने के उन्माद में नौकरशाही "फूट डालो और राज करो" के निंदनीय हथियार को इस्तेमाल करने में भी नहीं चूकी। पेशावर में गढ़वाली सैनिक टुकड़ी द्वारा निःशस्त्र भीड़ पर गोली चलाने से इंकार करने पर सैनिक और असैनिक सभी अधिकारी भयभीत हो गए। अप्रैल में केंद्रीय सरकार ने स्थानीय अधिकारियों को निर्देश दिया कि वे इस गंभीर घटना की जानकारी जनता को न होने दें तथा मुसलमानों को गांधीजी के आंदोलन में शामिल होने से रोकने के लिए वे सभी उपाय करें जो वे कर सकते हैं।

प्रोफेसर ब्रेचर ने लिखा है — 1930 में "फूट डालो और राज करो" नीति का केंद्रीय सरकार के इस उत्तर से अधिक अच्छा और कोई प्रमाण नहीं मिल

4. माइकेल ब्रैचर लिखित "नेहरू: ए पोलिटिकल बायोग्राफी", 'आक्सफोर्ड' 1959, पृ० 151
5. वेब मिलिर लिखित "आई फाउंड नो पीस" विक्टर गोलैंज, 1937, पृ० 184

सकता : "इस समय सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि इस (उत्तर-पश्चिमी सीमा) प्रांत के स्वतंत्र विचार वाले मुसलमानों को केंद्रीय मुस्लिम पार्टी में लाने के कुछ उपाय किये जायें।"[6] 20 मई को महात्मा गांधी की गिरफ्तारी से यह विप्लवकारी आंदोलन शांत होने के बजाय और अधिक भड़क गया। महात्मा गांधी की गिरफ्तारी पर टिप्पणी करते हुए एक ब्रिटिश पत्रकार जार्ज स्लोकोम्बी ने लिखा है : "बंदी महात्मा अब भारत की आत्मा का अवतार बन गया है।"

परिस्थिति में बिगाड़ आ जाने से सभी विचारशील व्यक्ति चिंतित हुए। जुलाई 1930 में केंद्रीय विधान मंडल के दोनों सदनों के कुछ सदस्यों ने, जिनमें जयकर, जिन्ना, सर फीरोज सेठना, सर सी०पी० रामस्वामी अय्यर, सर कावसजी जहांगीर, सर ए० रामास्वामी मुदालियार, जी० नटेसन, आर० के० षण्मुखम् चेट्टी, सर एच० पी० मोदी, राजा गजंफर अली खाँ, सर फजल इब्राहीम रहीमतुल्ला, मुहम्मद इस्माइल खाँ, यू० एन० सेन, बी०दास और डा० जियाउद्दीन अहमद थे---एक घोषणापत्र प्रकाशित किया जिसमें अनुरोध किया कि देश में समुचित वातावरण पैदा करना चाहिए ताकि सभी प्रमुख राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि अक्तूबर में होने वाले लंदन सम्मेलन में भाग ले सकें। उन्होंने बताया कि साइमन कमीशन की रिपोर्ट की सिफारिशें इतनी असंतोषजनक हैं कि उसे लंदन वार्ता का आधार नहीं बनाया जा सकता। भारतीय पार्टियां "केवल अंतरिम संरक्षणों की बात मानते हुए" औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं।

घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने वालों ने कहा कि भारतीय प्रतिनिधियों की मांग को "अपरिहार्य" बनाने के लिए उनमें "पर्याप्त एकमत्य की" आवश्यकता है। उन्होंने कहा "इसलिए हम दृढ़ता से यह महसूस करते हैं कि भारत को सम्मेलन में भाग लेना चाहिए तथा ब्रिटिश सरकार के साथ संतोषजनक समझौता करने के लिए इस अवसर को न तो खोना चाहिए और न छोड़ना चाहिए।" उन्होंने सरकार और कांग्रेस दोनों से कहा कि वे अपने-अपने रवैये को बदलें तथा लंदन सम्मेलन में भारतीयों के भाग लेने के लिए अनुकूल परिस्थितियां पैदा करें।

देश के वृहत्तर हित में झगड़ा मिटाने और समझौता करने के लिए नेताओं ने जो वकालत की थी, उसकी पुनरावृत्ति जयकर ने विधान सभा में साइमन कमीशन

6. माइकेल ब्रैचर लिखित "नेहरू : ए पोलिटिकल बायोग्राफी" पृ० 156

की रिपोर्ट पर अपने भाषण में की। 12 जुलाई को सदन को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा कि मैं सविनय अवज्ञा आंदोलन के पक्ष में नहीं हूं परंतु उसकी शक्ति की उपेक्षा करना मूर्खता होगी। उन्होंने बताया कि बंबई में बहुत सी स्त्रियां इस आंदोलन में शामिल हैं जिनमें "राजभक्त पारसी परिवारों की महिलाएं भी" हैं। कमीशन के सदस्यों ने कहा था कि हमने भारत की घटनाओं से अपने आपको प्रभावित नहीं होने दिया। जयकर ने अपने उत्तर में कहा कि यदि वे ईमानदार रिपोर्टर होते, जैसा कि वे दावा करते हैं, तो उन्हें अपनी रिपोर्ट में देश में व्याप्त राष्ट्रीयता की तीव्र भावना का उल्लेख करना चाहिए था।

साइमन कमीशन ने भारत की अंदरूनी समस्याओं पर लिखा था : जयकर ने कहा कि ऐसे प्रश्न इस देश में ब्रिटिश निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए उठाये गए हैं। अक्तूबर में होने वाला गोलमेज सम्मेलन 5 वर्ष पहले तब बुलाया जाना चाहिए था, जब स्वराज्यवादियों, राष्ट्रवादियों और निर्दलीय लोगों ने इसकी मांग की थी। यह एक कालातीत प्रस्ताव है, जिसे वाइसराय ने सम्मेलन के लक्ष्य के बारे में गोल-मोल बात कह कर और भी दूषित कर दिया हैं। जयकर ने लार्ड बर्किनहैड जैसे लोगों को "राजनीतिक कठवैद्य" बताया जो लार्ड इर्विन को कलंकित कर रहे थे और कोई उनकी जबान को रोकने वाला न था। नौकरशाही पागल हो गई थी। गांधी टोपी पहनने वाले लोगों को गिरफ्तार किया जा रहा था। भारतीय माल की निंदा की जा रही थी और आयातित ब्रिटिश माल का "घृणित" प्रचार किया जा रहा था।

उन्हें यह कहा जाते सुना गया था कि जब तक सविनय अवज्ञा आंदोलन नहीं कुचला जाएगा तब तक कोई समझौता नहीं होगा। जयकर ने कहा कि यह बड़े दुःख की बात है कि जब पंडित मोतीलाल नेहरू ने अपनी मांग पूर्ण स्वतंत्रता से घटा कर औपनिवेशिक स्वराज्य की कर दी, तब झगड़ा समाप्त कर समझौता करने का उनका अनुरोध ठुकरा दिया गया। इससे भी बुरी बात यह हुई कि मोतीलाल को, जिन्हें जयकर "महान" कहते थे, जेल में डाल दिया गया। उन्होंने कहा कि पंडित मोतीलाल का वक्तव्य कांग्रेस के साथ सम्मानजनक समझौते का आधार बन सकता था। उन्होंने जोर देकर कहा कि जिनको संविधान तैयार करना है, उन्हें लंदन जाने का अवसर मिलना चाहिए। कांग्रेस के साथ समझौता करने का यही ठीक समय था, तभी वह संविधान-निर्माण में भाग ले सकती

थी। उन्होंने चेतावनी दी कि गोलमेज सम्मेलन के विचार को केवल गप्प या फंसाने का फंदा नहीं बनाना चाहिए। इसे "राजभक्तों के सम्मेलन का" भी रूप नहीं धारण करना चाहिए।

जून 1930 में मोतीलाल नेहरू ने लंदन के 'दी डेली हेराल्ड' के विशेष संवाददाता स्लोकोम्बी को दिए गए एक साक्षात्कार में भारतीय गुत्थी को सुलझाने के संबंध में अपने विचार प्रकट किए। उन्होंने कहा कि सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इस देश को औपनिवेशिक स्वराज्य देने के प्रश्न पर विचार-विमर्श शुरू किया जाए। यदि यह स्पष्ट कर दिया जाए कि "हमारे पारस्परिक संबंधों के ऐसे सम्मजनों की शर्त के साथ, जो भारत की विशिष्ट आवश्यकताओं और परिस्थितियों तथा हमारे पुराने संपर्क के लिए जरूरी हैं, स्वतंत्र भारत का संविधान बनाने के लिए गोलमेज सम्मेलन बुलाया जायेगा, तो मैं यह सिफारिश कर सकूंगा कि कांग्रेस सम्मेलन में भाग लेने के लिए निमंत्रण स्वीकार कर ले।"[7] लंदन के "दी टाइम्स" के संपादक ज्योफ्रे डासन जब भारत आए थे, तब उनसे भी उन्होंने यही बात कही थी। उन्होंने डासन से कहा था कि वस्तुतः आवश्यकता यह आश्वासन देने की है कि औपनिवेशिक स्वराज्य दिया जा रहा है।

मोतीलाल के साथ साक्षात्कार के तुरंत बाद स्लोकोम्बी ने समझौते के लिए कुछ प्रस्ताव तैयार किए और उन्हें बंबई में मोतीलाल और जयकर को दिखाया। प्रस्तावों में यह कहा गया था कि दोनों देशों के मध्य लंबे सम्पर्क के कारण कुछ संरक्षणों की शर्त के साथ भारत को पूर्ण उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के मार्ग पर चलाने के लिए एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाए। सम्मेलन कोई भी सिफारिश करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र होगा तथा ब्रिटिश संसद और ब्रिटिश सरकार भी उन सिफारिशों के मूल्यांकन में उतनी ही स्वतंत्र होगी। इस समझ के आधार पर ब्रिटिश और भारतीय सरकारें निजी तौर पर आश्वासन देंगी कि वे पूर्ण उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के लिए भारत की मांग का समर्थन करेंगी। यदि वे इस बात को मान लेंगी तो पंडित मोतीलाल नेहरू कांग्रेस को इस प्रस्ताव से सहमत कराने के लिए अपने प्रभाव का इस्तेमाल करेंगे। परिणामस्वरूप कांग्रेस अपना सविनय अवज्ञा आंदोलन और सरकार अपने दमनकारी कानून वापस ले लेगी। तब लंदन सम्मेलन में कांग्रेस के शामिल होने के लिए वातावरण साफ हो जाएगा। मोतीलाल के कहने से इन प्रस्तावों की एक प्रति सर तेज

7. जार्ज स्लोकोम्बी "द ट्यूमल्ट ऐंड द शाउटिंग" मैकमिलन, 1936, पृ० 371

बहादुर सप्रू को भेजी गई और उनसे कहा गया कि वे और जयकर उनके आधार पर समझौता कराने के लिए वाइसराय पर अपना प्रभाव डाल सकते हैं।

यह प्रस्ताव विशेष रूप से इसलिए महत्वपूर्ण था क्योंकि इससे सप्रू और जयकर एक-दूसरे के अपेक्षाकृत अधिक निकट आये। इससे उन्हें इतिहास में सर्वाधिक अनथक समझौताकारों का स्थान प्राप्त हो गया। अपने अनेक व्यस्त कार्यक्रमों और निराशाओं के बावजूद भी वे कांग्रेस और सरकार के मध्य सम्मानजनक समझौता कराने के अपने प्रयत्नों में कभी नहीं थके।

सप्रू असाधारण गुणों से सम्पन्न व्यक्ति थे। उनके विषय में यह ठीक ही कहा गया है कि उनसे ऊपर कोई न था और निकट बहुत कम थे। भारत के सार्वजनिक जीवन में उनका स्थान अद्वितीय था। अनेक वर्षों तक वे उदारवादी दल के अग्रणी सदस्य रहे परंतु 1930 के बाद उन्होंने किसी भी राजनीतिक संगठन के साथ कोई औपचारिक संबंध नहीं रखा। शिक्षित वर्ग अनेक उत्कृष्ट गुणों के लिए उनकी प्रशंसा करता था। जैसा कि एक ब्रिटिश राजनेता के विषय में कहा जाता था, उनके विषय में भी ठीक ही कहा जा सकता है कि उनका व्यक्तित्व ही शक्ति था। सप्रू ने अपना आकलन इस प्रकार किया है "अपने विषय में मुझे यह कहना है कि जब कोई मेरे प्रतिनिधित्व को चुनौती देता है, तो मेरा उत्तर सीदा-सादा है, भले ही वह दूसरों को धृष्टतापूर्ण लगे। मैं कहता हूं कि मैं अपना ही प्रतिनिधित्व करता हूं : बहुत से लोग अपने विषय में जो कुछ कह सकते हैं, उससे यह कथन बहुत अधिक है। भारत में अभी तक कोई ऐसा नेता पैदा नहीं हुआ, जो मुझे अपनी इच्छानुसार चला सके"। वे सदा अपने ही अन्तरालोक के अनुसार काम करते थे, जो चमकता ही रहता था और कभी धूमिल नहीं होता था।

सप्रू उच्चकोटि के साहित्यज्ञ, वकील और विधायक थे। वस्तुत: वे विद्वान राजनेता थे और उनके विचार एवं रुचियां व्यापक थीं। साहित्य के क्षेत्र में उनका नाम रोशन था तथा फारसी के अगाध ज्ञान के कारण उन्हें 1943 में ईरानी अकादमी की सदस्यता प्राप्त हो गई थी। एक भारतीय के लिए निःसंदेह यह अद्वितीय गौरव की बात थी। उर्दू पर भी उनका अधिकार था, जो कम प्रशंसनीय न था। जैसा कि सर सुलतान अहमद ने कहा था, "वे भारत-ईरानी संस्कृति की एक सर्वोत्तम उपज थे।"

डा० सच्चिदानंद सिन्हा ने एक घटना का वर्णन किया है, जिससे प्रकट होता है कि सप्रू का इस्लामी साहित्य का ज्ञान कितना गहरा था। निजाम के हैदराबाद के उच्च न्यायालय में एक मुकदमे में जिन्ना उनके विरुद्ध खड़े थे। साक्ष्य के लिए जिन्ना एक दस्तावेज पर बहुत अधिक निर्भर थे, परंतु उसे पढ़ नहीं पा रहे थे। वह "अरबी-निष्ठ फारसी" में लिखा हुआ था। पाकिस्तान के भावी कायदे-आजम जिन्ना अंग्रेजी और गुजराती के अतिरिक्त और कोई भाषा नहीं जानते थे। सप्रू बड़े औदार्य के साथ उनकी सहायता के लिए उनके पास गए और दस्तावेज को पढ़कर उसका अर्थ उन्हें समझा दिया। अगले ही दिन एक प्रमुख स्थानीय उर्दू दैनिक ने इस घटना का समाचार इस शीर्षक के साथ दिया : "मौलाना सप्रू ने पंडित जिन्ना के लिए अरबी पाठ का अनुवाद किया।"

सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर ने, जो स्वयं भी एक प्रतिभाशाली वकील थे, कहा कि "समस्त भारत के वकीलों में सप्रू से ऊंचा कोई न था।" वे विधि की प्रत्येक शाखा के विशेषज्ञ थे। परंतु उनकी सबसे अधिक रुचि संवैधानिक विधि में थी। सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाएं विशेषज्ञ विधिवेत्ता के रूप में उनसे सलाह लेने के लिए एक-दूसरे से होड़ करती थीं। 1945 की सप्रू समिति की रिपोर्ट, उनके गंभीर ज्ञान और राजनीतिक सूझबूझ तथा उनकी प्रशंसनीय समझौता भावना की प्रतीक है। 1920 के अंत में, वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने, जिसके तुरंत बाद लार्ड रीडिंग आ गया था, उन्हें अपनी प्रबंध-परिषद का ला-मेंबर नियुक्त किया। तीन साल बाद, जब अस्वस्थता के कारण सप्रू ने यह पद छोड़ा, तो रीडिंग ने, जो स्वयं भी एक प्रतिष्ठित विधिवेत्ता था, एक विदाई भोज में कहा कि उनका शांत निर्णय और राजनीतिक सूझ-बूझ सरकार के लिए बहुत महत्वपूर्ण थी। लार्ड सांकी और हेरोल्ड लास्की उन्हें जोन स्टुअर्ट मिल का भारतीय अवतार तथा डा० एनी बेसेंट एक महान रोमन राजनेता का हिंदू अवतार बता कर उनकी प्रशंसा किया करते थे।

सभी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सप्रू का आदर और प्रशंसा होती थी। देश और विदेश में अपनी जनता के लिए उनकी वकालत सदा विनम्र एवं विशद भाषा में अवगुंठित रहती थी। भाषा इतनी संयत और तर्क इतने अकाट्य होते थे कि विरोध होता ही न था। परंतु जब उनकी मातृभमि की इज्जत दांव

पर होती थी, तो वे बहुत सख्त हो जाते थे। 1923 के इंपीरियल सम्मेलन में उन्होंने श्रोताओं को चेतावनी दी कि अब भारत को बहकाया नहीं जा सकता। उन्होंने प्रतिनिधियों से कहा : "मैं अपने देश के लिए सम्राट के महल में स्थान चाहता हूं, अस्तबल में नहीं। समानता के सिद्धांत पर न मैं झुक सकता हूं, न हिल सकता हूं और न कमजोरी दिखा सकता हूं। यह निर्णय तो आप करेंगे कि, आप हमें राष्ट्रमंडल में रहने देना चाहते हैं या इससे निकल जाने देना चाहते हैं।"

एक ऐसा ही जोशीला भाषण सुनने के बाद, लार्ड कर्जन ने सप्रू से पूछा "मेरे दिनों में आप कहां थे?" अर्थात् 1899 से 1905 तक, जब वह भारत का वाइसराय था। सप्रू का उत्तर था : "अलक्ष्यता के मोटे पर्दे के पीछे वकालत में व्यस्त था।" सप्रू विदेशों में भारतीयों के हितों के लिए लड़ते रहे और कभी-कभी दक्षिण अफ्रीका के जनरल स्मट्स के साथ उनका खुला संघर्ष हो जाता था। उनका अपने पक्ष का समर्थन इतना प्रशंसनीय होता था कि दुर्धर्ष और कभी न झुकने वाले स्मट्स तक को यह स्वीकार करना पड़ता कि आपका कथन सही है। दक्षिण अफ्रीका में इस राजनेता ने एक बार उनसे कहा था : "हम लोग राजनीतिक विरोधी हैं तथा हम युद्ध-सज्ज हैं। परंतु मैं आपको यह बता देना चाहता हूं कि मैं खुले दिल से आपके भाषण की प्रशंसा करता हूँ तथा यद्यपि मैं आपसे सहमत नहीं हूँ, फिर भी आपके भाषण ने मेरे लिए यह आवश्यक बना दिया है कि मैं आपको संतुष्ट करने के लिए कोई उपाय सोचूं।"

ऐसा था व्यक्तित्व सर तेज बहादुर सप्रू का। मध्यम मार्ग उनकी राजनीति का मूलाधार था, परंतु वे सख्त कार्रवाई के विरोधी न थे। उनकी एक उल्लेखनीय प्रशंसा में राइट-आनरेबुल वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री ने यह ठीक ही कहा था : "विश्व के प्रवाह में गोल्डन मीन (मध्यमान) भी निरंतर बदलता रहता है।" अतः, सप्रू का मध्यमार्गवाद बिल्कुल स्थायी न था, हालांकि वे कानून तोड़ने के लिए कभी राजी नहीं हो सकते थे। फिर भी मध्यमार्गियों का सिरमौर सप्रू भी साम्राज्यवादियों की दृष्टि में एक संदिग्ध व्यक्ति था। 1927 में जब वे व्हाइटहाल से यह अनुरोध करने के लिए इंग्लैंड गये कि भारत संबंधी वैधानिक कमीशन के लिए योग्य और विवेकशील लोगों को चुना जाए तो भारत मंत्री लार्ड बर्किनहैड ने इस प्रश्न पर उनके साथ बात करने से इंकार करने की धृष्टता की। जब लार्ड रीडिंग ने सप्रू और चर्चिल को आपसी बातचीत के लिए मिलाने

की कोशिश की तो चर्चिल ने इस महान भारतीय से मिलने से इंकार कर दिया। उसने कहा "मैं उस आदमी, सप्रू से मिलना नहीं चाहता। वह क्रांतिकारी है।" ऐसे अवसरों पर सप्रू अति क्षुब्ध हो जाते थे। जब चर्चिल के पुत्र रेन्डोल्फ ने सप्रू से मिलने की इच्छा प्रकट की तो उन्होंने दृढ़ता से उत्तर दिया कि मैं चर्चिल नामधारी किसी व्यक्ति से मिलना नहीं चाहता।"[8]

जयकर को अपनी मातृभूमि की सेवा के लिए इतने उत्कृष्ट गुणों वाले व्यक्ति के साथ मिलकर काम करने का अवसर मिला। सप्रू स्मृतिग्रंथ में प्रकाशित अपने लेख में जयकर ने यह बताया है कि वे उनके निकट संपर्क में कैसे आये। उन्होंने लिखा है "सर तेजबहादुर सप्रू से मेरा संपर्क, जो हाल के समय में अति घनिष्ठ हो गया, एक मामूली सी बात से शुरू हुआ। यह मामूली बात थी स्व० पंडित मोतीलाल नेहरू का जुलाई 1930 का यह सुझाव, कि कांग्रेस और लार्ड इर्विन के मध्य समझौता कराने के लिए बातचीत करने में सर तेज को मेरी सहायता करनी चाहिए।"

इन दोनों व्यक्तियों में, जिन्होंने अनेक वर्षों तक अभिन्न मित्रों की भांति राजनीति के क्षेत्र में कार्य किया, बहुत कम समानता थी। जैसा कि जयकर ने बताया है, उनके धार्मिक और सांस्कृतिक विषयों संबंधी दृष्टिकोणों में मौलिक अंतर था। राजनीति में भी वे प्रत्येक प्रश्न पर एकमत न होते थे। फिर भी राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में उनके विचार एक-से-थे तथा उनमें पूर्ण सहयोग एवं सौहार्द्र था। दोनों इस बात में एकमत थे कि गांधीजी का सविनय अवज्ञा आंदोलन देश के हित में नहीं था। अपने साथी की प्रशंसा में, जो अवस्था में उनसे दो वर्ष छोटे थे, जयकर ने लिखा—"मध्यस्थता के दो स्मरणीय अवसरों पर, जिसमें अंततः सफलता मिली, उनके साथ काम करने के बाद, मैं पूरी सच्चाई के साथ कह सकता हूं कि अपने दृष्टिकोण की विशालता और हृदय की उदारता के कारण ही वे दो विरोधियों को आपस में मिलाने का काम कर सके, यद्यपि दोनों में से किसी के अतिवादी विचारों से वे सहमत नहीं थे।"[9]

मोतीलाल नेहरू के शांति-खोजी विचार, जो जार्ज स्लोकोम्बी द्वारा तैयार किए गए प्रस्तावों के रूप में प्रस्तुत किए गए थे, सप्रू और जयकर द्वारा वाइसराय

8. सप्रू संबंधी लेख का अधिकांश, 1971 में के० एन० रैना और के०वी० गोपाल रत्नम् द्वारा संपादित स्मृति-ग्रंथ "तेज बहादुर सप्रू: 1875–1949" से लिया गया है

9. वही, पृ० 117–18

के साथ जुलाई 1930 में की गई अनेक वार्ताओं के आधार बन गये। कांग्रेस और सरकार के मध्य एक अस्थायी समझौते का आधार ढूंढ़ने के विचार से वे महात्मा गांधी और दोनों नेहरुओं से मिलना चाहते थे और तीनों ही उस समय जेल में थे। अपने एक पत्र में उन्होंने इर्विन को लिखा कि न तो कांग्रेस के आंदोलन से और न सरकार के दमनात्मक उपायों से ही राष्ट्रीय समस्या का कोई समाधान होगा। उन्होंने आशा प्रकट की कि देश में सामान्य स्थिति लाने से ही "संवैधानिक समस्या के सर्वसम्मत समाधान" का भविष्य उज्ज्वल होगा। उनके विचार से वाइसराय के 9 जुलाई के भाषण का सारांश भी यही था।

लार्ड इर्विन का उत्तर महत्वपूर्ण था। उसे सप्रू और जयकर के जेल में बंद कांग्रेस नेताओं से मिलने में कोई आपत्ति नहीं थी, परंतु संवैधानिक प्रश्न पर कोई वचन देने को तैयार न था। उसके पत्र का संगत अंश नीचे दिया जा रहा है क्योंकि दोनों नेताओं के समझौता-प्रयासों की सफलता उसी की व्याख्या पर निर्भर थी। वाइसराय ने लिखा "प्रत्यक्षत: मेरे लिए यह संभव नहीं है कि मैं उन प्रस्तावों का जो वैधानिक कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करने के बाद भारत सरकार द्वारा अथवा गोलमेज सम्मेलन द्वारा तैयार किए जाएंगे तथा उससे भी कम संभव संसद के निर्णय का अनुमान लगा सकता हूँ परंतु अपने भाषण में मैंने यह स्पष्ट कर दिया था कि यह मेरी उत्कट इच्छा है और मेरी सरकार की भी यही इच्छा है तथा नि:संदेह सम्राट की सरकार की भी यही इच्छा है, कि हम अपने-अपने क्षेत्रों, भारत की जनता के अपने मामलों के प्रबंध का उतना अधिकार निकालने में यथाशक्ति सहायता करेंगे जो उन मामलों के लिए उपबंधों के निर्माण से संगत होगी, जिनका उत्तरदायित्व ग्रहण करने की स्थिति में अभी वे नहीं हैं। वे कौन से मामले हो सकते हैं तथा उनके लिए क्या उपबंध बताये जा सकते हैं, इस बात पर तो सम्मेलन ध्यान देगा। परंतु मैंने यह कभी नहीं सोचा कि दोनों पक्षों में पारस्पारिक सद्भाव और विश्वास से समझौता नहीं हो सकेगा।"

झूठ के इस पुलिंदे को साथ लेकर दोनों समझौता-वार्ताकार पूना यरवदा की सेंट्रल जेल में महात्मा गांधी से मिले तथा 23 और 24 जुलाई को दो दिन उनसे बातचीत की। गांधीजी ने उन्हें एक "नोट" दिया जिसमें उनके विचार लिखे हुए थे तथा एक पत्र भी दिया जो मोतीलाल नेहरू के नाम था। उन्होंने अपने नोट में कहा कि यदि अंतरिम अवधि में संरक्षणों का प्रश्न

12—262 M. of I & B/ND/82

गोलमेज सम्मेलन में उठाया गया तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी, बशर्ते कि पूर्ण स्वराज्य के प्रश्न के बारे में कोई संदेह न रखा जाए। सदस्यों को यह भी छूट होनी चाहिए कि यदि वे चाहें तो स्वतंत्रता का प्रश्न उठा सकते हैं। महात्मा जी ने लिखा—"सम्मेलन में कांग्रेस के शामिल होने के विचार का समर्थन करने से पहले मैं उसके संपूर्ण गठन के बारे में संतुष्ट होना चाहूंगा।"

यदि कांग्रेस प्रस्तावित सम्मेलन की रूप-रचना के बारे में संतुष्ट हो जाए तो वह सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस ले लेगी। परंतु यदि सरकार ने शराब और विदेशी वस्त्र की बिक्री रोकने के लिए स्वयं कोई कार्रवाई न की, तो कांग्रेस उसके विरुद्ध अपना आंदोलन जारी रखेगी। इसी प्रकार, जनता के नमक बनाने के अधिकार पर जोर दिया जाता रहेगा। सविनय अवज्ञा आंदोलन की वापसी के साथ ही सभी राजनीतिक बंदी, जो हिंसा के अपराधी नहीं हैं, छोड़ दिए जायेंगे तथा नमक कानून के अधीन जब्त की गई सभी प्रकार की संपत्ति उसके स्वामियों को वापस कर दी जाएगी। सत्याग्रहियों और प्रेस से वसूल किए गए जुर्माने और जमानत उन्हें वापस कर दी जायेगी। ग्राम अधिकारियों सहित सभी अधिकारियों को, जिन्होंने आंदोलन के दौरान त्यागपत्र दे दिए थे अथवा जो पदमुक्त कर दिए गए थे, अपने-अपने पदों पर बहाल किया जाएगा। सरकार को सब अध्यादेश वापस करने होंगे।

गांधीजी ने बताया कि उनके 'नोट' में जो विचार व्यक्त किए गए हैं वे केवल 'अस्थायी' हैं, क्योंकि बंदी होने के कारण वे उन्हें जोरदार शब्दों में प्रकट नहीं कर सकते थे। वे चाहते थे कि दोनों उदारवादी नेता उसे दोनों नेहरूओं और सरदार वल्लभ भाई पटेल को तथा उन लोगों को दिखाएं जो आंदोलन के प्रभारी थे। फिलहाल, वे उसे वाइसराय या प्रेस को नहीं देना चाहते थे। मोतीलाल को लिखे गए पत्र में महात्माजी ने कहा था कि यदि सम्मानजनक समझौते का समय आ गया है, तो मैं इसमें बाधक नहीं होना चाहता, परंतु मुझे इसमें संदेह है। 'नोट' में जो शर्तें रखी गई थीं, वे "अंतिम सीमा" थीं जहां तक वे जा सकते थे। परंतु उन्होंने यह भी जोड़ दिया था कि "अन्तिम आवाज जवाहरलाल नेहरू की होगी।"

समझौता-वार्ताकार मोतीलाल और जवाहरलाल से उत्तर प्रदेश में नैनी जेल में 27 और 28 जुलाई को मिले। परंतु उन्हें पता चला कि दोनों नेहरू

वाइसराय की शर्तों पर समझौते के पक्ष में नहीं हैं। युवक नेहरू, जिनके विचार अति उग्र थे तथा जिनकी राजनीतिक धारणायें सुदृढ़ थीं, शांति प्रस्तावों के बारे में सबसे अधिक शंकालु थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा कि मेरे पिता इस बात से बहुत दुःखी थे कि उन्होंने स्लोकोंबी द्वारा तैयार किए गए प्रस्तावों को बिना सोचे-समझे ही स्वीकार कर लिया, क्योंकि प्रस्ताव गोल-मोल थे और उनका कुछ भी अर्थ निकाला जा सकता था। उन्होंने यह भी लिखा कि मेरे पिता के लिए, जो अस्वस्थ थे, उदारवादी नेताओं की बातचीत, "बहुत थकाने वाली" सिद्ध हुई। दोनों दिनों में जो विचार-विमर्श हुआ, उस पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा: "राजनीतिक दृष्टिकोणों में इतना अंतर था कि हम एक दायरे में बातचीत करते रहे और बहस करते रहे, परंतु न तो हम एक-दूसरे की भाषा को समझते थे और न विचारों को।"[10]

28 जुलाई के एक ज्ञापन में मोतीलाल और जवाहरलाल ने सरकार और कांग्रेस के मध्य समझौता कराने के प्रयत्नों के लिए दोनों नेताओं को धन्यवाद दिया, परंतु साथ ही उसके लिए परिस्थितियों के अनुकूल होने में संदेह प्रकट किया। उन्होंने लिखा—"जब तक सभी महत्वपूर्ण मामलों पर पहले से सहमति न हो जायेगी, तब तक, हम समझते हैं, गोलमेज सम्मेलन से कुछ भी प्राप्त होने की संभावना नहीं है। हम ऐसी सहमति को बहुत महत्व देते हैं—यह सहमति निश्चयात्मक होनी चाहिए और इसमें गलत समझने या गलत अर्थ निकालने की कोई गुंजाइश नहीं होनी चाहिए।" जवाहरलाल ने महात्मा गांधी को जो पत्र लिखा, उसमें भी ऐसे ही भाव व्यक्त किये। उन्होंने लिखा : "अपने विषय में तो मैं यही कह सकता हूँ कि मुझे युद्ध में आनंद आता है।" अपनी अप्रकाशित आत्मकथा के तीसरे भाग में जयकर ने लिखा कि सप्रू का मत था कि शांति-वार्ता के प्रति दोनों नेहरूओं का रवैया उनके परिवार की विशेषता से प्रेरित था। उन्होंने यह भी लिखा है कि सप्रू इससे क्रुद्ध हुए थे।"[11]

जयकर जुलाई के अंतिम दिन तथा 1 और 2 अगस्त को यरवदा जेल में महात्मा गांधी से मिले। गांधीजी ने उनसे एक नोट लिखाया जिसमें उन्होंने भारत के ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक होने के अधिकार का दावा किया। वे चाहते थे

10. "जवाहरलाल नेहरू : एन आटोबायोग्राफी" अलाईड पब्लिशर्स, 1962, पृ० 227–28

11. 'द स्टोरी आफ माई लाइफ' खण्ड III, अध्याय 21 पृष्ठ 266-67, जयकर सम्भवतः कांग्रेस नेताओं के साथ साक्षात्कार की तिथियों के बारे में अस्पष्ट है

कि वाइसराय शर्त को साफ-साफ समझ लें। उप यह भी समझ लेना चाहिए कि "गोलमेज सम्मेलन में गांधीजी इस बात का भी आग्रह करेंगे कि भारत को यह अधिकार दिया जाए कि वह एक स्वतंत्र न्यायाधिकरण द्वारा अंग्रेजों के समस्त दावों और अतीत में ब्रिटेनवासियों को दी गई रियायतों की जांच कराये।" 8 अगस्त को सप्रू नेहरुओं से मिले तथा उनसे कहा कि आपके महात्मा गांधी से मिलने के लिए यरवदा जाने में वाइसराय को कोई आपत्ति नहीं है। पहले तो उन्होंने अपनी अनिच्छा प्रकट की और कहा कि जब तक कांग्रेस कार्यकारिणी के अन्य सदस्यों को विचार-विमर्श में भाग लेने के लिए नहीं बुलाया जायेगा तब तक हम नहीं जायेंगे। परंतु जब उनसे आग्रह किया गया कि ऐसी शर्त न रखिए तो वे महात्मा जी से मिलने के लिए पूना चलने को राजी हो गए।

14 और 15 अगस्त को पूना की जेल में विचार-विमर्श हुआ। उस समय दोनों उदारवादी नेताओं के अलावा, महात्मा गांधी, दोनों नेहरू, सरदार पटेल, श्रीमती सरोजिनी नायडू, डा० सैयद महमूद और जयरामदास दौलतराम उपस्थित थे। कांग्रेस नेताओं ने शान्ति प्रस्तावों पर अपनी प्रतिक्रियायें एक पत्र में लिख लीं और समझौता-वार्ताकारों को अधिकार दिया कि वे उसे वाइसराय को दिखा दें। पत्र में उल्लेख किया गया कि अधीन राष्ट्र को अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने का अधिकार है तथा इस आरोप को अस्वीकार कर दिया गया कि सविनय अवज्ञा राष्ट्रीय हितों के लिए हानिकारक है। कांग्रेस नेताओं ने कहा कि भारतीय मांग के प्रति नौकरशाही के रवैये में कोई अच्छा परिवर्तन नहीं आया तथा इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि अंग्रेजों के लाभ के लिए देश का लगातार दोहन किया जा रहा है। उन्होंने महात्मा जी द्वारा अपने 23 जुलाई के 'नोट' में रखी गई शर्तों को दुहराया तथा "ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक होने के भारत के अधिकार" पर बल दिया। सप्रू और जयकर इस बात से दुखी हुए कि कांग्रेसी नेता समझौते के लिए सहमत न हो सके तथा 16 अगस्त को उन्होंने अपने भाव उनसे प्रकट किए।

जयकर कांग्रेस नेताओं के पत्र को लेकर 21 अगस्त को वाइसराय से मिले, बाद में विचार-विमर्श के लिए सप्रू भी आ गए। सात दिन बाद, वाइसराय ने सप्रू को लिखा कि कांग्रेस नेताओं ने जो रुख अपनाया है, उसके कारण उनकी पार्टी के साथ समझौते की कोई गुंजाइश नहीं रही। उन्होंने और भी कई रोचक मुद्दे उठाये, जो सन्धिकर्ताओं द्वारा दोनों नेहरुओं और डा० सैयद महमूद

के समक्ष तब रखे गए जब वे 30 और 31 अगस्त को नैनी जेल में उनसे मिले। वाइसराय ने उनसे कहा था कि गोलमेज सम्मेलन में पृथकता के प्रश्न सहित किसी भी विषय पर विचार हो सकता है। परन्तु उसका ख्याल था कि गांधीजी द्वारा ऐसा प्रश्न उठाना बुद्धिमानी का काम नहीं होगा। ब्रिटेन के प्रति भारत की वित्तीय जिम्मेदारी का प्रश्न भी सम्मेलन में उठाया जा सकता है, परन्तु उसकी पूर्ण अस्वीकृति का कोई प्रस्ताव ग्राह्य न होगा।

31 अगस्त को बन्दी नेताओं ने एक पत्र गांधी जी की सूचना के लिए लिखा। उन्होंने विचार व्यक्त किया कि जब तक प्रारंभिक कार्य साफ-साफ निश्चित नहीं किए जायेंगे और पूरे नहीं होंगे, तब तक प्रस्तावित गोलमेज सम्मेलन सफल न होगा। वाइसराय इस मामूली से सुझाव को मानने के लिए तैयार न था। उसने जो वचन दिए थे वे अस्पष्ट और गोलमोल थे तथा वे बिना किसी आत्महानि के अस्वीकार किए जा सकते थे। उसने बन्दियों की रिहाई का जो उल्लेख किया था वह "अत्यन्त सीमित और असन्तोषजनक" था। इसके अलावा, सत्याग्रहियों का उत्पीड़न लगातार जारी था।

स्पष्ट रूप से दोनों विरोधी पक्षों में कोई मतैक्य न था और जिस समय समझौते की कोई गुंजाईश नहीं रह गई थी, उस समय उसके वास्ते प्रयत्न करने के लिए सप्रू और जयकर को असाधारण धैर्य और तत्परता दिखाने की आवश्यकता थी। वे उस पत्र को नैनी जेल से यरवदा जेल ले गए तथा 3 सितम्बर को उसे गांधीजी और उनके साथियों को दिया। उस पर तीन दिन तक विचार-विमर्श हुआ और जैसा कि सन्देह था, वह निष्फल रहा। इस लम्बी वार्ता की समाप्ति पर 5 सितम्बर को गांधीजी, श्रीमती नायडू, सरदार पटेल और जयराम दास दौलतराम ने उनके नाम एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने कांग्रेस के पक्ष को विस्तार से समझाया। उन्होंने कहा, "कांग्रेस किसी भी वैध हित को हानि पहुंचाना नहीं चाहती चाहे वह किसी ने प्राप्त किया हो। कांग्रेस का अंग्रेजों से कोई झगड़ा नहीं है, परन्तु वह असहनीय ब्रिटिश आधिपत्य का विरोध करती है तथा अपनी समस्त नैतिक शक्ति से उसका विरोध करती रहेगी।"[12]

इस बीच, लन्दन में गोलमेज सम्मेलन के लिए तैयारियां की जा रही थीं। जयकर ने, जिन्हें वाइसराय ने सम्मेलन में भाग लेने के लिए आमन्त्रित

12. "द इंडियन एनुअल रजिस्टर", 1930, भाग 2, पृ० 83-96

किया था, 14 सितम्बर, 1930 को इस प्रकार उत्तर दिया—"मैं आशा करता हूं कि लन्दन सम्मेलन के अच्छे परिणाम निकलेंगे। महत्वपूर्ण विषयों में से एक हिन्दू-मुस्लिम समस्या होगी, जिस पर विशेष ध्यानपूर्वक विचार करने की आवश्यकता होगी। इस विषय में मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि इस समस्या के समाधान के बारे में इस कारण आशंका प्रकट की जा रही है कि मुस्लिम आमन्त्रितों की सूची में महाराजा महमूदाबाद और सर अली इमाम जैसे उदार विचार वाले मुसलमानों के नाम नहीं हैं। क्या मैं यह सुझाव दे सकता हूं कि यदि अत्यधिक विलम्ब नहीं हुआ है तो महामहिम इन सज्जनों के नाम भी सूची में शामिल कर लें। महामहिम की सूची में जो 14 मुसलमान हैं वे न्यूनाधिक मुखर साम्प्रदायिक विचारधारा के माने जाते हैं और यह महसूस किया जा रहा है कि यदि दूसरी विचारधारा के भी दो-एक मुस्लिम नेताओं को, जैसे कि उनको जिनका मैंने ऊपर उल्लेख किया है, सम्मेलन में शामिल होने तथा इस महत्वपूर्ण समस्या के समाधान में सहायता करने के लिए मना लिया जाए तो सन्तोषजनक समझौते की संभावना काफी बढ़ जायेगी।" प्रधान सेनापति ने भी लन्दन सम्मेलन के विषय में जयकर को लिखा।[13]

प्रथम गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के बाद, जयकर 6 फरवरी, 1931 को बम्बई लौट आये। अथक वार्ताकार जयकर ने राजनीतिक गतिरोध को दूर करने के लिए अपने सहयोगी की सहायता से पुनः वार्ता शुरू कर दी। 16 फरवरी को वे सप्रू और श्रीनिवास शास्त्री के साथ लार्ड इर्विन से मिले। वाइसराय ने उनसे कहा कि "यदि महात्मा गांधी सविनय अवज्ञा आन्दोलन वापस ले लें, तो मैं आपके सन्धि के प्रस्ताव को मान लूंगा तथा ब्रिटिश सरकार से कहूंगा कि यदि कांग्रेस शामिल हो जाये तो उसे संवैधानिक समस्या पर विचार करने के लिए अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी जाए। परन्तु यह आवश्यक है कि गांधीजी को विवेकशीलता दिखानी चाहिए।"[14] तब तक महात्मा जी कारामुक्त हो चुके थे।

वाइसराय के सन्देश को लेकर जयकर 17 फरवरी को डा० अंसारी के दिल्ली-निवास पर महात्मा गांधी से मिले। इससे उसी दिन महात्माजी और

---

13. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 3, (अप्रकाशित), पृ० 305

14. वही, अध्याय 23, पृ० 4

वाइसराय की भेंट के लिए मौका हाथ लग गया। वे दोनों चार घंटे तक बात करते रहे। गांधी-इर्विनवार्ता से चर्चिल का पारा गर्म हो गया और उसके क्रोध का ज्वालामुखी फट गया, क्रोधोन्माद के लिए वह प्रसिद्ध ही था। इस महात्मा का जो कभी इनर टेम्पिल का वकील था और अब राजद्रोही फकीर है, सम्राट के प्रतिनिधि के साथ बराबरी के स्तर पर बातचीत करने और समझौता करने के लिए, अर्ध-नग्न अवस्था में वाइसराय के महल की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए देखना उसे "क्षोभजनक तथा अपमानजनक" प्रतीत हुआ।

वार्ता जारी रही। जयकर और सप्रू 18 फरवरी को गांधीजी से मिले और समझौते के लिए सहमत होने के लिए उन्हें मनाने में उन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगा दी। जयकर ने लिखा है कि इन वार्ताओं में अंसारी अपने स्वतन्त्र और प्रभावशाली ढंग से अधिक सहायक हुए।"[15] गांधीजी और इर्विन के साथ उनकी और भी बैठकें हुईं जिनके फलस्वरूप 5 मार्च, 1931 का प्रसिद्ध समझौता हुआ। इस समझौते का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में गांधीजी के शामिल होने के लिए रास्ता साफ हो गया।

भारत में इर्विन का कार्यकाल समाप्त हो गया। अप्रैल में वाइसराय का पद छोड़ कर वह अपने देश को वापस चला गया। उसकी जगह लार्ड विलिंगडन आया, जो पहले भी भारत में रह चुका था। वह अपने पूर्ववर्ती से भी अधिक प्रतिक्रियावादी था। इर्विन यद्यपि साम्राज्यवादी था, फिर भी वह कम से कम मृदुभाषी तो था और इसलिए इस देश में पूर्णतया अलोकप्रिय न था। विलिंगडन भी एक आकर्षक व्यक्ति था। जब भी वह चाहता, विनम्र बन जाता था और उसकी पत्नी योग्यता के साथ उसकी सहायता करती थी। वह "शृंखला की सर्वश्रेष्ठ वाइसरानी" कही गई है। परंतु भारतीय राजनीतिज्ञों से वह चिढ़ता था। वह और गांधीजी एक दूसरे से बिलकुल उल्टे थे। सर सेमुअल होर ने लिखा है : "वह और गांधीजी एक दूसरे से इतने अधिक भिन्न थे कि यदि वे एक-दूसरे को समझ लेते तो चमत्कार ही माना जाता। एक ओर तो अपने सुंदर कट वालें भूरे सूट और जिगारी टाई में, ईटन, केंब्रिज और वेस्टमिन्स्टर

---

15. वही, पृ० 8

की सबसे अधिक आकर्षक उपज, पश्चिमी जगत का यह सुसंस्कृत व्यक्ति था और दूसरी ओर था—खद्दर और चर्खेवाला पोपला फकीर।"[16]

विलिंगडन ने अनेक भारतीय राजनीतिज्ञों को, जिनमें जिन्ना और जयकर जैसे उदार विचारों के व्यक्ति भी थे, अपना शत्रु बना लिया। 20 जून; 1932 को जयकर को वाइसराय का एक अत्यंत अपमानजनक पत्र मिला, जिसे उन्होंने अपनी आत्मकथा के अप्रकाशित तीसरे भाग में उद्धृत किया है। इस पत्र पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि विलिंगडन ने अपना संतुलन बिल्कुल खो दिया था। उच्चपदस्थ अधिकारी होने के कारण उससे यह अपेक्षा की गई थी कि सार्वजनिक व्यक्तियों के साथ व्यवहार करते हुए वह अपना संतुलन बनाये रखेगा। जयकर ने यह भी कहा, "मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि अपने पूर्वाधिकारी के पद पर होते हुए भी वाइसराय में सप्रू और मुझ जैसे सार्वजनिक व्यक्ति के प्रति आदर और सम्मान की भावना का अभाव था।"

विलिंगडन ने जयकर पर यह दोष लगाया कि उन्होंने उस वार्तालाप का सार प्रकट कर दिया है जो उसने तथा सप्रू ने उनके साथ संवैधानिक सुधारों के बारे में किया था। उसने कहा कि इस वार्ता का समाचार बंबई के एक पत्र में जयकर द्वारा रहस्य उद्घाटित करने से ही छपा है। जयकर ने बड़ी शालीनता और निर्भीकता से इस आरोप का विरोध करते हुए 28 जून को इस का उत्तर दिया।[17] बेचारे डा० जयकर का भी पुलिस पीछा करने लगी। संदिग्ध की भांति उनके साथ व्यवहार करने के लिए 19 जुलाई को उन्होंने बंबई के पुलिस आयुक्त पैट्रिक कैली से जोरदार विरोध प्रकट किया। पराधीन भारत में प्रत्येक भारतीय जो अपने देश की स्वाधीनता के लिए प्रयत्न करता था, संदिग्ध व्यक्ति या शत्रु माना जाता था। सप्रू और जयकर को ऐसे व्यवहार से न तो उनकी प्रतिष्ठा बचा सकी और न उदारता।

16. वाइकाउंट टेंपिलवुड लिखित "नाइन ट्रबल्ड ईयर्स" (द राइट-आनरेबुल सर सेमुअल होर), कौलिन्स, 1954, पृ० 67

17. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 3, (अप्रकाशित), पृ० 314

अध्याय 12

गोलमेज सम्मेलन

बहु-प्रचारित गोलमेज सम्मेलन के प्रथम सत्र का उद्‌घाटन लन्दन में 12 नवम्बर, 1930 को इंग्लैंड के राजा ने किया। जयकर ने 4 अक्तूबर को सर तेज बहादुर सप्रू के साथ इंग्लैंड के लिए प्रस्थान किया। वे 25 वर्ष बाद वहां जा रहे थे। सम्मेलन में 89 प्रतिनिधियों ने भाग लिया जिनमें से 57 ब्रिटिश भारत के थे। देशी राज्यों के 16 प्रतिनिधि थे और शेष प्रतिनिधि ब्रिटिश सरकार तथा संसद के दोनों सदनों के विपक्ष के थे। पैनी दृष्टिवाला कोई भी व्यक्ति यह देख सकता था कि कांग्रेस की अनुपस्थिति के कारण सम्मेलन का रूप प्रतिनिधिमूलक नहीं था। ''हैमलिट'' नाटक प्रिंस आफ डेनमार्क के बिना ही खेला जा रहा था।

जवाहरलाल नेहरू ने लन्दन सम्मेलन को एक नाटक बताया और कहा कि इससे कोई निश्चित परिणाम नहीं निकलेगा। उन्होंने लिखा : ''यह ठीक ही है कि साम्राज्यवादी, सामन्ती, वित्तीय, औद्योगिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक निहित-स्वार्थियों की इस सभा में ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि मंडल का नेतृत्व स्वभावतः आगा खां को दिया जाता, जो इन सभी स्वार्थों को किसी न किसी अंश में अपने क्रोड में समाहित किए हुए हैं।'' और जैसा कि नेहरू ने लिखा है, ''सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात यह थी कि यह मान लिया गया था कि वे भारत का प्रतिनिधित्व करते हैं।'' नेहरू ने सम्मेलन के प्रतिनिधियों का जो वर्णन किया, वह निःसन्देह सही था, परन्तु किंचित अतिरंजित था। भारतीय प्रतिनिधियों में अनेक ऐसे थे, जो अपनी देशभक्ति के लिए भी उतने ही प्रसिद्ध थे जितने अपनी विद्वत्ता के लिए।

सप्रू ने, जो आरम्भिक वक्ताओं में थे, 17 नवम्बर को सम्मेलन को संबोधित करते हुए भारत का पक्ष बड़ी विशदता, संयम और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया। उन्होंने वाइसराय की 31 अक्तूबर, 1929 की घोषणा का उल्लेख किया और कहा कि इसमें जो वायदे किये गये हैं उनसे मुकरा नहीं जा सकता। भारतीय विधान मंडल में इर्विन के भाषण से भी ब्रिटिश सरकार भारतीय जनता को

उसके राष्ट्रीय मामलों के प्रबन्ध में बहुत बड़ा भाग देने के लिए बाध्य थी। उन्होंने शासकों से कहा कि वे भारत के सम्बन्ध में अपनी भ्रान्त धारणा को छोड़ दें। देश में भारी परिवर्तन हो रहे हैं और वह अब वैसा नहीं है, जैसा दस वर्ष पहले था। सप्रू ने कहा : "जुलाई, अगस्त और सितम्बर के महीनों में जयकर और मैं देश के एक कोने से दूसरे कोने तक लगातार घूमे और हमने अपनी आंखों से ऐसे दृश्य देखे तथा अपने कानों से ऐसी बातें सुनीं जिनकी हम कभी कल्पना भी नहीं कर सकते थे।"

नरेन्द्र मंडल के अध्यक्ष महाराजा बीकानेर ने भी संघीय (फेडरल) शासन पद्धति के पक्ष में जोरदार भाषण दिया। उन्होंने कहा, "एकात्मक (यूनिटरी) राज्य की स्थापना जिसमें सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न संसद दिल्ली में बैठकर हुक्म चलाये और सारी प्रजा छोटी-बड़ी सभी चीजों के लिए उसका मुंह ताकती रहे, मेरे विचार से, असम्भव है।" साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि सरकार ने देशी राजाओं के साथ जो सन्धियां की हुई हैं, वे तोड़ी नहीं जा सकतीं तथा इंग्लैंड के ताज (राजा) के साथ उनके जो सम्बन्ध हैं, वे उनकी स्पष्ट स्वीकृति के बिना न तो परिवर्तित किए जा सकते हैं और न किसी दूसरे प्राधिकरण को हस्तान्तरित किये जा सकते हैं।[1] भाषण जोशीला भी और वाक्छलपूर्ण भी था।

उस दिन के एक और महत्वपूर्ण वक्ता जयकर थे। उन्होंने भारत के राजनीतिक सुधारों के प्रश्न पर व्हाइटहाल की टालमटोल की नीति के बारे में गोखले की शिकायत का उल्लेख किया और कहा कि गोखले का कहना था कि भारत सरकार के द्वार पर मोटे अक्षरों में ये शब्द लिखे हैं "अति विलम्ब से"। जयकर नहीं चाहते थे कि सम्मेलन की कार्यवाही निष्फल हो जाए। उससे निश्चित परिणाम निकलने चाहिए और वह भी शीघ्र। उन्होंने कहा : "जैसा कि वकील लोग कहते हैं, संविदा में समय का विशेष मूल्य होता है।" उन्होंने कहा कि हमें एक ओर तो संवैधानिक सरकार और दूसरी ओर विप्लव एवं अव्यवस्था—इन दोनों में से एक को चुनना है। वाइसराय की 31 अक्तूबर, 1929 की घोषणा का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि उस समय तो इसने बड़ा उत्साह पैदा किया था, परन्तु "दुर्भाग्य से वह उत्साह धीरे-धीरे ठंडा पड़ता गया।" अनेक लोगों ने उनसे पूछा कि सम्मेलन से कौनसा प्रयोजन सिद्ध होगा। जयकर ने कहा, "मैं अत्यन्त

1. "इंडियन राउंड टेबिल कांफ्रेंस" (12 नवंबर, 1930 से 19 जनवरी 1931 तक), भारत सरकार, कलकत्ता, पृ० 38

विनम्रता से यह कहता हूं कि सम्मेलन का उद्देश्य ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में भारत के प्रवेश को सम्भव बनाना है। यदि आज यह हो जाता है, तो स्वतन्त्रता की आवाज तुरन्त बन्द हो जाएगी।''

इसके पश्चात् जयकर ने भारत की औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति के मार्ग में आनेवाली ''बाधाओं'' पर प्रकाश डाला और उन्हें निराधार सिद्ध किया। उन्होंने इस सुझाव को पूर्णतया अमान्य कर दिया कि यदि भारतवासियों को अकेला छोड़ दिया गया तो वे अपनी राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा न कर सकेंगे। उन्होंने अपनी जनता की जुझारू परम्पराओं का उल्लेख किया और कहा कि भारतीयों में युद्ध करने की पर्याप्त योग्यता है। उन्होंने कहा कि देश में ''बहुत अच्छी'' युद्ध योग्य सामग्री है और भारतीयों की देशभक्ति को प्रोत्साहन देकर उसका पूर्ण सदुपयोग होना चाहिए।

अल्पसंख्यकों की समस्या पर विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि यह समस्या जनता में वास्तविक हित-साम्य पैदा करके हल की जा सकती है। उन्होंने दावा किया कि यदि हिन्दुओं, मुस्लिमों, दलित वर्गों, ब्राह्मणों और अब्राह्मणों को अपने देश के शासन की जिम्मेदारी में भाग लेने का अवसर दे दिया जाए तो वे सब मिलकर काम कर सकते हैं। उन्होंने कहा : ''यदि उन्हें यह महसूस करने का अवसर दे दिया जाए कि वे सब मिलकर अपने ही देश के लिए काम कर रहे हैं तो अनेक कठिनाइयां दूर हो जाएंगी।'' ''औपनिवेशिक स्वराज्य के रूप में देश को पूरी स्वतन्त्रता देकर'' लोगों में एकता की भावना पैदा की जा सकती है।

देशी राज्यों की चर्चा करते हुए उन्होंने सर तेज बहादुर सप्रू के इस कथन का उल्लेख किया कि उनके शासक सबसे पहले भारतीय हैं। जयकर ने विश्वास व्यक्त किया कि सम्मेलन की कार्यवाही से यह प्रकट हो जाएगा कि देशी राजा उतने ही देशभक्त हैं, जितने उनके देश के अन्य आदमी। उन्होंने उन्हें विश्वास दिलाया कि संघ में मिल जाने से उनके हितों को कोई हानि नहीं पहुंचेगी। उन्होंने कहा : ''देशी राज्यों के अन्दरूनी मामलों में दखल देने की हमारी कोई इच्छा नहीं है। जब तक वे स्वयं हमारे मार्ग पर नहीं आयेंगे तब तक हम प्रतीक्षा करने के लिए पूरी तरह से तैयार हैं।''

जयकर भारत में ब्रिटिश हितों की रक्षा के लिए भी उत्सुक थे। भारत देश में ब्रिटिश वाणिज्य एवं उद्योग को समुचित सुरक्षा प्रदान करने के लिए भी तैयार हो जाएगा। परन्तु उन्होंने यह स्पष्ट कहा कि ऐसी रियायतें भारत के आर्थिक

विकास को हानि पहुंचा कर नहीं दी जाएंगी । भारत को स्वतन्त्रता देने में ब्रिटेन को किसी बात से नहीं डरना चाहिए । अन्त में उन्होंने कहा : "भौतिक स्वार्थों की दृष्टि से भी आपको भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दे देना चाहिए ताकि आपका व्यापार बढ़ सके ।" जयकर का भाषण अकाट्य तर्क संवलित भाषण था जो अपनी स्पष्टता और तर्कपूर्णता के लिए विशेष उल्लेखनीय था। उस पर टिप्पणी करते हुए प्रोफेसर रेजिनाल्ड कूपलैंड ने कहा है : "अन्य भाषणों से जयकर के भाषण को अलग छांटा जा सकता है, क्योंकि सम्मेलन में भारतीय उदारवादियों के समूह में वे ही अनुपस्थित कांग्रेस के अधिक समीप थे और उसके विचार को भली-भांति व्यक्त कर सकते थे ।"[2]

परन्तु ब्रिटिश प्रतिक्रियावादी भारतीयों को कुछ नहीं देना चाहते थे । सम्मेलन आयोजित होने से पहले ही चर्चिल ने यह घोषित कर दिया था कि देर-सवेर आपको, गांधी को तथा भारतीय कांग्रेस को और उन सबको जिसका ये समर्थन करते हैं, कुचल देना होगा । दिसम्बर में, जब लन्दन में, सम्मेलन चल रहा था तो उसने कहा : "भारतीय जीवन और प्रगति पर नियंत्रण ढीला करने का ब्रिटिश राष्ट्र का कोई इरादा नहीं है। . . . . राजा के मुकुट के उस सर्वाधिक प्रकाशमान और अमूल्य रत्न को फेंक देने का हमारा कोई इरादा नहीं है, जो ब्रिटिश साम्राज्य को हमारे समस्त उपनिवेशों और अधीन राज्यों में सबसे अधिक गौरव और शक्ति प्रदान कर रहा है ।"

मजदूर प्रधान मंत्री रेमजे मेक्डोनाल्ड, जिसकी सरकार इर्विन की अक्तूबर 1929 की घोषणा तथा लन्दन सम्मेलन के लिए जिम्मेदार थी, कोई वचन देने को तैयार न था। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की व्यक्तिगत अभिरुचियां भले ही कुछ भी हों, भारत निश्चय ही इतना बड़ा उपहार था कि छोड़ा नहीं जा सकता था। इसके अलावा, मजदूर सरकार प्रगतिशील भारतीय नीति का अवलम्बन करके टोरियों से विरोध मोल लेना नहीं चाहती थी । एच०एम० ब्रेलसफोर्ड ने लिखा है : "यदि तब मेक्डोनाल्ड सार्वजनिक रूप से यह वायदा कर लेता, जि.जे गांधीजी चाहते थे, तो यह सम्भव था कि दोनों विपक्षी दल उसे निरस्त कर देते और उसकी सरकार को गिरा देते ।[3] सम्मेलन की कार्यवाही को विफल करने के लिए भारत के साम्प्र-

2. आर० कूपलैन्ड द्वारा लिखित "दी कांस्टिट्यूशनल प्राबलम इन इंडिया।" भाग 1, आक्सफोर्ड 1944, पृ० 115

3. एच० एन० ब्रेलसफोर्ड लिखित "रेबिल इंडिया", न्यू रिपब्लिक, 1931, पृ० 148

दायिक कट्टरपंथियों ने, जिनके द्वारा सम्मेलन के दूसरे सत्र में किए गए षड्यन्त्रों का वर्णन आगे किया जाएगा, ब्रिटिश प्रतिक्रियावादियों का बड़ी योग्यता से समर्थन किया।

वार्ता का पहला दौर, जो 19 जनवरी, 1931 को समाप्त हुआ, इसलिए उल्लेखनीय था कि इसमें संविधान-निर्माण के सिद्धान्त निश्चित करने में काफी प्रगति हो गई। इस पर सहमति हो गई कि भारत की सरकार का भावी स्वरूप संघीय (फेडरल) होना चाहिए जिसमें विधानमंडल दो-सदनीय हो। दोनों सदनों में देशी राज्यों को दी जानेवाली सीटों के अनुपात के विषय में कोई सहमति नहीं हो सकी। विधान मंडल के लिए निर्वाचन की विधि पर भी मतैक्य न हो सका। केन्द्र में निन्दित द्वैध-शासन पद्धति लाने का प्रस्ताव किया गया जिसमें गवर्नर-जनरल की निरंकुशता अक्षुण्ण रखी गई। यह निश्चित किया गया कि गवर्नर-जनरल की सहायता के लिए एक मन्त्रि-परिषद होगी जिसकी सलाह मानने के लिए वह बाध्य न होगा।

गवर्नर-जनरल को एक सलाहकार मंडल दिया जाएगा, जो "सुरक्षित" विषयों के प्रशासन में उसकी मदद करेगा। सुरक्षित विषयों में प्रतिरक्षा और वैदेशिक संबंध शामिल होंगे। सलाहकार गवर्नर-जनरल के प्रति उत्तरदाई होंगे, विधानमंडल के प्रति नहीं। इसके अलावा, तथाकथित संक्रमण काल में गवर्नर-जनरल "अपनी ही जिम्मेदारी से काम करेगा।" वस्तुतः इसका यह अर्थ था कि यदि वह चाहे तो विधानमंडल और मन्त्रि-परिषद दोनों को उठा कर ताक पर रख दे। "सुरक्षित" विषयों के प्रशासन के लिए आवश्यक वित्त को राजस्व पर अमतदेय प्रथम प्रभार बनाया जाएगा। गवर्नर-जनरल को इस धन के इस्तेमाल का अधिकार दिया जाएगा तथा उसे देश की वित्तीय स्थिरता और देश एवं विदेश में उसकी साख के लिए जिम्मेदार भी बनाया जाएगा।

निश्चय हुआ कि प्रान्तों में द्वैध-शासन समाप्त कर दिया जाएगा परन्तु इससे लोक-निर्वाचित मन्त्रि-परिषद को कोई लाभ न होगा। वह गवर्नर की दया पर ही रहेगी। गवर्नर को गवर्नर-जनरल के समान ही अधिकार दे दिए गए। गवर्नर को यह सुनिश्चित करना था कि मन्त्रिमंडल में अल्प संख्यकों के हितों का भी प्रतिनिधित्व हो। प्रान्तों को यह छूट दे दी गई कि वे अपनी इच्छानुसार विधानमंडल को एक सदनीय अथवा दो-सदनीय रख सकते हैं। वयस्क मताधिकार का लक्ष्य निर्धारित किया गया परन्तु यह शर्त रखी गई कि इसे धीरे-धीरे प्राप्त किया जाएगा।

प्रतिरक्षा-उपसमिति ने यह मान लिया कि भारत की प्रतिरक्षा केवल ब्रिटिश सरकार की ही नहीं, भारतीय जनता की भी अधिकाधिक चिन्ता का विषय होना चाहिए। इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के लिए यह सुझाव दिया गया कि सेना के भारतीयकरण की गति काफी तेज की जाए। इस प्रक्रिया को पूरा करने के लिए एक समय-सीमा निर्धारित करने के बारे में जो सुझाव दिए गए, वे लार्ड बर्किनहैड के प्रख्यापित सिद्धान्त के आधार पर रद्द कर दिए गए। उसका कहना था कि भारतीय स्वाधीनता के प्रश्न पर किसी को कभी भी तारीखों का दास नहीं होना चाहिए। जिसका अर्थ था कि विदेशी शासन से भारत की मुक्ति प्रलय-पर्यन्त स्थगित रखी जा सकती है। असैनिक सेवाओं के राष्ट्रीयकरण के संबंध में भी ऐसी ही रणनीति की सिफारिश की गई। भारतीय प्रतिनिधियों को औपनिवेशिक संविधान के ब्यौरे पर विचार करने की इजाजत नहीं दी गई; इसके बजाय, उनसे स्वेच्छा से अथवा अनिच्छा से यह कहलवा लिया गया कि उनके देश के शासन में यथास्थिति बनी रहनी चाहिए। केवल कतिपय महत्वहीन परिवर्तन वर्तमान व्यवस्था में स्वीकार किए गए।

सम्मेलन के द्वितीय और तृतीय सत्र की कार्यवाहियों का प्रतिरूप भी हू-ब-हू यही रहा। दूसरे सत्र में, जो 7 सितम्बर, 1931 से 1 दिसम्बर, 1931 तक चला, महात्मा गांधी की उपस्थिति ने, भारतीय और ब्रिटिश दकियानूसों की वार्ता को निष्फल बनाने तथा उनके मिशन को बदनाम करने के निर्णय को और भी अधिक दृढ़ कर दिया। साम्राज्यवाद और सम्प्रदायवाद की ताकतों ने मिलकर, विचारसरणी को भारत के लिए पूर्ण उत्तरदायी शासन के मुख्य लक्ष्य से हटा कर उन समस्याओं की ओर मोड़ दिया, जिनका कोई युक्ति संगत हल नहीं निकल सकता था। भारत और इंग्लैंड के अनेक प्रतिनिधियों ने यह भूमिका अदा की; परन्तु इन सब में प्रमुख थे—हिज हाइनेस आगा खां और सर सेमुअल होर। होर एक टोरी राजनीतिज्ञ था, जिसने 1931 के आम चुनाव के बाद वैजवुड़ बेन से भारतीय विभाग का कार्यभार संभाला था।

गांधीजी कांग्रेस से अपने देश के लिए पूर्ण स्वराज्य की मांग का प्रादेश लेकर इंग्लैंड गए थे परन्तु उन पर ऐसा कोई बन्धन नहीं था कि इससे कम कुछ स्वीकार न करें। सर सेमुअल होर तक ने उनके आर्जवभाव की सराहना की। उसने कहा: "मुझे विश्वास है कि यदि मैं उनसे (गांधीजी से) यह कहता कि आप बिना किसी संरक्षण के तुरन्त औपनिवेशिक स्वराज्य लीजिए, तो वे हमारे एक

सबसे अच्छे मित्र ही न बन जाते बल्कि बदले में भारत शासन विधेयक में हमें तुरन्त समस्त संरक्षण दे डालते और यदि कोई चाहता तो और भी अधिक दे सकते थे। होर को विश्वास था कि "हम जिस संविधान को लिखने की कोशिश कर रहे हैं, उसकी एक मास्टर-की (ताली) महात्मा जी के पास है।" वह समझता था कि गांधीजी की पैनी दृष्टि "तुरन्त उस आवरण के आर-पार देख लेती है जो किसी वस्तु को उनसे छिपाने के लिए डाला जाता है।" यह बात भी बहुत महत्वपूर्ण है कि महात्मा जी "निश्चय ही क्रूर षड़यन्त्रकारी नहीं हैं, जैसाकि मेरे कई मित्र समझते हैं।"[4] हेराल्ड लास्की ने, जिसने सम्मेलन के कार्य में प्रधान मंत्री की सहायता की, गांधीजी के बारे में लिखा है : "गांधीजी के कारण भारतीय अपने को गौरवान्वित समझते हैं ; वे उनमें अपनी ही आत्माभिव्यक्ति की भावना को साकार हुआ मानते हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि लास्की गांधीजी का नाम सदा गलत लिखा करता था।"

इस महापुरुष को साम्प्रदायिक विवाद में फंसाने तथा इस मिथ्या आधार पर कि वे अल्पसंख्यकों की मांग मानने को तैयार नहीं हैं, उन्हें बदनाम करने के लिए बहुत सोच-समझ कर एक षड़यन्त्र रचा गया। प्रोफेसर लास्की ने सम्मेलन के विफल हो जाने का सारा दोष आगा खां के नेतृत्व वाले मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल पर डाल दिया। उसने विदेश मंत्री को भी समस्या के हल में बाधा डालने का दोषी ठहराया। उसने अमरीका के जस्टिस होम्स को लिखा : "यदि मुझे स्वविवेक से काम करने की छूट दे दी जाती तो, मैं समझता हूं, निबटारा अपेक्षाकृत आसानी से हो जाता।" परन्तु "पातकी टोरी विदेश मन्त्री" होर और उसके समर्थकों ने ऐसा कोई भी समझौता असम्भव बना दिया।

लास्की लन्दन सम्मेलन की कार्यवाही का विश्वसनीय और निष्पक्ष प्रेक्षक था ; इसलिए सम्मेलन में मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल की भूमिका का उसका वर्णन महत्वपूर्ण है। 27 सितम्बर, 1931 के अपने पत्र में उसने जस्टिस होम्स को लिखा कि मुसलमान अल्लाह के नाम पर खुशी-खुशी आपका गला काट देंगे। 30 अक्तूबर के एक दूसरे पत्र में उसने इस रहस्य का उद्घाटन किया कि जब मुझसे "मुसलमानों को समझाने के लिए" कहा गया तो मैंने यहां उनके "नेता से बात-चीत का आधार ढूंढने की घंटों कोशिश की।" परन्तु ऐसा मालूम पड़ता था

---

4. वाइकाउंट टेंपिलवुड (द राइट, आनरेबुल सर सेमुअल होर), द्वारा लिखित "नाइन ट्रबल्ड इयर्स", कोलिंस 1954, पृ० 29,62,63

"मानो मैं किसी दीवार से बात कर रहा हूं। उसका मजहब ही अन्तिम सत्य था और वह कभी धर्मनिरपेक्ष संस्थाओं के धरातल पर आने को अर्थात समाज में धर्मनिरपेक्षता लाने के लिए उत्सुक तक न था। ऐसा मालूम पड़ता था मानों हम धर्म-सुधार (रिफार्मेशन) युग में पहुंच गए हैं।"

14 नवम्बर को इसी विषय पर प्रकाश डालते हुए लास्की ने अमरीकी न्यायाधीश को सूचित किया कि मुसलमानों के साथ अस्थायी समझौते की प्रक्रिया ढूंढने तथा उन्हें "विवेक से काम लेने के लिए" मनाने का उसका "अन्तिम क्षण" का प्रयत्न भी निष्फल सिद्ध हुआ। उसने लिखा कि ऐसे लोगों के साथ बात करना असंभव था, जो यह विश्वास करते हैं कि "अन्तिम सत्य उन्हीं के पास है।[5]" जयकर के रहस्योद्घाटनों तथा सम्मेलन में ब्रिटिश भारत के वाणिज्यिक हितों के प्रतिनिधि एडवर्ड बेन्थाल के गुप्त पत्र से लास्की के आरोप की पर्याप्त पुष्टि हो जाती है। जिन्ना ने, जिनका राजनीतिक मूलाधार लन्दन सम्मेलन के बाद एक दशाब्दी के अन्दर ही सभी सीमाओं को पार कर गया, कार्यवाही में टालमटोल की तथा छल-छद्मपूर्ण भूमिका अदा की। जब उनसे यह पूछा गया कि राष्ट्रीय एकता बढ़ाने के लिए आपने गांधीजी और सप्रू के साथ सहयोग क्यों नहीं किया तो उन्होंने उत्तर दिया कि मियां फजले-हसन और आगा खां के विरोध के कारण मेरे प्रयत्न विफल हो जाते।[6] सच्चाई कुछ भी हो, जिन्ना ने निश्चय ही सम्मेलन में राजनेता जैसी भूमिका नहीं निभाई। इर्विन सरकार के वित्त सदस्य सर जार्ज शुस्टर, सर सेमुअल होर, रियासत मैसूर के दीवान सर मिर्जा एम० इस्माइल और "लन्दन टाइम्स" के सम्पादक ज्योफ्रे डासन अपने इस निर्णय में एकमत थे कि जिन्ना "पूर्ण असफल" थे। शुस्टर इस बात को दुःखद समझता था कि मुसलमानों में कोई प्रथम श्रेणी का नेता न था।[7]

5. मार्क डी वुल्फ होम द्वारा संपादित "होम्स-लास्की लैटर्स ; दी कारस्पोंडेंस आफ मिस्टर जस्टिस होम्स ऐंड हेरोल्ड जे० लास्की, 1916–1935, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी, 1953, पृ० 1330, 1332, 1335, 1336, 1338, 1348

6. दुर्गादास लिखित "इंडिया फ्राम कर्जन टू नेहरु एंड आफ्टर", कोलिन्स, 1969, पृ० 155, 166, 170, 172

7. ऐलन केम्पबैल जानसन द्वारा लिखित "मिशन विद माउंटबेटन", राबर्ट हेल, 1951, पृ० 33; वाईकाउंट टेंम्पिलवुड लिखित "नाइन ट्रबल्ड इयर्स" पृ० 52; "माई पब्लिक लाइफ : रिक्लेक्शंस एंड रिफ्लेक्शंस आफ सर मिर्जा एम० इस्माइल", जार्ज ऐलन एंड अनविन, 1954, पृ० 68 ; "दी हिस्ट्री आफ दी टाइम्स", पृ० 877

लन्दन सम्मेलन में साम्प्रदायिक गतिरोध के बारे में जिन्ना ने अपने घनिष्ठ मित्र सर चिमनलाल सीतलवाड से जो शिकायत की थी, वह अविश्वसनीय है। 21 जुलाई, 1932 को जिन्ना ने सीतलवाड को लिखा : "बड़े दुःख की बात है। मामला बद से बदतर हो गया है। परन्तु क्या आप यह नहीं समझते कि यह सब हमारे द्वारा मामले को उलझा देने के कारण हुआ है, विशेष रूप से साम्प्रदायिक समझौते के प्रश्न को, जो हिन्दू महासभा समूह के दुराग्रह और अविवेक के कारण खढाई में पड़ गया। जरा सोचिए तो पंजाब और बंगाल में 3 या 4 सीटों की खातिर सारा खेल बिगाड़ दिया गया।"

"भारत एक अभागा देश है और मुझे आश्चर्य है कि लोग कब यह समझेंगे और सीखेंगे कि वे उन लोगों के हाथों में न खेलें जो देश की अपेक्षा अपने बारे में अधिक सोचते हैं।" जिन्ना ने यह पत्र अपने लन्दन निवास से लिखा था उन्हें गोलमेज सम्मेलन के तीसरे सत्र के लिए आमन्त्रित नहीं किया गया था और उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि वे जीवन-पर्यन्त लन्दन में ही रहेंगे, क्योंकि वे यह महसूस करते थे कि अपने देश भारत में उन्हें कोई नहीं चाहता।

जयकर ने 10 अगस्त को जिन्ना की शिकायत का उत्तर दिया। उन्होंने कहा : "मैं जिन्ना के पत्र को अनदेखा नहीं कर सकता; नहीं तो यह समझा जाएगा कि उसमें उन्होंने जो विचार व्यक्त किए हैं, उनसे मैं सहमत हूं। मि० जिन्ना कहते हैं कि हिंदू महासभा समूह के दुराग्रह और अविवेक के कारण सारा खेल बिगड़ा है। यदि ऐसा है तो मेरी भी यह दृढ़ धारणा है कि वह सम्प्रदायिक समूह भी, मि० जिन्ना जिसके सम्मानित प्रवक्ता बन गए थे, गड़बड़ी के लिए अधिक नहीं तो उतना ही जिम्मेदार अवश्य है। जब किसी निष्पक्ष इतिहासकार द्वारा गोलमेज सम्मेलन का अन्तिम इतिहास लिखा जाएगा, तो यह बिलकुल स्पष्ट हो जाएगा कि उन साम्प्रदायिक कट्टरपन्थियों के नेता के रूप में जिन्ना ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी, जिन्होंने समस्या के समाधान के लिए किया जाने वाला हर प्रयत्न विफल कर दिया।[8]"

बाद के वर्षों में, "भारतीय विधान सभा में इस रहस्य का उद्घाटन हुआ कि आगा खां ने, जिन्होंने लन्दन सम्मेलन में गतिरोध पैदा करने में निर्णायक भूमिका अदा की थी, यह मांग की थी कि गोलमेज सम्मेलन में उनकी विध्वंसकारी भूमिका

8. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 3 (अप्रकाशित), अध्याय 26, पृ० 165–166

के लिए पुरस्कार के रूप में उन्हें भारत में कुछ राज्य क्षेत्र देकर राजा बना दिया जाए। ऐसे प्रबल गठबन्धन से तो भगवान भी नहीं जीत सकता था। साम्राज्यवादी ब्रिटेन को अकारण ही "विश्वासघाती एल्वियन" (इंग्लैंड) नहीं कहा जाता था।

जयकर भारतीय प्रतिनिधिमंडल के एक प्रमुख एवं सक्रिय सदस्य थे तथा लन्दन सम्मेलन के तीनों अधिवेशनों में वे अत्यन्त व्यस्त रहे। वे अनेक समितियों में काम करते थे, साथ ही, महत्वपूर्ण व्यक्तियों से मिलते रहते थे। 10 सितम्बर, 1931 को वे भूतपूर्व वाइसराय इर्विन से उसके लन्दन निवास पर मिलने गए। वे और उनके मित्र निश्चित समय से कुछ मिनट पहले ही पहुंच गए थे और इर्विन के दरवाजे पर प्रतीक्षा कर रहे थे। इर्विन सिर पर छाता लगाए आया और अपने नौकर के साथ कमरे में चला गया। उसने आगन्तुकों को बुलवाया और कमरे में बैठाया। दिल्ली में वाइसराय भवन में अपने पुराने दिनों की याद करते हुए इर्विन ने कहा, "जयकर, यहां 300 चपरासी नहीं हैं, जैसे कि दिल्ली में रहते थे।"

यद्यपि वाइसराय के रूप में इर्विन उतना ही नृशंस और असमझौतावादी था, जितना उस पद को धारण करने वाला और कोई; फिर भी विट्ठल भाई पटेल की भांति, उसके प्रति उनका पक्षपात था। भारत से लौटने के बाद, उसने यह कहकर अपने उत्तराधिकारी की दमन नीति का सार्वजनिक रूपसे समर्थन किया था कि यदि मैं उस देश में होता तो मैं भी ऐसा ही करता। वस्तुतः उसका शासन भी उतना ही अत्याचारपूर्ण था, जितना विलिंगडन का। फिर भी कुछ भारतीय राजनीतिज्ञ उसके बारे में अपनी अच्छी धारणा बदलने के लिए तैयार न थे। जयकर ने अपनी अप्रकाशित आत्मकथा में लिखा है: " इर्विन का शासन विलिंगडन के शासन से इस बात में भिन्न था कि जिस प्रकार विलिंगडन के शासनकाल में सार्वजनिक मध्यस्थों का अविश्वास किया जाता था, उस प्रकार इर्विन के शासन-काल में कभी नहीं किया गया।" उन्होंने यह भी लिखा है: "एक समय ऐसा आया, जब मध्यस्थ के रूप में मुझ पर यह सन्देह किया जाने लगा कि मैं गांधीजी से मिल गया हूं, जबकि इर्विन के शासनकाल में मेरा बड़ा सम्मान था।" यह बात उन्होंने 4 जनवरी, 1932 को गांधीजी की गिरफ्तारी के अवसर पर कही। उनके मन में क्षोभ था; उसी समय उन्हें मताधिकार समिति में काम करने के लिए आमन्त्रित किया गया। उन्होंने लिखा: "अपनी वर्तमान मनःस्थिति में मैंने आमन्त्रण ठुकरा दिया।[9]"

---

9. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 3, (अप्रकाशित), अध्याय 25, पृ० 9, 13

प्रस्तावित संविधान पर होने वाले विचार-विमर्श में जयकर अनिवार्य रूप से उपयुक्त अंशदान किया करते थे। जब यह प्रश्न उठता था कि केन्द्र में दो-सदनीय विधानमंडल होना चाहिए अथवा एक-सदनीय, तो वे सब प्रकार की जानकारी देते हुए दो-सदनीय विधानमंडल का प्रबल समर्थन किया करते थे। वे जानते थे कि महात्मा गांधी जैसे नेता इस आधार पर एक-सदनीय विधामंडल की मांग कर रहे थे कि इससे सादगी, दक्षता और मितव्ययिता आती है। विधानमंडल का एक सदन होना चाहिए अथवा दो और उनका गठन किस प्रकार होना चाहिए इस प्रश्न पर संविधान-विशेषज्ञों ने काफी विचार किया है। "पार्लियामेंट : ए सर्वे" के अनुसार, उच्च सदन की रचनात्मक भूमिका है। इस दस्तावेज़ में कहा गया है कि : "दूसरे सदन का उद्देश्य सम्पूर्ण राष्ट्र के विचारों और भावनाओं को समझना होना चाहिए तथा जब जनता की इच्छा भलीभांति प्रकट हो जाए तो उसका विरोध करके नहीं बल्कि केवल उसे समझकर और उसे कार्यान्वित करके उसे जनता के प्रति अपनी पूरी जिम्मेदारी निभानी चाहिए।"

जयकर ने तर्क दिया कि संघीय (फेडरल) सरकार में द्विसदनीय विधान मंडल होना अत्यंत वांछनीय है। 22 सितम्बर, 1931 को द्वितीय गोलमेज सम्मेलन द्वारा नियुक्त संघीय ढांचा समिति में बोलते हुए उन्होंने कहा : "यदि संघ को वास्तविक बनना है, तो उसे दो उद्देश्य पूरे करने होंगे। उसे भारतीय नागरिकों को उनकी व्यक्तिगत हैसियत से तथा उनकी सामूहिक हैसियत से भी प्रतिनिधित्व प्रदान करना है।" उन्होंने बताया कि व्यक्तिगत प्रतिनिधित्व का अर्थ है—लोक-निर्वाचन और सामूहिक प्रतिनिधित्व प्रान्तों की परिषदों तथा देशी राज्यों की सरकारों के माध्यम से हो सकता है। संघीय ढांचे को पूरा करने के लिए प्रतिनिधित्व की ये दोनों पद्धतियां आवश्यक हैं। वे चाहते थे कि समिति इस बात पर विचार करे कि क्या यह सम्भव है कि "एक ही विधानमंडल में दोनों प्रकार के प्रतिनिधित्व को मिला दिया जाए——लोक प्रतिनिधित्व, जिसमें भारत के प्रत्येक नागरिक को विधान मंडल के लिए अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होगा तथा सामूहिक प्रतिनिधित्व जिसमें प्रान्तों और देशी राज्यों की सरकारें अपने-अपने प्रतिनिधि चुनेंगी।"

उनका विचार था कि विधानमंडल के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में सामान्य बहुमत से काम चल जाना चाहिए। वे स्थायित्व के नाम पर दो-तिहाई बहुमत या 3/5 बहुमत अथवा पूर्ण बहुमत के पक्ष में नहीं थे। वे चाहते थे कि

स्थायित्व के विचार को अत्यधिक तूल देकर संविधान को निष्फल न बनाया जाए। उन्होंने कहा : "यदि हम अब यह व्यवस्था करते हैं कि प्रत्येक विधेयक को, चाहे वह कितना ही महत्वहीन हो, जिसे अलग-अलग दोनों सदनों की स्वीकृति प्राप्त नहीं होती, संयुक्त अधिवेशन में 2/3 या 3/5 बहुमत प्राप्त करना आवश्यक है, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्रिटिश भारतीय लोकमत ऐसे प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करेगा।[10]" यह प्रस्ताव मुख्यत: देशी नरेशों के हितों की रक्षा के लिए लाया गया था।

26 अक्तूबर को जयकर ने संघीय ढांचा समिति से कहा कि एक संघ न्यायालय स्थापित करने की आवश्यकता है, जिसका अधिकार क्षेत्र मौलिक, अपीली और परामर्शकारी हो। जब कई न्यायालयों को संघीय क्षेत्राधिकार देने के लिए सुझाव प्रस्तुत किए गए तो उन्होंने सावधानी बरतने की सलाह दी। उन्होंने कहा : "यह सघ एक नया प्रयोग है। संघ न्यायालय भी नया प्रयोग है। मैं निवेदन करूंगा कि फिलहाल हमें केन्द्र में एक संघीय सर्वोच्च न्यायालय से सन्तुष्ट हो जाना चाहिए, जिसका क्षेत्राधिकार दीवानी, फौजदारी, अपीली और मौलिक हो; वह कहीं भी स्थापित किया जा सकता है। संघीय विधानमंडल को देशी राज्यों में अथवा प्रान्तों में अतिरिक्त संघीय न्यायालय बनाने का अधिकार देने नें उन्हें कोई आपत्ति न थी, परन्तु उनका विचार था कि ऐसा कदम नये संविधान के अनुसार कुछ दिन चल कर उठाना चाहिए।[11]"

18 नवम्बर को, जयकर ने भारत में ब्रिटिश वाणिज्यिक हितों के लिए संरक्षणों के प्रावधान पर एक लम्बा भाषण दिया। उन्होंने उन हितों के प्रतिनिधि बेन्थाल को विश्वास दिलाया कि किसी के प्रति भेदभाव बरतने की भारत की कोई इच्छा नहीं है; परन्तु उन्होंने समिति का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि उसके नागरिकों के साथ न तो अपने देश में अच्छा व्यवहार हो रहा है और न विदेशों में। उन्होंने कहा : "भारत इस बात के लिए उत्सुक है कि यद्यपि वह जाति के आधार पर भेदभाव न बरतन के सिद्धान्त को स्वीकार करता है, फिर भी वह कुछ उद्योगों

10. "इंडियन राउंड टेबिल कांफ्रेंस (द्वितीय अधिवेशन), 7 सितंबर, 1931, 1 दिसंबर, 1931;" प्रोसीडिंग्स आफ फेडरल स्ट्रक्चर कमेटी एंड माइनोरिटीज कमेटी", भाग-1, गवर्नमेंट आफ इंडिया सेंट्रल पब्लिकेशन ब्रांच, पृ० 285-87

11. वही, भाग-2, पृ० 754, 756

के मामले में, जो ऐसे राष्ट्रीय महत्व के हैं या कुछ समय बाद हो सकते हैं कि उनके लिए विशेष व्यवहार की आवश्यकता हो सकती है, विशेष संमजन करने की स्वतंत्रता चाहता है।"

ब्रिटिश प्रधानमन्त्री और भारत सरकार ने इस विषय पर जो कुछ कहा था, उसकी ओर ध्यान आर्कषित करते हुए, जयकर ने अपने पक्ष का समर्थन किया। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री का विचार था कि यदि प्रमुख उद्योगों के विषय में कोई राष्ट्रीय नीति हो तो भारत को भी "वैसा ही आर्थिक कानून पास करने का अधिकार होगा जैसा इस देश को है।" भारत सरकार का कहना था कि "ऐसे अनेक उपक्रम हैं जिन्हें भारतवासी राष्ट्रीय समझते हैं और जो इस समय मुख्य रूप से या पूर्णतया अंग्रेजों के हाथों में हैं। यह आशा करना व्यर्थ है कि इन उपक्रमों के संचालन में अपने समुचित भाग से वंचित रह कर भी भारतवासी अनन्त काल तक सन्तुष्ट बने रहेंगे....."।[10] जयकर ने आपसी अदला-बदली पर विशेष जोर दिया। उन्होंने कहा: "मैं विदेशी राष्ट्रों को वही अधिकार देने को तैयार हूं, जो उनके देश हमें देते हैं।[12]"

25 नवम्बर को जयकर ने संघीय ढांचा समिति के समक्ष एक जोशीला भाषण दिया। उन्होंने कहा कि केवल प्रान्तीय स्वराज्य से ही भारतीय आकांक्षाए पूरी न होंगी; केन्द्र में भी जनता के प्रतिनिधियों को अधिकार मिलना आवश्यक है। इससे पहले, सप्रू ने भी इसी प्रकार की सरकार की मांग की थी और कहा था कि सम्मेलन की कार्यवाही सफल होनी चाहिए। उन्होंने कहा कि मैं "सम्मेलन की प्रणाली का पूर्ण समर्थक हूं।" जयकर ने भी अपनी निष्ठा की ऐसी ही घोषणा की। उन्होंने कहा: "जब मुझे भारत के वाइसराय का निमन्त्रण मिला कि मैं आऊं और इस गोलमेज सम्मेलन में भाग लूं, तो मुझे विश्वास हो गया कि भारत के इतिहास में पहली बार बातचीत, सहमति और सद्भावना की प्रक्रिया द्वारा निश्चित निष्कर्षों पर पहुंचने की प्रणाली अपनाई जा रही है।" वे चाहते थे कि यह प्रणाली सफल हो। उनके राजनीतिक दोस्तों ने उन्हें चेतावनी दी थी कि वे सम्मेलन में भाग न लें क्योंकि वे उसे एक नाटक समझते थे।

जयकर ने मांग की कि भावी संविधान में केन्द्रीय उत्तरदायित्व की व्यवस्था होनी चाहिए, जो संघ से जुड़ा हो। "केवल प्रान्तीय स्वायत्तता से काम नहीं

10. "इंडियन राउंड टेबिल कांफ्रेंस (द्वितीय अधिवेशन), 7 सितंबर, 1931, दिसंबर, 1931;" प्रोसीडिंग्स आफ फेडरल स्ट्रक्चर कमेटी एंड माइनोरिटीज कमेटी", भाग-1, गवर्नमेंट आफ इंडिया सेंट्रल पब्लिकेशन ब्रांच, पृ० 285-87

12. वही, पृ० 1051-52, 1056-57, 1060

चलेगा । यदि यह मांग पूरी न हुई तो भारत में अराजकता फैल जाएगी ।"[10] इन शब्दों के साथ उन्होंने अपना भाषण समाप्त किया : "मैं केवल इतना कहता हूं कि देश ने स्वतन्त्र होने का निश्चय कर लिया है और जब सात हजार मील की दूरी पर 35 करोड़ लोगों ने स्वतन्त्र होने का निश्चय किया है तो इतनी दूरी से उन पर शासन करना आपके लिए कठिन है । जब आप अपनी ही सीमा के ठीक पार, केवल 300 मील की दूरी पर, अपनी ही जाति और संस्कृति के लोगों पर शासन नहीं कर सके, तो सात हजार मील की दूरी पर, ऐसे लोगों पर, जो धर्म, संस्कृति और जीवन की हर चीज में आपसे सर्वथा भिन्न हैं, शासन करने में आपके सफल होने की सम्भावना बहुत कम है ।[13]" जयकर का आशय आयरलैंड से था ।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन भी, जो 1 दिसम्बर को समाप्त हुआ, पहले सम्मेलन की भांति ही निष्फल रहा । इसमें षड़यन्त्रों और गुप्त हथकंडों की भरमार रही । व्हाइटहाल को चाहिए था कि वह उत्तरदायित्वपूर्ण शासन का महत्वपूर्ण हस्तान्तरण करने में, चाहे वह औपनिवेशिक स्वराज्य से भी कम होता, भारत की निर्वाचनाधिकार से वंचित जनता के सर्वोच्च प्रतिनिधि महात्मा गांधी की उपस्थिति से लाभ उठाता। एसा कोई संकेत नहीं दिया गया क्योंकि ब्रिटिश सरकार लार्ड क्रोनर जैसे साम्राज्यवादियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से न टालने के लिए कटिबद्ध थी । इस आदमी ने कहा था कि भारतीय सुधार की आधार शिला ब्रिटिश सर्वोच्चता की सुदृढ़ सुरक्षा होनी चाहिए ।

तृतीय गोलमेज सम्मेलन, जो 17 नवंबर, 1932 को शुरू हुआ और 24 दिसम्बर को समाप्त हुआ, इस श्रृंखला का सबसे अंतिम और सबसे छोटा सम्मेलन था । वह अत्यंत क्षीणकाय था ; इसमें भाग लेने वाले प्रतिनिधियों की संख्या 46 थी । जिन्हें छोड़ दिया गया था उनमें जिन्ना प्रमुख थे क्योंकि ब्रिटिश राज के लिए उनके महत्व का अभी पता न लगा था । अथक समझौता-वार्ताकार सप्रू और जयकर तो वहां थे ही । कोई नई बात नहीं कह सकता था, क्योंकि पूर्ववर्ती सम्मेलनों में भारतीय शासन की भावी व्यवस्था से संबंधित हर चीज पर भली-भांति विचार-विमर्श हो चुका था ।

सप्रू और जयकर दोनों ने अपने साथियों— डा० आम्बेडकर, सर कावसजी जहांगीर, एन० एम० जोशी, एन०सी० केलकर, नानकचंद पंडित और एन०ए० सरकार ने मिल कर 23 दिसम्बर, 1932 को एक ज्ञापन सम्मेलन में प्रस्तुत किया

10. "इंडियन राउंड टेबिल कांफ्रेंस (द्वितीय अधिवेशन, 7 सितंबर, 1931, 1, दिसम्बर 1931), "प्रोसीडिंग्स आफ फेडरल स्ट्रक्चर कमेटी एंड माइनोरिटीग कमेटी", भाग–1, गवर्नमेंट आफ इंडिया सेंट्रल पब्लिकेशन ब्रांच पृ० 285–87

13. वही, भाग 2, पृ० 1174–76

जिसमें यह अनुरोध किया गया कि भारत के भावी संविधान में एक धारा जोड़ कर "भेदभावपूर्ण कानून बनाने का तथा सम्राट की प्रजा के किसी वर्ग को किसी व्यक्ति के जन्म, धर्म, जाति, प्रजाति या रंग के आधार पर अयोग्य करार देने का पूर्ण निषेध कर देना चाहिए ।" हस्ताक्षरकर्ताओं का यह दृढ़ मंतव्य था कि "जन्म, जाति और धर्म पर आधारित विशेषाधिकार समाप्त होने चाहिए।"

कदाचित तृतीय गोलमेज सम्मेलन की कायवाही में सबसे महत्वपूर्ण प्रस्तावित संविधान संबंधी ज्ञापन था, जो सप्रू और जयकर ने मिलकर 27 दिसम्बर को तैयार किया था। यह एक व्यापक और सूक्ष्म तर्कयुक्त दस्तावेज था। इसमें इसके लेखकों ने अपनी यह धारणा व्यक्त की कि केवल प्रांतीय स्वशासन "भारत के राजनीतिक वर्गों के विशाल बहुमत को" ग्राह्य न होगा। सुधारों में केंद्र को भी शामिल करना चाहिए तथा उन पर अमल शुरू करने की तारीख निश्चित होनी चाहिए। उनकी राय थी कि संघ को यदि पहले नहीं तो कम से कम 1935 में अवश्य काम शुरू कर देना चाहिए।

उन्होंने अनुरोध किया कि केंद्र में संविधान का शुभारंभ देशी नरेशों के रुख पर निर्भर नहीं होना चाहिए। ब्रिटिश सरकार को चाहिए कि वह उनसे संघ में शामिल होने की अपनी इच्छा को सूचना फरवरी या मार्च 1933 में एक निश्चित तारीख तक देने को कहे। उनका ख्याल था कि संघ के सफलतापूर्वक कार्य-संचालन के लिए इस बात के लिए आग्रह करना आवश्यक न था कि आधे देशी राज्यों को, जिनमें समस्त देशी भारत की लगभग आधी जनसंख्या रहती थी, आरंभ में ही संघ में शामिल हो जाना चाहिए। उन्होंने यह भी अनुरोध किया कि संविधान का शुभारंभ रिजर्व बैंक की स्थापना होने तक स्थगित नहीं किया जाना चाहिए। उन्होंने बताया कि पहले दो सम्मेलनों में कार्यवाही के दौरान ऐसी कोई शर्त नहीं रखी गई थी।

सप्रू और जयकर इस बात के लिए उत्सुक थे कि नए संविधान में "वास्तविक वित्तीय जिम्मेदारी" वित्त मंत्री पर डालने की व्यवस्था की जाए। उन्होंने इस मिथ्या धारणा को अमान्य कर दिया कि भारतीय अपने राष्ट्रीय वित्त की दक्षतापूर्वक व्यवस्था करने के अयोग्य हैं। परंतु दोनों नेता साम्राज्यवादियों के भय को दूर करने के लिए संरक्षण प्रदान करने को तैयार थे। उन्होंने लिखा : "हम यह बता देना चाहते हैं कि यदि सेना के बजट तथा सेवाओं के वेतन, समग्र

वेतन और पेंशन की गारंटी कानून द्वारा दे दी जाए तथा यदि गवर्नर-जनरल को अपनी विशष जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए राजकोष से धन लेने का अधिकार दे दिया जाए, तो ऐसे मामलों में खतरे का अस्तित्व ही नहीं रहता।"

दोनों नेता भेदभावकारी विधान के विरुद्ध थे, परंतु उनका यह स्पष्ट मत था कि ऐसी नीति के कारण भारत के औद्योगिक विकास में बाधा नहीं पड़नी चाहिए। उन्होंने बताया कि अनेक भारतीय उद्योग या तो बंद पड़े हैं या गरीबी की हालत में संघर्ष कर रहे हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि ऐसे उद्योगों की रक्षा की जाए तथा उन्हें आर्थिक सहायता दी जाए और प्रमुख उपक्रमों का विकास किया जाए, भले ही इस काम में भेदभाव बरतना पड़े। उन्होंने लिखा : "हमारा यह भी दृढ़ मत है कि ऐसी अनुचित प्रतिस्पर्धा के, जैसा कि शक्तिशाली संगठन अतीत में कभी-कभी अपने कमजोर प्रतिनिधियों के साथ करते रहे हैं, दुष्प्रभावों को रोकने के लिए केंद्रीय और प्रांतीय दोनों सरकारों को पर्याप्त अधिकार दिए जाने चाहिए।"

प्रतिरक्षा के मामले में उन्होंने अनुरोध किया कि भारत की सुरक्षा एकमात्र ब्रिटेन की ही चिंता का विषय नहीं होना चाहिए। उन्होंने सुझाव दिया कि सेना के भारतीयकरण की गति तीव्र की जानी चाहिए तथा पूरी प्रक्रिया एक निश्चित अवधि में पूर्ण हो जानी चाहिए। संक्रमण काल के दौरान गवनर-जनरल को एक सेना मंत्री नियुक्त करना चाहिए जो विधान मंडल से चुना जाए। सैनिक बजट एक समिति द्वारा तैयार किया जाना चाहिए जिसमें अन्य व्यक्तियों के अलावा, प्रधान मंत्री, सेना मंत्री, वित्त मंत्री तथा सेना विभाग के अन्य ऐसे प्रतिनिधि हों, जिन्हें गवर्नर-जनरल नियुक्त करे। समिति का काम "सैनिक बजट पर विचार करना और वार्षिक अनुमान निश्चित करना" होना चाहिए। समिति के किसी निर्णय पर पहुंचने में असफल रहने पर गवर्नर-जनरल का निर्णय अंतिम माना जाना चाहिए।

ज्ञापन में यह भी सुझाव दिया गया कि सेना के दरवाजे सभी भारतीयों के लिए खोल दिए जाने चाहिए "चाहे वे किसी जाति, धर्म या संप्रदाय के हों।" भारतीय सेना विधानमंडल की स्वीकृति के बिना देश से बाहर नहीं भेजी जानी चाहिए। सैनिक व्यय तेजी से घटाना चाहिए और इसका एक तरीका यह है कि भारत स्थित ब्रिटिश सैनिकों की संख्या कम की जानी चाहिए। सैनिक

स्कूलों और कालेजों के विस्तार और रख-रखाव का कार्य विधानमंडल के नियंत्रण में होना चाहिए ।

उदारवादी नेता भावी गवर्नर-जनरल के निरंकुश शासक के रूप में कार्य करने के बहुत विरुद्ध थे । वे चाहते थे कि उसके अधिकार साफ-साफ परिभाषित कर दिए जाएं ताकि वे लोकप्रिय मंत्रियों के अधिकारों से न टकराएं अथवा उन्हें न दबाएं । विशेष अधिकारों के क्षेत्र को छोड़ कर, गवर्नर-जनरल और प्रांतों के गवर्नरों को सदा मंत्रियों की सलाह से काम करना चाहिए । अपने असाधारण अधिकारों के प्रयोग के समय और अपनी विशेष जिम्मेदारी को पूरा करते समय भी उन्हें अपने मंत्रियों से परामर्श करना चाहिए; यह आवश्यक नहीं कि वे उनके परामर्श को मानें ही । गवर्नर-जनरल को अपने अध्यादेश जारी करने के अधिकार का प्रयोग केवल घोर आपातकाल में ही करना चाहिए । गवर्नरों को ऐसा परमाधिकार नहीं दिया जाना चाहिए । आवश्यकता होने पर वे आपात कानून बनाने के लिए सदा गवर्नर-जनरल से प्रार्थना कर सकते हैं ।

ज्ञापन में यह मांग की गई कि मौलिक अधिकारों को संविधान में शामिल किया जाए और यह तर्क दिया गया कि इस प्रावधान से "अल्पसंख्यकों और विशिष्ट स्वार्थ वालों" की आशंकाएं दूर हो जाएंगी । उसके लेखक भारत मंत्री के पद और भारत परिषद को स्थायी बनाने की आवश्यकता बिल्कुल नहीं समझते थे ; इसलिए उन्होंने दोनों को समाप्त करने की सिफारिश की । दोनों देशों के मध्य भावी संबंध उपनिवेश-कार्यालय के माध्यम से नियमित किए जा सकते थे । अंत में यह अत्यंत वांछनीय था कि संविधान-निर्माण के आगे के चरणों के बारे में भारत के समस्त प्रमुख राजनीतिक दलों से परामर्श किया जाए, "ताकि जो भी निर्णय हो, उसे भारतीय लोकमत के प्रत्येक प्रगतिशील वर्ग का समर्थन प्राप्त हो सके ।"[14]

ये थे वे प्रस्ताव, जो उदारवाद में सबसे अधिक निष्ठा रखनेवाले दो नेताओं ने प्रस्तुत किए थे, फिर भी वे स्वीकार नहीं किए गए । अपनी प्रतिभा और व्यवहार-कुशलता के लिए प्रख्यात सप्रू और जयकर अत्यंत युक्तियुक्त पक्ष ग्रहण कर ब्रिटिश हठधर्मी को जीतने का प्रयत्न करते रहे । परंतु उनके आशावाद को कोई आधार

14. "इंडियन राउंड टेबिल कांफ्रेंस", (तृतीय अधिवेशन), 17 नवंबर, 1932—24 दिसंबर 1932, हिज मैजेस्टीज स्टेशनरी आफिस, 1935, पृ० 197-203

नहीं मिल सका। तीसरे सम्मेलन के लिए उनके लंदन जाने से बहुत पहले भारत की स्थिति काफी बिगड़ चुकी थी। 29 जून, 1932 को एक संयक्त वक्तव्य में, उन्हें भारत की संवैधानिक समस्या को सुलझाने के लिए अपनायी गयी सम्मेलन की प्रणाली को तोड़ने के प्रयत्नों का विरोध करना पड़ा। उन्होंने कहा कि दूसरे अधिवेशन में उन्हें "यह जान कर बहुत दुःख हुआ" कि ब्रिटिश लोकमत का एक प्रभावशाली वर्ग इस आधार पर सम्मेलन की प्रणाली के विरुद्ध है कि यह अच्छी नहीं है। उन्हें यह भी डर था कि पहले प्रांतीय स्वशासन पद्धति शुरू करके व्हाइटहाल संघ के शुभारंभ को अनिश्चित काल तक स्थगित रख सकता है।

राष्ट्रीय स्वाधीनता की मांग को कमजोर करने के लिए भारतीय जनता में फूट डालने के ब्रिटिश सरकार के प्रयत्नों का सबसे अच्छा उदाहरण ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेमजे मेक्डोनल्ड का 4 अगस्त, 1932 का तथाकथित सांप्रदायिक पंचनिर्णय था। यह एक ऐसा रहस्योद्घाटन करनेवाला दस्तावेज था, जिससे इस व्यापक विश्वास की पूरी तरह पुष्टि होती थी कि भारतीय पृथकतावादी और असमझौतावादी राष्ट्रवादियों के विरुद्ध अभियान में अंग्रेजों का साथ दे कर वे सदा उससे भी अधिक प्राप्त कर सकते हैं, जितना वे चाहते हैं। पंचनिर्णय में मुस्लिम, सिख, भारतीय ईसाई, आंग्ल-भारतीय और यूरोपीय समुदायों के लिए पृथक निर्वाचन का सिद्धांत स्वीकार किया गया था तथा अल्पसंख्यकों के लिए "वेटेज" '(प्रश्रय)' की परंपरागत नीति की पुष्टि की गई थी।

महात्मा गांधी की स्पष्ट चेतावनी के बावजूद दलित वर्गों को पृथक प्रतिनिधित्व दिया जाना सबसे अधिक शरारत की बात थी। लंदन सम्मेलन में 13 नवंबर, 1931 को अपने भाषण में उन्होंने चेतावनी दी थी कि ऐसे दूषित चुनावी हथकंडों से हिंदू एकता को भंग करने के प्रत्येक प्रयत्न का विरोध वे अपनी जान की बाजी लगा कर करेंगे। तदनुसार, 18 अगस्त, 1932 को उन्होंने यरवदा जेल से मेक्डोनल्ड को सूचित किया कि यदि इस घृणित उपबंध को पंचनिर्णय से न निकाला गया तो वे 20 सितम्बर से आमरण अनशन आरंभ कर देंगे।

अनेक नेता अंग्रेजों के इस कूटनीतिक कुचक्र से क्षुब्ध हो गए। 21 अगस्त को जारी किए गए अपने एक वक्तव्य में जयकर ने घोषणा की कि "तथाकथित पंचनिर्णय अत्यंत प्रतिक्रियावादी है। इससे साफ जाहिर होता है कि प्रधान मंत्री टोरी दबाव के सामने झुक गया। यह सांप्रदायिक विद्वेष को बढ़ाएगा और उसे

एसे क्षेत्रों में भी फैलाएगा, जो अब तक इससे मुक्त थे।'' उन्होंने देशी राज्यों के शासकों से अपील की कि वे यह सुनिश्चित करें कि ''सांप्रदायिक जहर उनके उन राज्य क्षेत्रों में न फैले, जो अब तक उसके घातक प्रभाव से संवैधानिक रूप से मुक्त रहे हैं।''[15]

जयकर ने पंडित मालवीय, सप्रू, राजगोपालाचारी तथा अन्य कई प्रमुख नेताओं के साथ 25 सितंबर का पूना समझौता संपादन करा कर महात्मा गांधी की जान बचाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की'' डा० आंबेडकर, जिन्होंने लंदन में उस ''अल्पसंख्यक समझौते'' पर हस्ताक्षर किए थे, जिससे मेक्डोनाल्ड को अपने पंचनिर्णय में हस्तक्षेप का बहाना मिला, सितम्बर समझौते को संभव बनाने में बहुत सहायक सिद्ध हुए। पंचनिर्णय में समुचित परिवर्तन करा कर गांधी जी ने अपने हित को अभूतपूर्व विजय दिलाई।

सप्रू और जयकर को यह विश्वास दिलाने के लिए कि दिसम्बर सम्मेलन में उनका सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाएगा और भी प्रमाण थे। एक प्रकांड विद्वान और भारत के मित्र फादर बैरियर एल्विन ने, जो भारत में ही रहने लगे थे, 10 अक्तूबर, 1932 को, इंग्लैंड से जो कुछ लिखा उससे किसी को यह संदेह नहीं रहा कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों को कुछ भी न देने को कृत-संकल्प थी। एल्विन ने लिखा :''एक दिन मैं यार्क के बिशप को भारत और इंग्लैंड के मध्य अच्छे संबंधों की स्थापना के लिए चर्च के हस्ताक्षेप की आवश्यकता बताने के लिए लंबेथ गया। मैंने भारत में सरकारी चर्च के व्यवहार के बारे में उसे जो कुछ बताया, उससे उसे आश्चर्य हुआ। अन्य बातों के साथ-साथ उसने मुझे यह भी बताया कि चर्च पर यूनियन जैक लगाना अवैध है। उसने भारत के लिए, जो कुछ वह कर सकता था, करने का वायदा किया, परंतु अन्य व्यक्तियों की भांति उसने भी अपनी असमर्थता और अन्यमनस्कता स्वीकार की। उसने एक अति विचित्र बात यह कही कि अनुदारवादी सर सेमुअल होर को उसकी भारत संबंधी नीति के बारे में अत्यधिक उदार और दयालु समझते थे तथा उसे और मंत्रिमंडल के अन्य सदस्यों को यह भय था कि यदि उन्होंने कांग्रेस के साथ समझौता कर लिया तो वे अपने संविधान सुधार संबंधी विधेयक को ''लोकसभा'' में पास नहीं कर सकेंगे[16]।'' वस्तुतः भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति अंग्रेजों का विरोध किसी

15. ''द स्टोरी आफ माई लाइफ'', भाग 3 (अप्रकाशित), अध्याय 26, पृ० 198
16. वही, पृ० 313

से छिपा न था। अपनी शब्दाडंबरपूर्ण अभ्यस्त शैली में, चर्चिल ने 14 दिसम्बर को, गोलमेज सम्मेलन पर इस प्रकार प्रहार किया : "हम देखते हैं गोलमेज सम्मेलन दिन-प्रतिदिन इंच-इंच करके अपने विनाश की ओर बढ़ता जा रहा है।" उसने कहा : "हम एक दुर्लंघ्य दीवार की ओर मुस्तैदी से बढ़ते हुए प्रतीत होते हैं।"

भारत मंत्री सर सेमुअल होर का उदारवाद वस्तुतः एक छद्म था। वास्तव में वह उतना ही बड़ा प्रतिक्रियावादी था, जितना और कोई साम्राज्यवादी हो सकता है। 1932 के आरंभिक महीनों में उसने अनेक भाषण दिए, जिनसे उसकी असलियत का पता चल गया। उसने मुस्लिम संप्रदायवादियों से अपील की कि वे धीरज धरें और "हमारी ईमानदारी" में विश्वास करें—हम उनके साथ हैं। इंडियन सिविल सर्विस के ब्रिटिश अधिकारियों को भी उतना ही जोरदार आश्वासन दिया गया कि उनके हित पूरी तरह सुरक्षित रहेंगे। भारत में ब्रिटिश वाणिज्यिक हितों को भी पुनः आश्वासन दिया गया कि देश की अर्थव्यवस्था पर उनके अधिपत्य को कमजोर करने के लिए कुछ नहीं किया जाएगा। अगले वर्ष के अक्तूबर में उसने घोषणा की : "इतिहास में ग्रेट ब्रिटेन और भारत के मध्य जो स्वाभाविक आर्थिक संबंध स्थापित हो गया है उससे अधिक अच्छा परमात्मा नहीं बना सकता था[17]।"

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि 15 मार्च, 1933 को जो श्वेतपत्र प्रकाशित किया गया, उसमें संविधान संबंधी ऐसे प्रस्ताव रखे गए, जिनका सप्रू और जयकर द्वारा सुझाई गई योजना से दूर का भी साम्य न था। इसके बावजूद ब्रिटिश प्रतिक्रियावादियों ने इसे अतिशय उदारवादी दस्तावेज बता कर इसकी निंदा की। जयकर को उनके रवैये की शिकायत करने के लिए बाध्य होना पड़ा। उन्होंने कहा, "प्रांतों में विधि एवं व्यवस्था का हस्तांतरण श्वेतपत्र ने किया है, परंतु जब भारतीय प्रतिनिधिमंडल पहुंचा तो दूसरे ही दिन उससे कहा गया कि वह हस्तांतरण का औचित्य सिद्ध करे।" उन्होंने इस बात का उल्लेख किया कि जब वे प्रवर समिति में भाग ले रहे थे तो उन्हें प्रतिदिन ऐसा मालूम होता था मानो वे महाजनों की सभा में भाग ले रहे हैं। भारत एक दिवालिया देश नहीं है। उसमें अपने मामलों का प्रबंध करने की योग्यता है तथा ऐसा करते समय गलती करने का उसे अधिकार है।

17. 'स्पीचीज बाई दी राइट-आनरेबुल सर सेमुअल होर', सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया, 1931–35, पृ० 16, 77

श्वेतपत्र का इस्तेमाल भारत की संवैधानिक आवश्यकता का विस्तार से पता लगाने के लिए कार्य-पत्र के रूप में किया गया। अप्रैल 1933 में भारत के वाइसराय लार्ड विलिंगडन के भावी उत्तराधिकारी लार्ड लिनलिथगो की अध्यक्षता में संसद के दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति बनाई गई। इस ब्रिटिश समिति में ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों से 27 व्यक्ति सलाहकार के रूप में लिए गए, परंतु उनका कोई संवैधानिक दर्जा न था। इनमें सप्रू और जयकर प्रमुख थे। जब से यह समिति अस्तित्व में आई, तभी से नवंबर, 1934 तक लगातार उसकी बैठकें होती रहीं। कुल 159 बैठकें हुई और 120 गवाहियां ली गईं। ब्रिटिश और भारतीय सार्वजनिक व्यक्तियों का यह महायज्ञ अंत में भारत विधेयक के रूप में परिणित हुआ, जो 24 जुलाई, 1935 को अधिनियम ग्रंथ में शामिल हुआ।

सर सेमुअल होर ने, जो विधेयक के तृतीय वाचन तक भारत कार्यालय से पृथक हो चुका था, नम्रतापूर्वक दावा किया कि "473 धाराओं और 16 अनुसूचियों को सभी नाजुक अवस्थाओं में से गुजरते देख चुका हूं" तथा "1951 भाषणों में से, जिनके 1,55,00,000 शब्दों से हैंसार्ड (संसद-कार्यवाही-पुस्तिका) के 4,000 पृष्ठ भर गए हैं, अधिकांश मैंने ही दिए हैं[18]।" 4 जून, 1935 को लोकसभा (हाउस आफ कामंस) में भाषण देते हुए उसने आश्चर्यचकित संसार को बताया कि भारत शासन अधिनियम को एक अद्‌भुत दस्तावेज क्यों कहना चाहिए। उसने कहा, "साढ़े सात वर्ष पहले, जब संसद ने सबसे पहले वैधानिक आयोग बना कर उसे रास्ते पर डाला तब यात्रा आरंभ हुई। तब से अब तक हमारे काम में न कोई विराम आया और न शिथिलता। 25,000 पृष्ठों की रिपोर्ट, 4,000 पृष्ठों की सरकारी रिपोर्ट, मेरे माननीय मित्र अवर विदेशमंत्री के और मेरे 600 भाषण सार्वजनिक रूप से बोले गए, लिखे गए और रिपोर्ट किए गए, 1,55,00,000 शब्द, वस्तुतः इतने शब्द जो संख्या में बाइबिल के अधिकृत ग्रंथ के समस्त शब्दों के 20 गुने होंगे, उस परिश्रम और कष्ट के साक्षी हैं, जो आज की इस डिबेट की पृष्ठ में हैं[19]।

श्वेतपत्र और भारतीय संवैधानिक सुधार-संबंधी संयुक्त समिति की रिपोर्ट 1933–34 की सामग्री से तैयार किए गए इस महत्वपूर्ण अधिनियम में कौन-कौन

18. वाईकाउंट टेंपिलवुड (दी राइट आनरेबुल सर सेमुअल होर) द्वारा लिखित "नाइन ट्रबल्ड ईयर्स", पृ० 100

19. "स्पीचिज बाई दी राइट-आन० सर सेमुअल होर, पृ० 137

से विषय हैं ? जिस समय इसके निर्माता अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे, उसी समय भारत में उदार विचारधारा के नेता तक यह सोचने लगे थे कि यह अंधकूप में डाल देगा । उनमें से अनेक को जयकर ने उसका संक्षिप्त विवरण सुना दिया था । 17 जनवरी, 1933 को कई उदारवादी नेताओं ने, जिनमें सर एम० विश्वेश्वरैया, सर चिमनलाल सीतलवाड, सर फीरोज सेठना, सर होमी मोदी और सर गोविंदराव प्रधान शामिल थे, एक वक्तव्य में कहा कि हमने जयकर द्वारा गोलमेज सम्मेलन की "उपलब्धियों" के बारे में दिए गए विवरण को ध्यान से सुना है ।

उन्होंने सुझाव दिया कि नवीन संविधान को कुछ न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी करनी चाहिए जैसे––प्रांतीय स्वशासन, कोष, विनियम और आर्थिक नीति के नियंत्रण सहित केंद्रीय उत्तरदायित्व, प्रतिरक्षा के नियंत्रण में बढ़ता हुआ हिस्सा तथा केवल सीमित संक्रमण काल के लिए प्रत्यक्ष रूप से भारत के हित में सनिक संरक्षण । वक्तव्य पर हस्ताक्षर करने वालों ने यह महसूस किया कि संरक्षणों का स्वरूप और आकार बहुत बड़ा था तथा पिछले सम्मेलन में जो अधिकार सुझाए गए थे, वे अभूतपूर्व थे । उन्होंने कहा कि सैनिक व्यय और सेना के भारतीयकरण के बारे में विदेश मंत्री ने जो रवैया अपनाया है उससे भारतीय लोकमत संतुष्ट नहीं है । उनका मत था कि प्रतिरक्षा के मामले में भारत को आत्म-निर्भर बनाने के लिए अधिक से अधिक 15 वर्ष का समय पर्याप्त होगा[20] । परंतु क्या मांगने से चंद्रमा मिलता है ?

भारत ने औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग की थी, परंतु उसे उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन भी नहीं दिया गया, जो उससे बहुत नीचे स्तर का था । संयुक्त संसदीय समिति ने अक्षम्य धृष्टता के साथ यह घोषित किया कि "उत्तरदायी सरकार कोई स्वचालित यंत्र नहीं है, जो नाप-तोल के हिसाब से बनाया जा सके । यह एक मशीन भी नहीं है, जो अपनी ही प्रेरणा शक्ति से चलती रहे ।" ऐसी भाषा कदाचित राजनीति की किसी प्राथमिक पुस्तक में उचित होती ; परंतु भारतीय जनता के लिए तो यह निश्चित रूप से अपमानजनक थी ।

अपने संयुक्त ज्ञापन में भारतीय प्रतिनिधिमंडल ने सुझाव दिया कि प्रतिरक्षा विभाग का प्रभारी गवर्नर-जनरल का सलाहकार गैर-सरकारी भारतीय वरीयतः

20. "द इंडियन एनुअल रजिस्टर", 1933, भाग–1, पृ० 425–26

विधानमंडल का निर्वाचित सदस्य होना चाहिए । इस सुझाव से संयुक्त समिति आग-बबूला हो गई । प्रतिनिधिमंडल के इस तर्क की भी खिल्ली उड़ाई गई कि सशस्त्र सेनाओं के "भारतीयकरण" को पूरा करने के लिए 20 या 25 वर्ष की एक निश्चित समय-सीमा निर्धारित की जानी चाहिए । समिति ने घोषित किया : "हमारे विचार से एक निश्चित अवधि में सेना के पूर्ण भारतीयकरण के लिए कोई उपबंध संविधान अधिनियम में अथवा किसी अन्य अधिनियम में शामिल करना असंभव है[21] । "ब्रिटिश लोग जो बड़े भविष्यद्रष्टा होने का दावा करते थे, यह न समझ सके कि भारत में उनके बेशकीमती समझे जाने वाले राज्य को, समिति द्वारा अपना अपमानजनक सिद्धांत प्रतिपादित किए जाने के बाद, 15 वर्ष से भी कम समय में, ग्रहण लग जाएगा । समिति ने वैदेशिक विभाग को भी भारतीयों को हस्तांतरित करने से इस आधार पर दृढ़ता से इंकार कर दिया कि वह प्रतिरक्षा विभाग से घनिष्ठ संबंध रखता है । वाइसराय को अपनी स्वेच्छाचारिता कायम रखने के लिए आध्यात्मिक सिपाहियों की आवश्यकता थी; इसलिए धार्मिक विभाग भी एकमात्र उसी के नियंत्रण में रखा गया ।

कुछ महत्वपूर्ण विभागों को विधानमंडल और लोकप्रिय मंत्रालयों के अधिकार क्षेत्र से परे रखने के अलावा, गवर्नर-जनरल को ब्रिटिश और अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के नाम पर विस्तृत अधिकार दे दिए गए । वस्तुतः उसके "विशेष उत्तरदायित्व" ने लोकप्रिय सरकार के सिद्धांत को मजाक बना दिया । कोई चीज अनिश्चित नहीं छोड़ी । अधिनियम में उपबंध बना कर यह सुनिश्चित कर दिया गया कि देशी नरेशों को, जिनमें से अधिकांश राज्यों पर इस प्रकार शासन करते थे मानो वे उनकी पारिवारिक संपत्ति हो, सभी महत्वपूर्ण मामलों में अपनी राय देने का विशेष अधिकार है । उन्हें निचले सदन (लोअर हाउस) में 125 सीटें या कुल की एक तिहाई तथा ऊपरी सदन (अपर हाउस) में 104 सीटें या कुल की $\frac{2}{5}$ दी गईं । इस अदभुत अधिनियम के निर्माताओं ने कभी यह नहीं बताया कि प्रजातांत्रिक और एकतांत्रिक एककों का कोई संघ लोकतंत्र के किसी सिद्धांत से कैसे मेल खा सकता है । प्रांतों की योजना भी वैसी ही प्रतिक्रियावादी थी, क्योंकि केंद्र में सर्वोच्च शासक की भांति गवर्नरों को भी शासन के एक विशाल क्षेत्र में विधानमंडल और मंत्रि-परिषद से स्वतंत्र कर दिया गया था ।

21. "ज्वाइंट कमेटी आन इंडियन कांस्टीट्यूशनल रिफार्म" (सत्र 1933-34) पृ० 101

भारतीय लोकमत के लगभग प्रत्येक वर्ग ने 1935 के अधिनियम की खुल कर निंदा की। कांग्रेस ने इसे गंभीर विचार के अयोग्य बता कर कूड़ाघर में डाल दिया तथा अपने इस पक्ष को दुहराया कि केवल विधिवत गठित संविधान सभा ही वैसा संविधान बना सकती है, जैसा देश चाहता है। नेहरू ने घोषणा की कि अधिनियम भारत की ओर जघन्य भावना से घूर रहा है तथा उन्होंने उसे "दासता का नया अधिकारपत्र" बताया। महात्मा गांधी ने यह कह कर कि मैंने तो इसे पढ़ा ही नहीं है, उसे और उनके निर्माताओं को बता दिया कि उनका स्थान कहां है। मुस्लिम लीग ने भी उसे रद्द कर दिया। सर सेमुअल होर ने स्वीकार किया कि उसके हाथ की कृति ने भारत में किसी को खुश नहीं किया। उसने कहा, "मुझे इस बात को जानकर दुःख हुआ हैं कि भारत का कोई सार्वजनिक व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि वह इस या अन्य किसी योजना से संतुष्ट है। संरक्षण और सावधानियां, जिन्हें हम यहां आवश्यक समझते हैं और जिनके बिना इस सदन में कोई विधेयक पास नहीं हो सकता, भारत के अधिकांश सार्वजनिक लोगों को कष्टप्रद और बाधक मालूम पड़ते हैं।" प्रोफेसर बेरीडेल कीथ और प्रोफेसर रेजिनाल्ड कूपलैंड ने एक स्वर से कहा कि अधिनियम भारत को ब्रिटेन की अधीनता से मुक्त नहीं करता। कूपलैंड ने लिखा : "औपनिवेशिक स्वराज्य का वास्तविक अर्थ है एक उपनिवेश और ब्रिटेन तथा अन्य उपनिवेशों के मध्य समानता की भावना। 1935 के अधिनियम के अधीन भारत इस समानता को प्राप्त नहीं कर सकेग। [22]"

चर्चिल ने इस पर एक प्रभावशाली स्मरणलेख लिख कर इसे "फूल-पत्तियों से बनी एक विशाल अव्यवास्थित रजाई, बौनों द्वारा बनाया गया पाखंड का दैत्याकार स्मारक" बताया। प्रांतों ने तो नए संविधान पर मरे-दिल से अमल किया भी, परंतु उसका संघीय भाग कभी अमल में नहीं आया। द्वितीय विश्व-युद्ध (1939-45) के अत्यंत विप्लवकारी वर्षों में भी, केंद्र 1919 के पुराने अधिनियम के अनुसार ही शासित होता रहा। ऐतिहासिक तथ्यों के इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि ब्रिटेन ने किसी समय अपनी इच्छा से भारत से हटने की बात नहीं सोची केवल मुखर राष्ट्रवाद और विश्वशक्तियों के मेल ने उसके भारत से निष्कासन को सुनिश्चित और संभव बनाया।

22. सर रेजिनाल्ड कूपलैंड लिखित "द कांस्टिट्यूशनल प्राब्लम इन इंडिया", भाग-1, पृ० 143

अध्याय 13

वकील

जयकर ने, जिन्हें 17 अप्रैल, 1905 को बंबई उच्च न्यायालय के अधिवक्ता के रूप में शपथ दिलाई गई थी, 32 वर्ष तक वकालत की। 1937 में वे भारत के संघीय न्यायालय में न्यायाधीश नियुक्त किए गए। उनके मित्र बैरिस्टर ए० जी० मूलगांवकर के अनुसार वे "अपीली खंड में शीर्ष स्थान पर थे"। जयकर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे और वे किसी भी केस को अत्यंत दक्षता से हाथ में ले सकते थे। परंतु उन्होंने हिंदू विधि में विशेषज्ञता प्राप्त की थी और उनकी अधिकांश आमदनी दत्तक ग्रहण संबंधी मुकदमों से होती थी। उनकी रुचि अनेक क्षेत्रों में थी, जिनमें राजनीति, दर्शनशास्त्र, साहित्य, कला और संगीत शामिल थे तथा वे इन सभी को उदारता से समय देते थे।

निश्चय ही वे वकालत पर विशेष ध्यान देते थे, परंतु वे उसके दास नह बने थे, जैसे कि उनके कुछ प्रसिद्ध समकालीन वकील बन गए थे। उदाहरणार्थ, मोतीलाल नेहरू ने नवंबर 1905 में अपने पुत्र से, जो उस समय इंग्लैंड में थे, शिकायत की थी कि मैं न्यायालय के कार्य से तंग आ गया हूं। उन्होंने स्पष्ट उत्तेजना के साथ लिखा: "मुवक्किल! मुवक्किल! मुवक्किल! एक छोटा सा दिमाग और उसके सामने इलाहाबाद उच्च न्यायालय का आधा काम।" जयकर राजनीति में भाग लेने तथा अपनी साहित्य एवं कला संबंधी रुचियों को तृप्त करने के लिए पर्याप्त समय निकाल देते थे और फिर भी, 1920–21 में ही अपनी वकालत से प्रति मास 16,000 रु० से 18,000 रु० तक कमा लेते थे—धन की यह राशि उन दिनों काफी बड़ी मानी जाती थी।

जयकर ने अपने नाना कीर्तिकर को गुरु मान कर अपने स्वभाव के अनुसार वकालत का पेशा अपनाया। वे लिखते हैं: "मेरे नाना ने 45 वर्ष वकालत की, इसमें प्रारम्भिक काल (लगभग 1862) की वह अवधि शामिल है, जिसमें उन्होंने गवर्नमेंट ला स्कूल में विधि प्राध्यापक के रूप में कार्य किया तथा बाद की वह अवधि भी शामिल है, जिसमें उन्होंने अहमदाबाद में एडवोकेट के रूप में कार्य किया। प्राध्यापक के रूप में उन्होंने कई नवयुवकों को अपना शिष्य बनाया, जिनमें से मणिभाई जसभाई और अंबालाल शंकरलाल के नाम मुझे अब भी

14—262 M. of I & B/ND/82

याद हैं। चिमनलाल सीतलवाड के पिता हरिलाल अंबाशंकर भी इसी समूह में थे, यद्यपि मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि वे मेरे नाना के शिष्य थे या नहीं।" उन दिनों, जब भारतीय राष्ट्रीयता संकीर्ण निष्ठाओं से अदूषित थी, विद्वत्ता एवं ज्ञान का हार्दिक स्वागत होता था, फिर चाहे वे कहीं से आएं। यद्यपि गुजरात और महाराष्ट्र गत अनेक शताब्दियों से अस्तित्व में हैं, फिर भी पिछले कुछ वर्षों तक उनमें उतनी उत्कट क्षेत्रीय चेतना नहीं थी, जितनी अब है। जब जयकर ने बंबई में वकालत शुरू की तब कीर्तिकर सरकारी वकील थे।

उनके दौहित्र के शब्दों में "सच्चाई, ईमानदारी, गौरव और उत्साह के लिए कीर्तिकर की बहुत प्रतिष्ठा थी।" बंबई वकील मंडल के प्रमुख सदस्य के रूप में उन्होंने "अपने पीछे एक ऐसी महान परंपरा छोड़ी, जिसे आज तक बड़े आदर और सम्मान के साथ याद किया जाता है।" यह एक प्रशंसक दौहित्र द्वारा की गई खोखली प्रशस्ति नहीं है। प्रशंसा सच्ची और यथार्थ है, क्योंकि कीर्तिकर वह व्यक्ति थे जो व्यावसायिक ईमानदारी को सब चीजों से अधिक मूल्यवान समझते थे। देशी राज्यों के बारे में उनकी धारणा अच्छी न थी, उनके पिछड़ेपन और उनके शासकों की फिजूलखर्ची, सनक और स्वेच्छाचारिता से उन्हें चिढ़ थी। उन्हें कई बार भारत के एक बड़े देशी राज्य बड़ौदा का प्रधान मंत्री पद प्रदान किया गया, परंतु उन्होंने उसे स्वीकार करने से इंकार कर दिया। 1871 में उन्होंने लिखा: "देशी राज्यों में प्रशासन की सामान्य बातें भुलाई नहीं जा सकतीं। कहा गया है कि ऐसे स्थानों में सामान्यतया षडयंत्रों के लिए उर्वरा भूमि मौजूद रहती है।"

बड़ौदा का मल्हारराव गायकवाड विचित्र सनकी था। वह अयोग्य था और अपने राज्य के अधिकांश राजस्व को अत्यंत मूर्खतापूर्ण परियोजनाओं पर व्यय कर देता था। उसने बड़े ठाट-बाट से दो तोतों का "ब्याह" रचाया और उस पर काफी सरकारी धन व्यय कर दिया। अपनी गैर-जिम्मेदारी और अयोग्यता के कारण वह गद्दी से हटाए जाने योग्य था। सर्वोच्च सत्ता ने हटाने का निर्णय भी कर लिया, परंतु उस पर ब्रिटिश रेजिडेंट कर्नल फेरे को जहर देने की कोशिश करने का आरोप लगाकर मामला बुरी तरह गड़बड़ कर दिया। यह आरोप टिक न सका और फलस्वरूप वह आयोग, जो इसकी जांच के लिए नियुक्त किया गया था, महाराजा के विरुद्ध निश्चयात्मक निर्णय न दे सका। कीर्तिकर ने, जो उसके मुख्य कानूनी सलाहकार थे, बड़ी बुद्धिमानी और योग्यता से, उसका

बचाव किया । ब्रिटिश सरकार को अपना पक्ष बदलना पड़ा और 1875 में इस मामूली से और सीधे-सादे आधार पर उसने मल्हारराव को सिंहासन से हटा दिया कि वह घोर कुशासन का दोषी है ।

अधिकार-च्युति के आदेश को अमल में लाने के लिए ब्रिटिश सैनिकों ने महाराजा के महल को घेर लिया । उसके इस अपमान और दुःख के समय कीर्तिकर उसके साथ थे । महाराजा के गले में "बड़े-बड़े सफेद और काले मोतियों का कई लड़ों का एक सुंदर हार था, जो उस समय बड़ौदा के दरबार में मशहूर था ।" कीर्तिकर को संबोधित करते हुए महाराजा ने कहा : "आपने कष्ट और कठिनाई के समय भली-भांति और निष्ठापूर्वक मेरी सेवा की है । मैं आपकी मित्रता और सहायता का पुरस्कार आपको नहीं दे सका, परंतु अब क्योंकि मैं जा रहा हूं, क्या आप मेरी कृतज्ञता और सम्मान के प्रतीक के रूप में यह हार मुझे आपको देने की अनुमति प्रदान करने की कृपा करेंगे ?"

इस प्रस्ताव की आकस्मिकता और उदारता से कीर्तिकर भौचक्के रह गए । हार बहुमूल्य था और यदि यह उनके अधिकार में आ जाता तो बेशकीमती पारिवारिक संपत्ति बन जाता । परंतु वह ईमानदार वकील प्रलोभन से ऊपर उठा और नम्रतापूर्वक महाराजा से बोला कि मुझे ऐसे कीमती स्मारक की आवश्यकता नहीं है । उसने कहा कि वकील की आचार संहिता बड़ी कठोर होती है । वकील के मेहनताने की कोई सीमा नहीं है, वह कितनी ही रकम मांग सकता है; परंतु उससे अधिक कुछ भी देना "निषिद्ध" है । अपनी आत्मकथा में इस घटना का उल्लेख करते हुए जयकर ने कहा हैं कि मैं व्यावसायिक आचार के उस ऊंचे स्तर से अति प्रभावित हुआ, जिसके लिए ब्रिटिश विधि वर्ग प्रसिद्ध है ।

वे लिखते हैं, "मैं यह और कहूंगा कि बाद में जब मैं लंदन में एक प्रतिष्ठित ब्रिटिश वकील राइट आनरेबुल लार्ड रोमर के, जो बाद में सम्राट की प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति में मेरा सहयोगी बन गया, चेंबर में शिष्य के रूप में काम कर रहा था, तो मैंने अंग्रेज विधि वर्ग की उच्च परंपराओं के अनक प्रत्यक्ष प्रमाण देखे और तब मैं उस आदर्श की महानता को पूरी तरह समझ सका, जिसने उस अवसर पर मेरे नाना के व्यवहार को नियमित किया ।"[1]

1. "द स्टोरी ग्राफ माई लाइफ", भाग 1, पृ० 9

नैतिक विचार को अधिक बल प्रदान करने के लिए, हम इसी प्रकार की एक और घटना का उल्लेख करते हैं। कश्मीर-निवासी सर तेज बहादुर सप्रू जम्मू-कश्मीर के महाराजा हरिसिंह के बड़े मित्र थे। महाराजा पर कुशासन का आरोप लगाकर एक आयोग नियुक्त किया गया, जिसने उसके अधिकारों में भारी कटौती करने की सिफारिश की। महाराजा ने लंदन में ब्रिटिश सरकार के सामने अपने केस में वकालत करने के लिए स्वभावत: अपने मित्र सप्रू से कहा। उसने "जेब-खर्च" के रूप में उन्हें दस लाख रुपये देने का प्रस्ताव किया, परंतु उस प्रतिष्ठित वकील ने उसे नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। उन्होंने ब्रीफ तो ले लिया, परंतु रुपया अपना ही खर्च किया ताकि महाराजा के साथ न्याय हो सके।[2] ऐसे ही पुरुष वास्तव में इस पृथ्वी के सुपुत्र हैं।

अपने नाना की भांति जयकर भी देशी शासकों से ब्रीफ स्वीकार कर लेते थे। पर साथ ही, वे देशी राज्यों की जनता के अधिकारों का डट कर समर्थन करते थे। परंतु क्या उनके इस कार्य से व्यावसायिक आचार के नियमों का उल्लंघन होता था? क्या वकील को केवल निरपराध व्यक्ति का ही बचाव करना चाहिए——यह प्रश्न उतना ही पुराना है जितना विधि का इतिहास तथा वस्तुत: स्वयं न्याय का इतिहास। यह ऐथेंस में डिमोस्थिनीज के दिनों में पूछा गया था तथा रोम में तब पूछा गया जब सिसिरो ने अपनी वाक्पटुता और बुद्धि कौशल से अपने श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया था। यह एक सर्वव्यापक प्रश्न है, जो हमारे समय में भी पूछा जाता है। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन में सबको यह विश्वास था कि सर एडवर्ड क्लार्क, के०सी०, किसी भी अभियुक्त का बचाव तब तक कभी नहीं करते थे जब तक वे उसकी निरापराधिता के बारे में संतुष्ट नहीं हो जाते थे परंतु वस्तुत: यह केवल एक अफवाह थी, जिसका कोई आधार न था। आस्कर वाइल्ड के केस में अपने "अत्यंत प्रशंसनीय और अनुकरणीय आचरण" से उन्होंने इस अफवाह की कलई खोल दी।

लार्ड बिर्केट ने लिखा है कि "एडवर्ड क्लार्क से भी बड़े एक वकील महान् एरस्काईन ने टाम पेन का बचाव करते समय जरी से कहा था, 'यदि कोई वकील आरोप या बचाव के बारे में सोचकर बचाव करने से इंकार कर देता

2. "तेज बहादुर सप्रु, प्रोफाइल्स एंड ट्रिब्यूट्स," पृ० 18

है तो यह समझना चाहिए कि वह स्वयं जज बन गया है और यही नहीं, निर्णय के समय से पहले ही निर्णय भी दे रहा है तथा अभियुक्त के विरुद्ध पलड़े में कदाचित् अपनी गलत धारणा का भारी प्रभाव डाल रहा है।"[3] आज भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि साम्यवादी विचारधारा के वकील उस वर्ग के लोगों से ब्रीफ स्वीकार कर लेते हैं, जिनका अस्तित्व वे शीघ्रातिशीघ्र मिटाना चाहते हैं। जब तक कोई अभियुक्त विधि की समुचित प्रक्रिया द्वारा अपराधी सिद्ध न हो जाए, तब तक वह निरपराध माना जाता है, यह सिद्धांत अटल है।

अपने नाना की भांति जयकर ने भी विधि का अध्यापन कार्य भी किया। वे बंबई के सरकारी विधि विद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हुए और वहां उन्होंने 1912 तक 6 वर्ष हिंदू विधि पर व्याख्यान दिए। उनके शिष्यों में अब भी अनेक प्रतिष्ठित वकील हैं, जो विधि के इस अंग पर उनके पूर्ण अधिकार की तथा जिस सहजता एवं सरलता से वे अपना ज्ञान उन्हें देते थे उसकी सोत्साह प्रशंसा करते हैं। उन्हें इस प्रकार का काम पसंद था परंतु यह बहुत दिन न चला क्योंकि प्राचार्य का जो स्थान उन्हें मिलने वाला था, वह अन्याय से उनके स्थान पर एक कनिष्ठ अंग्रेज को दे दिया गया। गोखले को इस घटना से बहुत क्षोभ हुआ और यद्यपि ज्ञान एवं विद्या के क्षेत्र में भी जातीय भेदभाव के इस निर्लज्ज प्रदर्शन पर वे जयकर की भांति ही क्रुद्ध थे, फिर भी वे नहीं चाहते थे कि उनका कृपापात्र यह युवक जल्दबाजी में कोई कदम उठाए। परन्तु जयकर के लिए तो यह स्वाभिमान का प्रश्न था, इस लिए त्यागपत्र वापस लेने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

वे अपने त्यागपत्र का पाठ अपनी आत्मकथा में शामिल करना चाहते थे, क्योंकि "उसमें सार्वजनिक महत्व के अनेक भाव थे, जैसे यह कि, विधि के प्राध्यापक को चाहिए कि वह अपने शिष्यों को, विधि-सम्बन्धी सिद्धांतों के अतिरिक्त, उत्साह, स्वतन्त्रता, ईमानदारी, नम्र व्यवहार, विरोधी के प्रति आदर आदि गुणों की भी शिक्षा दे, क्योंकि ये गुण केवल विधि के ज्ञान अथवा वकालत के चातुर्य से भी अधिक सफलता प्रदान करते हैं।" वे इस प्रलेख को कहीं रखकर भूल गए थे, अतः इसका उपयोग न कर सके।

इसी अवधि में वे हिन्दू विधि के प्रसिद्ध व्याख्याकार दिनशा मुल्ला के घनिष्ठ सम्पर्क में आए, जो उस समय विधि विद्यालय के प्राचार्य थे। मुल्ला उस समय

---

3 लार्ड बिर्केट द्वारा लिखित "सिक्स ग्रेट एडवोकेट्स", पेंग्विन, 1961, पृ० 40

हिन्दू विधि पर अपनी पुस्तक का प्रथम संस्करण तैयार करने में व्यस्त थे और इस काम में जयकर की सहायता चाहते थे। उन दोनों ने 'स्त्रीधन' के अध्याय पर साथ-साथ काम किया; यह हिन्दू विधि का एक कठिनतम भाग है। मुल्ला ने अपनी पुस्तक की भूमिका में जयकर के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है। उन्होंने लिखा है: "हिन्दू विधि के समस्त विषयों में 'स्त्रीधन' से अधिक कठिन कोई विषय नहीं है। इसके समुचित विशदीकरण के लिए मौलिक ग्रन्थों के सावधानीपूर्ण अध्ययन की आवश्यकता थी। मैंने अपने मित्र एम० आर० जयकर बैरिस्टर-एट-ला की, जो संस्कृत और हिन्दू विधि के अपने अगाध ज्ञान के लिए इस प्रेसीडेंसी में सुविख्यात हैं, सहायता से, इस पर पड़े गूढ़ता के पर्दे को हटाने तथा इसे सुस्पष्ट रूप में पाठक के सामने रखने की कोशिश की है।"4

हिन्दू विधि के गंभीर ज्ञान ने उच्च कोटि के वकील के रूप में जयकर को समृद्धि और प्रसिद्धि दोनों प्रदान कीं। उनका पालन-पोषण उनके नाना के घर पर हुआ था, जो एक सफल वकील होते हुए भी, हिन्दू ज्ञान की परम्पराओं में प्रशिक्षित थे। उन्हें संस्कृत से प्रेम था और देवभाषा के प्रति ऐसा ही प्रेम उन्होंने अपने दौहित्र में पैदा कर दिया। जयकर ने अपनी एम० ए० परीक्षा के लिए धर्मशास्त्र, स्मृति ग्रन्थों और पूर्व मीमांसा का अध्ययन यह जान कर किया कि बाद के वर्षों में हिन्दू विधि के विस्तृत अध्ययन के लिए यह प्राचीन साहित्य उनके लिए बहुत मूल्यवान सिद्ध होगा।

इस विचार के अतिरिक्त अध्ययन और मनन के लिए उनकी भूख कभी शान्त न होती थी। भारतीय दर्शन पर उनका प्रिय ग्रन्थ 'पूर्व मीमांसा' था। ज्ञान के इस अंग का विशेष अध्ययन उन्होंने महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध दार्शनिक के पास रह कर 12 वर्ष तक किया। उनके नाना ने इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया, केवल इसलिए ही नहीं कि यह विश्वास किया जाता था कि इससे उनकी मनन क्षमता बढ़ेगी, बल्कि इसलिए भी कि यह "अतिशय पाश्चात्यीकरण" में अवरोध का काम करेगा। कीर्तिकर के अनेक मित्र इसमें कोई बुद्धिमानी नहीं समझते थे कि वे अपने युवा दौहित्र को "पुराने ढंग के ज्ञान और विद्या" के अध्ययन में लगाएं। परन्तु व्यक्तिगत रूप से वे उसकी उपयोगिता में विश्वास रखते थे।

4. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 1, पृ० 119, 120

इस प्रकार सुसज्जित होकर जयकर ने वकालत के व्यवसाय में प्रवेश किया और इसके बावजूद कि इसमें काफी भीड़-भाड़ और प्रतिस्पर्धा थी, उन्हें अपना स्थान बनाने में कोई कठिनाई नहीं हुई । उन्होंने लिखा है कि 1916–1920 की अवधि में वकील के रूप में उनकी स्थिति "लगभग सुदृढ़" हो गई थी और अब वे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियों में बढ़-चढ़ कर भाग ले सकते थे । जयकर ने उन युवा बैरिस्टरों के कष्टों की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जिन्हें कोई ब्रीफ (केस) मिलने से पहले वर्षों प्रतीक्षा करनी पड़ती है । जब तक वे अच्छी तरह कमाने नहीं लगते, तब तक उन्हें जीवन वृत्ति चौपट होने का भय सताता रहता है । उदाहरणार्थ, एम० सी० छागला ने अपनी आत्मकथा में उस समय की अपनी मनोदशा का वर्णन किया है, जब उन्हें ब्रीफहीन (बिना मुकदमे के) बैरिस्टर के रूप में काम करना पड़ा । उन्होंने लगभग 6 वर्षों तक जिन्ना के चैम्बर में काम किया था तथा उनके ब्रीफ पढ़ने, उनके साथ कोर्ट जाने तथा उनकी बहस सुनने में काफी रुचि दिखाई थी । परन्तु उनके परिश्रम का उन्हें कोई पुरस्कार न मिला । छागला ने लिखा है : "पहले लगभग 8 वर्षों में मैंने न्यायालय में कोई प्रेक्टिस नहीं की । मेरी स्थिति बड़ी विकट थी; परन्तु इन सब वर्षों में जिन्ना ने मुझसे यह कभी नहीं पूछा कि मैं रुपये-पैसे का प्रबंध कैसे करता हूं और मेरी वकालत कैसी चलती है । मुझे अभी तक ऐसा कोई आदमी नहीं मिला, जिसके चरित्र में जिन्ना से कम मानवता हो ।[5] परन्तु, अन्त में छागला अपनी कठिनाइयों से पार हो गए और स्वतन्त्र भारत में अनेक ऊंचे पदों पर पहुंच गए ।

जयकर ने वकील मंडल के वरिष्ठ सदस्यों की स्वार्थपरता की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है । बड़े वकील समस्त कानूनी काम और उससे होने वाली आय पर एकाधिकार जमाना चाहते थे । सितंबर 1916 में, बम्बई उच्च न्यायालय के वकील मंडल के कनिष्ठ सदस्यों ने न्यायाधीशों से प्रार्थना की कि वे ऐसी योजना बनाएं, जिससे कनिष्ठ प्रेक्टिस का एक अच्छा भाग उन्हें स्वतः ही मिल जाए । इस आंदोलन में जयकर ने प्रमुख भाग लिया । वे और उनके साथी मुख्य न्यायाधीश और न्यायाधीशों से मिले तथा उनसे कनिष्ठ वकीलों में रुचि लेने का अनुरोध किया । उनके प्रति काफी सहानुभूति प्रकट की गई

5. एम० सी० छागला लिखित "रोजिज इन दिसंबर, एन आटोबायोग्राफी", भारतीय विद्याभवन, 1973, पृ० 54, 55

परंतु ठोस काम कुछ नहीं हुआ। जयकर ने लिखा है कि "कुछ बड़े वकीलों का गठजोड़ अत्यधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ।"

अपने व्यवसाय के आरंभ में जयकर ने यह भी देखा कि अनेक वकील भीरू और चापलूस हैं। उन्होंने कहा कि अंग्रेज वकीलों में "शांत गरिमा" होती है और भारतीय वकीलों में "चापलूसी से भरा पाखंड"। देश के अधिकांश उच्च न्यायालयों में समान रूप से यह कमजोरी देखने में आती थी। मोतीलाल नेहरू को इलाहाबाद उच्च न्यायालय के वरिष्ठ वकीलों को मुख्य न्यायाधीश के दर्पपूर्ण रवैये के सामने विनयपूर्वक झुक जाने की ओर ध्यान आकर्षित करना पड़ा। स्थिति में अब भी कोई सुधार नहीं हुआ है। भारत के भूतपूर्व महान्यायवादी एम० सी० सीतलवाड ने लिखा है: "असंदिग्ध रूप से कुल मिला कर व्यवसाय का विस्तार हुआ है तथा इसमें बहुत योग्य व्यक्ति शामिल हो गए हैं। अनेक नए क्षेत्रों में भी इसने अधिक अवसर प्रदान किए हैं। परंतु इसने लोक सेवा के उन आदर्शों को तिलांजलि दे दी है, जो कभी इसके सामने थे और अब यह लगभग पूरी तरह आत्मोन्नति में लगा हुआ है। व्यावसायिक आचरण का स्तर बुरी तरह नीचे गिर गया है और प्रमुख सीनियर (वकील) खुले तौर पर कर की चोरी करते हैं। उन्होंने कहा है कि इस रोग ने न्याय के प्रशासन को भी प्रभावित किया है।[6]

यद्यपि वकील के रूप में जयकर खूब चमके तथा भारत के संघीय न्यायालय के न्यायाधीश और बाद में प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति के सदस्य भी बन गए, फिर भी उन्होंने नम्रतापूर्वक यह स्वीकार किया कि वकालत में उन्हें सफलता "इतनी तेजी से और इतनी अधिक मात्रा में" मिली जितनी उन्हें आशा न थी। उन्होंने दत्तक ग्रहण विधि में विशेषज्ञता प्राप्त की थी, जिसमें मुकदमेबाजी के लिए लगभग असीमित क्षेत्र था। दत्तक ग्रहण संबंधी विवाद अधिकांशतः धनी परिवारों में ही उठते थे। अतः हिंदू विधि की इस शाखा में निष्णात वकीलों की चांदी ही चांदी थी। अधिक आय होने के साथ-साथ, अन्य दृष्टिकोणों से भी यह विषय जयकर को अधिक आकर्षक प्रतीत हुआ। असली पुत्र की जगह, जो प्रकृति ने दिया ही नहीं है, "एक काल्पित या एवजी पुत्र" को परिवार में लाने की "नवीन कल्पना" में उन्हें बड़ी रुचि थी। उन्होंने लिखा है: "मैंने

6. मोतीलाल सीतलवाड, एन० एम० त्रिपाठी द्वारा लिखित "माई लाइफ : ला ऐंड अदर थिंग्स", 1970, पृ० 622

विधि के इस विषय में विशेषज्ञता प्राप्त करने में कई वर्ष खर्च किए और मैं मानता हूं कि मेरा परिश्रम व्यर्थ नहीं गया।''

विधि पत्रिकाओं के पुराने अंकों को देखने से पता चलता है कि उनमें हिंदू विधि संबंधी ऐसे अनेक केस भरे पड़े हैं, जिनमें जयकर ने पैरवी की और अधिकांश निर्णय उन्ही के मुवक्किलों के पक्ष में हुए। यहां एक केस का वर्णन किया जाएगा, केवल इसलिए नहीं कि यह राष्ट्रीय महत्व का है, बल्कि इसलिए भी कि इसने एक योग्य और विचारशील वकील के रूप में जयकर को प्रसिद्धि प्रदान की। महान लोकमान्य तिलक का नाम ताई महाराज दत्तक ग्रहण केस के नाम से मशहूर एक मुकदमे से जुड़ गया था।

लोकमान्य बाबा महाराज के मित्र थे, जो सरदारों या कुलीन पुरुषों के परिवार से संबंधित थे। अगस्त 1897 में सरदार हैजे से पीड़ित हो गए तथा मरने से पहले उन्होंने तिलक से प्रार्थना की कि वे उनकी जायदाद के न्यासी बन जाएं और उनकी युवा विधवा पत्नी द्वारा एक अच्छे लड़के को पुत्र के रूप में गोद लिए जाने की व्यवस्था करें। विधवा ताई महाराज उस समय गर्भवती थीं। उसको लड़का पैदा हुआ जो दो महीने बाद ही मर गया। यदि वह जीवित रहता तो गोद लेने का प्रश्न ही न उठता। यह संकट तब आया जब लोकमान्य जेल में थे।

जब वे जेल से छूट कर आए तो उन्होंने अपने स्वर्गीय मित्र के मामलों में गंभीर रुचि लेना शुरू कर दिया। उन्हें पता चला कि सभी मामले पूरी तरह अस्त-व्यस्त थे। संपत्ति पर ऋणों का भारी बोझ था। महाजन लोग अपने ऋणों के शीघ्र भुगतान के लिए चिल्ल पौं कर रहे थे। तिलक के अलावा और भी न्यासी थे, परंतु स्थिति पर काबू पाने की जिम्मेदारी उन्होंने अपने ऊपर ले ली थी, शुरू-शुरू में कुछ ऋण उन्होंने अपनी जेब से चुकाए। संपदा का दिवालियापन दूर कर उसे ऋण चुकाने योग्य बनाने के लिए तिलक ने जो सुझाव दिए, उनमें स्वभावतः कठोर किफायतसारी के उपाय शामिल थे। परंतु विधवा ने, जिसकी आदत मुक्तहस्त होकर धन खर्च करने की पड़ गई थी, उनका विरोध किया। उसके चापलूस सलाहकारों ने उसे तिलक की उपेक्षा करने तथा अपनी इच्छानुसार लापरवाही से उन्हें अपने रास्ते पर चलने की सलाह दी।

इस नीति के अनुसार उसने कोल्हापुर के एक नौजवान आदमी को, जो उम्र में उससे चार साल बड़ा था, गोद लेने के लिए चुपचाप बातचीत शुरू कर

दी । तिलक और एक दूसरे न्यासी ने बिना विचारे की गई यह कार्यवाही अस्वीकार कर दी और अंत में वे हिंदू विधि द्वारा विहित धार्मिक संस्कार के अनुसार, जगन्नाथ नामक एक सात वर्ष के लड़के को गोद लेने के लिए उसे मनाने में सफल हो गए । दत्तक ग्रहण संस्कार औरंगाबाद में हुआ, जो उस समय निजाम की रियासत में था । इस अवसर पर लड़के के पिता ने अपने पुत्र को, वहां एकत्रित जनसमूह के सामने, जिसमें शास्त्रीय या हिंदू धार्मिक संस्कारों के ज्ञाता लोग भी शामिल थे, विधवा की गोद में दे दिया । उस समय दत्तक ग्रहण संबंधी आवश्यक कागजात पर विधिवत् हस्ताक्षर किए गए और गवाहों से कराए गए । इस प्रकार सभी कानूनी आवश्यकताएं भली भांति पूरी कर ली गईं ।

पूना लौटने के तुरंत बाद, ताई महाराज तिलक के विरोधियों की सलाह पर जिला न्यायाधीश और दक्षिण के सरदारों के ऐजंट आष्टन के पास गईं और उसके समक्ष लोकमान्य के खिलाफ एक लिखित शिकायत पेश की, जिसमें उसने यह आरोप लगाया कि औरंगाबाद में उससे जबरदस्ती दत्तक ग्रहण कराया गया था। आष्टन ने, जो एक चालाक और उचित-अनुचित विचारहीन साम्राज्यवादी गुर्गा था, उस महापुरुष पर, जिससे, अन्य कट्टर नौकरशाहों की भांति वह घृणा भी करता था और डरता भी था, प्रहार करने के अवसर का स्वागत किया । लोकमान्य तथा अन्य न्यासियों को दिए गए प्रमाणपत्र को रद्द करने और नए न्यासी नियुक्त करने के लिए की गई की प्रार्थना तुरंत स्वीकार कर ली गई । उसके अतिरिक्त, आष्टन ने इस घटना में तिलक के इरादे और ईमानदारी पर कटाक्ष करना तथा उन पर सात अपराधों के लिए मुकदमा चलाने का आदेश देना आवश्यक समझा । इनमें सबसे गंभीर झूठी गवाही, जालसाजी और ताई महाराज को गैर-कानूनी ढंग से उसके वाड़े या हवेली में बंद रखने का अपराध था ।

इस दोषारोपण की गंभीरता से तिलक और वस्तुतः समस्त भारत विचलित हो गया, क्योंकि इसमें एक ऐसे व्यक्ति के नैतिक आचरण पर गंभीर लांछन लगाया गया था, जो अपने पूर्ण सदाचार के लिए प्रसिद्ध था । आष्टन के चतुरता-पूर्ण हस्तकौशल से दत्तक ग्रहण के केस में जो मोड़ आया उससे नौकरशाही हर्षोन्मत्त हो गई और आष्टन को 'हीरो' कहा जाने लगा । उच्च न्यायालय ने निचले न्यायालय के निर्णय को रद्द कर दिया तथा तिलक को प्रत्येक अपराध

से निर्दोष घोषित कर दिया, जिससे यह सिद्ध हो गया कि उन पर जो आरोप लगाए गए थे, वे सब मनगढ़न्त थे ।

फौजदारी के मुकदमे से छुट्टी पाने के बाद तिलक ने दत्तक ग्रहण के दीवानी मामले पर ध्यान देना शुरू किया । यह केस एक अधीनस्थ न्यायालय में चला और जूलाई 1906 में उनके पक्ष में निर्णीत हुआ । तब तक ताई महाराज, जिसका उन्मादपूर्ण व्यवहार इस महापुरुष को एक लम्बे और विनाशकारी मुकदमें में फसाने के लिए जिम्मेदार था, मर चुकी थी, परन्तु उससे भी उन्हें कोई राहत नहीं मिली थी । उनके विरोधियों ने निचले न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील कर दी ।

जयकर ने उनकी ओर से पैरवी की । केस महत्वपूर्ण था; इसलिए केस लड़ने के लिए एक वरिष्ठ वकील जार्ज लाउंडीज किया गया । जयकर ने उसकी सहायता की । बाद में लाउंडीज को 'नाइट' बना दिया गया । वह वाइसराय की प्रबन्ध परिषद में विधि-सदस्य तथा तत्पश्चात् सम्राट की प्रिवी कौन्सिल की न्यायिक समिति में जयकर का सहयोगी बन गया । जिस दिन ताई महाराज केस की सुनवाई शुरू हुई लाउंडीज उपस्थित न हो सका, इसलिए अपने मुवक्किल की ओर से बहस करने की जिम्मेदारी जयकर पर आ गई । परन्तु वे ऐसी आकस्मिकता के लिए तैयार थे और उन्होंने बहुत अच्छी तरह अपनी जिम्मेदारी निभाई । उन्होंने एक पखवाड़े तक बड़ी विद्वत्ता से अपील कार्य का संचालन किया परन्तु साथ ही बड़े संयम से काम लिया क्योंकि केस से तिलक का नाम जुड़ा हुआ था ।

उन्हें इस बात का ध्यान रखना पड़ा कि विख्यात नेता पर कोई लांछन न लगने पाए; साथ ही उन्हें विशेष सावधानी इसलिए बरतनी पड़ी क्योंकि तिलक उपस्थित न थे । जयकर केस जीत गए । बाद में लोकमान्य ने अपनी भावनाओं का इतना ध्यान रखने के लिए उन्हें धान्यवाद दिया जिससे उन्हें और भी सन्तोष हुआ । तिलक दृढ़तापूर्वक मुकाबला करने वाले थे । उन्होंने लन्दन में प्रिवी कौंसिल में अपील की और अन्त में 1915 में केस जीत गए । बदला लेने वाली नौकरशाही ने उनके मार्ग में इतने रोड़े अटकाए कि वे फरवरी 1917 तक सम्पदा को अपने संरक्षित जगन्नाथ के अधिकार में न दे सके । मुकदमेबाजी ने तिलक के स्वास्थ्य और वित्त दोनों को वस्तुतः चौपट कर दिया और, जैसा कि उनके जीवनी लेखक ने कहा है, उनको मृत्यु को निकट ला दिया ।[7]

7. डी०वी० तहमनकर द्वारा लिखित "लोकमान्य तिलक", पृ० 101-06, 308

हिन्दू परिवारों में दत्तक सम्बन्धी विवादों और उनके विनाशकारी परिणामों पर जयकर के विचार सार्वकालिक सत्य हैं। यदि कोई 16 वर्ष की विधवा किसी चालीस वर्ष के पुरुष को, जिसके बच्चे भी हों, अपना पुत्र बना ले, तो उससे कितना अनर्थ हो सकता है, उसकी ओर उन्होंने ध्यान आकर्षित किया है। ऐसा ही एक उदाहरण देते हुए उन्होंने लिखा है : इस प्रकार आरंभ में जो मां-बेटे का सम्बन्ध बना था, वह बाद में स्वाभाविक कामप्रेरणा शक्ति के कारण दूसरे ही मधुर सम्बन्ध में बदल गया। उन्होंने कहा है कि "अनेक घरेलू, सामाजिक और नैतिक आधारों पर आपत्तिजनक दत्तक मामलों का भी मुझे समर्थन करना पड़ा"।

जयकर ने इस बात पर खेद व्यक्त किया कि गोद लेने का रिवाज हिन्दुओं में मुकदमेबाजी का प्रधान स्रोत बन गया है। उन्होंने इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया कि बम्बई उच्च न्यायालय के विचाराधीन मुकदमों के दैनिक सूचियों में हिन्दुओं के पारिवारिक झगड़ों से सम्बन्धित अपीलों की संख्या अधिक होती है। उन्होंने लिखा : "मैंने सोचा कि हिन्दू पारिवारिक जीवन के अन्याय और अत्याचार से मुक्ति पाने के इन व्यक्तिगत प्रयत्नों में प्रतिदिन और प्रतिवर्ष हिन्दू धन और शक्ति का कितना भयंकर अपव्यय हो रहा है।" एक वकील ने, जो हिन्दू समाज की इस रुग्ण दशा से लाभ उठाकर मालामाल हो गया था, जयकर से कहा कि जब तक हिन्दू स्त्री का भाग्य वैसा ही रहेगा जैसा कि वह सदियों से रहा है और हिन्दू विधि के नियमों की अनिश्चितता जारी रहेगी, तब तक वकालत का पेशा करने वाले लोगों को जीविकोपार्जन के बारे में कोई डर नहीं है।

जयकर ने अनेक राजनीतिक अभियोगों में भी पैरवी की। होमरूल की मांग को देश-द्रोह समझा गया तथा तदनुसार ही देशभक्तों को दंडित किया गया। न्यायिक अधिकारी राष्ट्रगीत "वन्देमातरम्" से भी जलते थे। उत्तर भारत में राजनीति में भाग लेने वाले वकीलों के सामने वकालत से वंचित होने का गंभीर खतरा उपस्थित हो गया। ऐसे अनेक मामलों की अपीलें बम्बई उच्च न्यायालय में की जाती थीं और जयकर बचाव की ओर से पैरवी करते थे। उन्होंने लिखा है कि अभियुक्त की ओर से वकालत करते समय उन्हें बड़ी सावधानी और धैर्य से काम लेना पड़ता था। उन्होंने यह चेतावनी भी दी है कि कठिन परिस्थितियों

में किसी को अपना आपा नहीं खोना चाहिए। युवा वकीलों को भी उन्होंने हितकर सलाह दी है। वकालत का व्यवसाय शुरू करने वाला यह कभी नहीं जानता कि अवसर कब आकर उसका दरवाजा खटखटाता है। उसे चाहिए कि जब भी वह आए उसे दोनों हाथों से पकड़ने के लिए सदा तैयार रहे और इस प्रकार जीवन में अपनी सफलता निश्चित करे।

जयकर प्रभूत वक्तृत्व कला संबंधी शक्ति से संपन्न थे, जिसका विचारपूर्वक सदुपयोग वे न्यायालय में अपनी बहस के दौरान किया करते थे। वस्तुत: वे विविध प्रतिभाओं के धनी थे। वे हर चीज को आसानी से समझ लेते थे। उनकी विद्वत्ता, विधि का गंभीर ज्ञान और परिश्रम, पर्याप्त चातुर्य और सहज भाव के साथ अपने मुवक्किलों की ओर से वकालत करने में उनकी सहायता करते थे। उन्होंने अपने केस को विधि-पूर्वक और आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने की कला सीख ली थी।

वकील के रूप में जयकर की अर्हताओं के संबन्ध में अपने विचार बताते हुए ए० जी० मूलगांवकर कहते हैं, "बम्बई उच्च न्यायालय में और वास्तव में समस्त भारत में, उन दिनों वे सबसे अधिक प्रभावशाली वकीलों में से एक थे। दूसरे सर चिमनलाल सीतलवाड थे। यदि जज उनसे बहुत से प्रश्न एक साथ पूछता था और धृष्टता भी दिखाना चाहता था, तो भी जयकर घबराते नहीं थे। वे निश्चय ही प्रत्युत्तर देते थे, परन्तु बड़ी शिष्टता से। उनके उत्तर में शिष्टता का भाव विद्यमान रहता था।" मूलगांवकर ने लिखा है कि कभी-कभी जयकर की बहस आलंकारिक व्याख्यान का रूप ले लेती थी तब जज खुश होकर मुस्कराने लगता था। यह जयकर के लिए एक चेतावनी होती थी। वे तुरन्त अपने विषय पर आ जाते थे और अपने स्वाभाविक चातुर्य एवं पूर्णता से अपने केस को प्रस्तुत करने लगते थे।

जयकर का राजनीति-प्रेम कदाचित् उनके विधि-प्रेम के बराबर ही था। महात्मा गांधी ने न्यायालयों के बहिष्कार के लिए वकीलों का जो आह्वान किया था, उसकी अनुक्रिया में उन्होंने 24 जनवरी, 1921 को वकालत छोड़ दी। अनेक प्रमुख वकीलों तथा अन्य व्यक्तियों ने जयकर के इस कार्य पर खेद प्रगट किया। एक वरिष्ठ वकील जमशेद कांगा ने, जो पहले बम्बई उच्च न्यायालय के महाधिवक्ता बने और बाद में न्यायाधीश वर्ग में शामिल हो गए, कहा कि जयकर

के निर्णय ने न्यायालय को "एक मंजे हुए वकील और उत्कृष्ट गुणों वाले एक अभिवक्ता" से वंचित कर दिया है। 31 अक्तूबर को मुख्य न्यायाधीश मेकल्योड ने उन्हें लिखा कि उच्च न्यायालय में मुझे आपकी कमी बहुत खलती है।

जयकर का कार्य जितना गांधीजी की इच्छाओं के प्रति उनकी श्रद्धा से प्रेरित था, उतना ऐसी किसी धारणा से नहीं कि इससे दूसरों को ऐसा ही त्याग करने की प्रेरणा मिलेगी अथवा राष्ट्रीय स्वाधीनता का हित संवर्धन होगा। उन्होंने महात्माजी को साफ-साफ लिखा कि असहयोग का और शिक्षा-संस्थाओं, विधान-मंडलों और न्यायालयों के बहिष्कार का आपका कार्यक्रम निरर्थक रहेगा। अपनी वकालत बन्द करने के विकल्प के रूप में उन्होंने प्रस्ताव किया कि मैं पूरे तीन वर्ष तक प्रतिमास अपने व्यवसाय से होने वाली समस्त आय राष्ट्र हित में समर्पित करता रहूंगा। दान की राशि लगभग 6 लाख रु० होती।

न्यायालय बहिष्कार का निश्चय करने से पहले मोतीलाल नेहरू ने भी गांधीजी के सामने ऐसा ही एक प्रस्ताव रखा था। उन्होंने वायदा किया था कि यदि मुझे वकालत करने दी गई तो मैं तिलक स्वराज्य फंड को प्रतिवर्ष एक लाख रु० देता रहूंगा। परन्तु गांधीजी ने कह दिया था कि मैं "रिश्वत" लेता ही नहीं। जयकर ने, जिन्होंने अपनी वकालत केवल निलम्बित की थी, 16 जून, 1922 को फिर शुरू कर दी। सात दिन बाद उन्होंने बम्बई शहर में अपने क्षेत्र की कांग्रेस समिति के अध्यक्ष पद से त्याग पत्र दे दिया।

जयकर अपने व्यवसाय के कारण देशी रियासतों और उनके शासकों के निकट सम्पर्क में आ गए। यदि पूछा जाए तो अनेक महाराजाओं के साथ उनका अनुभव अच्छा न था। जब हत्या के अपराधी एक धनी व्यक्ति के बचाव के लिए जयकर एक रियासत में गए, तो उसके शासक ने उन्हें चाय पर बुलाया और नम्रतापूर्वक कहा कि मैंने जजों को यह हिदायत दे दी है कि वे जान-बूझकर केस को लम्बा कर दें ताकि आपको अधिक फीस मिले। इस रहस्योद्घाटन से बम्बई का वह बैरिस्टर भौचक्का रह गया। उसने सोचा कि यदि ऐसी कुटिलता से न्याय का गला घोंटा जा सकता है, तो उसे पाने के लिए प्रयत्न करना ही निरर्थक है। जयकर को महाराजा की यह बात पसन्द नहीं आई और दूसरे ही दिन वे रियासत छोड़ कर चले आए।

सभी रियासतों और उनके शासकों के विषय में जयकर की ऐसी तुच्छ धारणा न थी। उन्होंने बड़ौदा के सयाजीराव गायकवाड की भूरि-भूरि प्रशंसा की, जिनका प्रशासन ब्रिटिश भारत के प्रशासन से भी कुछ बातों में अच्छा था। इसी प्रकार, देशभक्ति के लिए तथा अंग्रेजों के चले जाने के बाद देश में स्थिरता लाने के कार्य में अपनी भूमिका अदा करने की इच्छा के लिए, ग्वालियर के माधवराव सिन्धिया का उन्होंने बहुत आदर किया। सर एम० विश्वेश्वरैया की दीवानी में मैसूर द्वारा की गई प्रगति के बारे में उन्होंने सोत्साह लिखा। उन्होंने कहा कि यदि भारतीय दक्षतापूर्वक अपने मामलों की व्यवस्था करने में अपनी योग्यता सम्बन्धी विश्वास को पुनः पाना चाहते हैं, तो उन्हें उस रियासत में जाना चाहिए। उन्होंने कहा : "मैसूर में शिवसमुद्रम् प्रपात जैसे स्थान की एक यात्रा से ही यह पता लग जाएगा कि भारतीय अभिकरणों द्वारा बड़े से बड़े विशाल उपक्रम को किस प्रकार चलाया जा सकता है।" उन्होंने बताया कि रियासत की उपलब्धियां इतनी प्रभावशाली हैं कि वे "गोरों" के मन में भी ईर्ष्या पैदा करती हैं।

परन्तु जयकर रियासती जनता को नहीं भूले थे। अधिकांश रियासतों के शासक सनकी थे और उनका शासन प्रजा को पीड़ा देने वाला था। 1924 में रियासत के सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने शासकों से कहा था कि वे अपनी प्रजा को निःशुल्क शिक्षा का लाभ प्रदान करें तथा सबकी भलाई के लिए अपनी-अपनी रियासतों के वाणिज्यिक एवं आर्थिक साधनों का उनके विकास की दृष्टि से व्यापक सर्वेक्षण करें। उन्होंने कृषि-विकास की गति बढ़ाने पर बल दिया। उन्होंने रियासतों में प्रेस की स्वतन्त्रता के अभाव पर खेद प्रकट किया तथा वहां समाचार पत्रों की स्थापना एवं उनके निर्बाध प्रचार की सलाह दी।

जयकर ने स्वभावतः रियासतों में न्याय-प्रशासन के स्तरों को ऊंचा उठाने पर विशेष बल दिया। उन्होंने नरेशों से अपील की कि वे न्यायाधीशों के गौरव एवं ईमानदारी की रक्षा करें। उन्होंने कहा : "प्राचीन भारत में भी न्यायाधीश का स्थान राजा के बाद दूसरा था तथा प्रधानमन्त्री ही प्रायः न्यायाधीश भी होता था। मैंने एक रियासत में एक ऐसा मुख्य न्यायाधीश देखा है, जो अपना निर्णय सुनाने के लिए तब तक प्रतीक्षा करता था, जब तक शासक उसे देख नहीं लेता था और अपनी स्वीकृति नहीं दे देता था।"[8] उन्होंने अनुरोध किया कि

8. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 2, पृ० 283-87

न्यायपालिका को कार्यपालिका के नियन्त्रण से बाहर रखना चाहिए तथा उसके सदस्यों को साहस एवं स्वतन्त्रता के गुणों का विकास करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

ब्रिटिश भारत में तथा अपनी ही रियासतों में राष्ट्रवाद के दबाव से अनेक शासकों को अपने प्रशासनों में सुधार के प्रश्न पर गंभीरता से ध्यान देने को बाध्य होना पड़ा। उनमें से कुछ तो भौगोलिक दृष्टि से संभव होने पर कुछ रियासतों का संघ बनाने के लिए भी राजी थे। दक्षिणी रियासतें, जो संख्या में 18 थीं और सभी बम्बई प्रान्त में स्थित थीं, ऐसे साहसिक संवैधानिक प्रयोग के लिए एक आदर्श समूह थीं। केवल प्रबुद्ध देशी नरेश और जनता ही नहीं, सर्वोच्च सत्ता भी ऐसी परियोजनाओं में रुचि रखती थी।

उदाहरणार्थ, कोल्हापुर और दक्षिणी रियासतों के रेजिडेंट कर्नल सी० जी० एन० एडवर्डस् ने 2 जून, 1943 को, इन रियासतों के शासकों को एक गुप्त पत्र लिखा, जिसमें उसने "अधिकाधिक मेल और प्रशासनिक सहयोग" बढ़ाने की आवश्यकता की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया। उसने लिखा : "सुदृढ़ प्रशासन की दो प्रमुख आवश्यकताएं हैं—अच्छी न्याय पालिका और विधि एवं व्यवस्था की सुरक्षा। मेरा सुझाव है कि इन दोनों प्रमुख आवश्यकताओं को पहले लिया जाए तथा इन्हें (1) या तो कोल्हापुर और दक्षिणी रियासतों के लिए अथवा, यदि कोल्हापुर अलग करना चाहे तो केवल दक्षिणी रियासतों के लिए एक सम्मिलित उच्च न्यायालय की स्थापना करके और (2) समस्त दक्षिणी रियासतों में पुलिस कार्य एवं प्रशिक्षण को समन्वित करने के लिए एक संयुक्त पुलिस परामर्शदाता की नियुक्ति करके पूरा किया जाए"। कर्नल एडवर्डस् ने बताया कि उनमें प्रशासनिक सहयोग का क्षेत्र इन दोनों "सिद्धान्तों" के आधार पर धीरे-धीरे बढ़ाया जा सकता है और अन्त में शिक्षा तथा अन्य सभी कल्याण विभागों के प्रशासन को उनमें शामिल किया जा सकता है।[9]

दक्षिणी रियासतों के लिए ब्रिटिश रेजिडेंट की योजना अनुंशसित किए जाने से बहुत पहले जयकर ऐसे ही विचार प्रकट कर चुके थे। जनवरी 1932 में उन्होंने उनके शासकों को सुझाव दिया था कि देश की राजधानी में घटित होने वाली घटनाओं से अपने आपको अवगत रखने के लिए वे दिल्ली में अपना सचिवालय

9. "जयकर पेपर्स" (अप्रकाशित), डेकन स्टेट्स, फाइल 718

स्थापित करें। उन्होंने उन्हें स्मरण दिलाया कि पेशवाओं के समय में पूना में ऐसी व्यवस्था थी। प्रत्यक्षतः उन्हें कर्नल एडवर्डस् का प्रस्ताव पसन्द था और दक्षिणी रियासतों के शासकों की प्रार्थना पर उन्होंने उन सबके लिए एक ही उच्च न्यायालय की योजना बनाई।

बड़ी रियासतों के शासक भी कानूनी सलाह और पथ-प्रदर्शन प्राप्त करने के लिए जयकर के पास आते थे। महाराजा भरतपुर भारी मुसीबत में पड़ गए थे। उन्होंने असावधानी से एक एसा भाषण दे डाला था, जिसका आशय था कि उनकी रियासत किसी सत्ता से पराजित नहीं हुई, अंग्रेजों से भी नहीं। वे युवा थे, सुशिक्षित थे और जयकर के अनुसार, देशभक्त और उदार थे। उनका भाषण, जो दशहरे के महान् पर्व पर विजयदशमी के दिन सेना के समक्ष दिया गया था, भारत सरकार के राजनीतिक विभाग को अच्छा न लगा। यदि महाराजा अपने अविवेकपूर्ण भाषण पर पश्चाताप प्रकट कर देते तो शायद आंधी के झोंके से बच जाते, परन्तु वे अपने कुछ दुर्बुद्धि सलाहकारों के उकसाने से धृष्टतापूर्वक अपनी बात पर अड़े ही रहे। जब मामला बहुत बिगड़ गया तो दिसम्बर 1927 के अन्त में वे परामर्श के लिए जयकर के पास पहुंचे।

जयकर ने सावधानी से केस का अध्ययन किया; उन्हें मालूम हुआ कि शासक को गलत सलाह दी गई है। उन्हें यह निष्कर्ष निकालने में देर न लगी कि जिस भाषण से वाइसराय क्षुब्ध हो गया था, वह अत्यन्त अबुद्धिमत्ता पूर्ण था। "एक अधिक अनुभवी शासक, यह जानते हुए कि उनकी बदनामी के अनेक गुप्त रहस्य हैं, ऐसे भाषण से बच सकता था।" महाराजा के कुछ सलाहकार उन्हीं के वर्ग के थे। वे महाराजा को सरकार का प्रतिरोध करने की सलाह देते थे तथा साथ ही "उनकी समस्त गतिविधियों की सूचना गुप्त रूप से दिल्ली में अधिकारियों के पास भेजते रहते थे।" अलवर के महाराजा, जिनका आगे उल्लेख किया जाएगा: उनमें से एक थे।

जयकर को मालूम हुआ कि महाराजा भरतपुर ने दुर्बुद्धि के कारण जांच आयोग से मिलने से इन्कार कर दिया है। यदि वे स्वीकार कर लेते तो उस आयोग में उनके दो सरदार होते और उनकी प्रार्थना पर विचार किया जा सकता था। जयकर एक सप्ताह महाराजा के महल में रहे। उन्होंने सोचा कि महाराजा के लिए अब केवल एक ही रास्ता रह गया है कि वे दिल्ली जाएं और वाइसराय से

15—262 M. of I & B/ND/82

बातचीत करें। इस प्रयोजन के लिए दोनों राजधानी गए, परन्तु लार्ड इर्विन ने, जो जयकर के प्रति सद्भाव रखता था, महाराजा से मिलने से इन्कार कर दिया। बाद में, उन्हें अपनी रियासत का शासन चलाने के लिए एक अंग्रेज आई० सी० एस० अधिकारी को स्वीकार करना पड़ा। इस केस में सुभाष चन्द्र बोस के भाई शरद चन्द्र बोस जयकर के कनिष्ठ (जूनियर) वकील थे।

महाराजा अलवर भारत के सनकी नरेशों के दल के असन्दिग्ध नेता थे। यद्यपि उनमें धर्मनिष्ठा या ज्ञान लेशमात्र भी न था फिर भी अपने को वे गर्व से 'श्री राजऋषि देव' कहते थे। उन्होंने अपनी रियासत का धन बर्बाद कर दिया था और उन्हीं की विशेष रेलगाड़ी उन्हें छोड़ कर चली गई थी। घोर कुशासन के कारण उन्हें 22 मई, 1933 को अपनी रियासत से निर्वासित कर दिया गया था और उसका प्रशासन एफ० वी० वाइली को सौंप दिया गया था, जिसको वाइसराय ने सब अधिकार दे दिए थे। यही वह असाधारण व्यक्ति था, जिसने भरतपुर के युवा शासक को शक्तिशाली राजनीतिक विभाग का विरोध करने की सलाह दी थी।

जयकर ने महाराजा अलवर का एक स्पष्ट शब्दचित्र प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं : "वे (महाराजा) डरावनी चितवन, क्रूर आंखों और दृढ़ निश्चय के व्यक्ति थे तथा उनके वर्ग की राय में, उनमें इतना अधिक छल-छिद्र भरा था, जितना और किसी में न था। इस समय वे अपनी क्रूरता के लिए विख्यात थे। एक बार उनकी प्यारी घोड़ी ठोकर खाकर गिर पड़ी। इसके दंडस्वरूप उन्होंने उसे जिन्दा ही जलवा दिया। यह कहना कठिन है कि यह कहानी सही है या गलत परन्तु वे जहां भी जाते थे यह दुष्कथा भी क्रूरता से उनका पीछा करती थी। "जयकर का ऐसे आदमी से पाला पड़ गया था।"

महाराजा चाहते थे कि वे उनके वकील बनें तथा उनकी बहाली के केस में वकालत के लिए इग्लैंड जाएं। जयकर ने ऐसा करना स्वीकार कर लिया। 21 अप्रैल, 1934 को उन्होंने महाराजा को लिखा, "हमारी मुख्य मांग यह होगी कि या तो आपको बहाल किया जाए या इसके विकल्प में, आपके केस की जांच की जाए तथा या तो किसी जांच आयोग के समक्ष अथवा किसी अन्य प्रकार से आपको अपने बचाव का अवसर दिया जाए, इस प्रकार आपको न्यायालय की भांति ही बचाव के सब अधिकार बखूबी मिल जाएंगे। मुझे विश्वास है कि यदि इस प्रकार

प्रार्थना कि गई तो अधिकारी अधिक समय तक उसका विरोध नहीं कर सकेंगे।" अपने मेहनतान के बारे में जयकर ने कहा कि मैं मेहनताना प्रतिदिन के हिसाब से लूंगा, एक मुश्त नहीं, क्योंकि वह अत्यधिक हो जाता है। महाराजा बहुत मायावी थे, महीनों बाद उन्होंने जयकर से पूछा कि आप "हिन्दू हित में लड़ने के लिए" इंग्लैंड कब जा रहे हैं ? जयकर ने उत्तर दिया कि मैं इतना व्यस्त हूँ कि ऐसी कोई जिम्मेदारी नहीं ले सकता।[11]

वकील और अधिवक्ता दोनों के रूप में जयकर की योग्यता दूर-दूर तक सबको ज्ञात थी। वकालत शुरू करने के बाद, एक दशाब्दी से कुछ ही अधिक समय में, उन्हें न्यायाधीश बनने का अवसर मिल गया। 17 जून, 1926 को, बम्बई के मुख्य न्यायाधीश ने उन्हें बम्बई उच्च न्यायालय में न्यायाधीश का स्थायी पद प्रदान किया और यह वायदा किया कि कुछ वर्ष बाद उनके सेवानिवृत्त हो जाने पर उन्हें मुख्य न्यायाधीश बना दिया जाएगा। जयकर इस पद को स्वीकार कर लेते परन्तु राजनीति का मोह इतना प्रबल था कि दबाया नहीं जा सकता था। उनकी अस्वीकृति से, जो 21 जून को भेजी गई, मुख्य न्यायाधीश बहुत नाखुश हुआ। बाद में, 1937 में जब जयकर दिल्ली में संघीय न्यायालय की न्यायपीठ में बैठने के लिए राजी हो गए, तो भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश ने, जो सेवानिवृत हो चुके थे, लन्दन से एक तार भेजकर उनके विवेकपूर्ण कदम के लिए उन्हें बधाई दी। उसने कहा, "मुझे प्रसन्नता है कि आप पिछली गलतियों को सुधार रहे हैं"।

मुख्य न्यायाधीश के प्रस्ताव को जयकर द्वारा अस्वीकार कर देने से महात्मा गांधी को बहुत प्रसन्नता हुई। उन्होंने 10 जुलाई, 1926 को उन्हें लिखा : "मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि न मालूम किस प्रकार यह विश्वास किया जाने लगा है कि तुम्हारी मुझ से नहीं पटती और मैं तुमसे रुष्ट हो गया हूं। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि मुझे ऐसा एक भी उदाहरण याद नहीं है जब मैं रुष्ट हो गया होऊं अथवा मैंने तुम्हारी या तुम्हारे काम की उपेक्षा की हो। इसके विपरीत, जब से मैंने तुम्हें जाना-पहचाना है, तभी से मैंने तुम्हारी देशभक्ति और शिष्टता की कद्र की है। तुम्हारे विषय में मैंने जो धारणा बना रखी है, उसमें हमारे मतभेदों से तनिक भी अन्तर नहीं आया है। यदि तुम्हें न्यायाधीश का पद प्रदान करने और तुम्हारे

11. "जयकर पेपर्स" (अप्रकाशित), अलवर, फाइल 98

द्वारा उसे अस्वीकार कर देने के बारे में समाचार पत्र जो कुछ कहते हैं, वह सही है, तो यह वैसा ही हुआ है, जिसकी मुझे तुम से आशा थी।''

17 जुलाई को जयकर ने इस प्रकार उत्तर दिया : ''महात्माजी, मेरे द्वारा न्यायाधीशत्व अस्वीकार कर दिए जाने के सम्बन्ध में आपने जो भाव व्यक्त किए हैं, उनके लिए मैं आप को धन्यवाद देता हूं। मुझे यह पढ़ कर प्रसन्नता हुई कि ऐसा करके मैंने आपकी आशा के अनुरूप ही कार्य किया है। परन्तु मैं आपको यह भी बता दूं कि यद्यपि मैं अनुक्रिया वादी हूं, फिर भी यह पहला अवसर नहीं है, जब मैंने सरकार के ऊंचे-ऊंचे सम्मानों को ठुकराया है।''[12]

सरकार असन्दिग्ध रूप से जयकर को राजनीति से हटाना चाहती थी ताकि उनकी गतिविधियां उसके लिए अधिक परेशानी पैदा न करें। 1927 में व्यापक रूप से यह अफवाह फैलाई गई कि उन्हें विधि सदस्य का पद दिया जाएगा। यह पद उनके सहयोगी सर तेज बहादुर सप्रू ने 1920 से 1923 तक सुशोभित किया था। परन्तु साइमन कमीशन का विरोध करने के कारण जयकर को यह पद नहीं दिया गया।

15 सितम्बर, 1928 को जयकर ने अपनी डायरी में लिखा कि सर गिरिजाशंकर वाजपेयी ने मुझ से पूछा कि क्या आप दक्षिण अफ्रीका में राइट आनरेबुल वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री के बाद भारत का एजेन्ट बनना पसन्द करेंगे। उन्होंने कहा कि वाइसराय इस बात के लिए उत्सुक हैं कि मैं यह प्रस्ताव स्वीकार कर लूं। क्रियाशील व्यक्ति होने के कारण, जयकर अपना देश छोड़ कर एक ऐसे दूरवर्ती देश में नहीं जाना चाहते थे जो उनकी मातृभूमि के प्रति शत्रु भाव रखने के लिए कुख्यात था। 25 सितम्बर को वे वाइसराय से मिले और देश छोड़ने में अपनी असमर्थता प्रकट की, कुछ तो इसलिए कि उनकी माता का स्वास्थ्य ठीक न था और कुछ इसलिए कि वे राजनीतिक जंगल में विचरना नहीं चाहते थे। 5 अक्तूबर को उन्होंने बम्बई के गवर्नर के माध्यम से प्रस्ताव की अस्वीकृति भेज दी।[13]

जयकर ने भारत के संघीय न्यायालय के न्यायाधीश का पद स्वीकार कर लिया और अक्तूबर, 1937 में काम करना शुरू कर दिया। यह पद तो बहुत ऊंचा था,

12. "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 3 (अप्रकाशित) अध्याय 16, पृ० 125-27
13. वही, पृ० 172-78

परन्तु काम कम था। जयकर उस दुर्लभ वर्ग के व्यक्तियों में थे, जो काम में ही सुख का अनुभव करते हैं और आराम या कम काम को हराम समझते हैं। वे संघीय न्यायालय से अलग हो गए तथा जनवरी 1939 में प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति में चले गए। कुछ ऐसी दहलाने वाली घटनाओं के कारण, जो उनकी मातृभूमि के भाग्य और भविष्य को बदल सकती थीं, उन्होंने अपना अधिकांश समय राजनीति में लगाने का निर्णय कर लिया। तदनुसार मार्च 1942 में उन्होंने न्यायिक समिति से त्यागपत्र दे दिया। उन घटनापूर्ण वर्षों में, अपने देश को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए उन्होंने अकेले तथा सप्रू के सहयोग से जो भूमिका निभायी उसका वर्णन अगले अध्याय में विस्तार से किया जाएगा।

अध्याय 14

युद्ध एवं स्वतन्त्रता

(1) कांग्रेसी सरकारें

सन 1935 के अधिनियम के अनुसार कांग्रेस को शासन की जिम्मेदारी स्वीकार करने की कोई बाध्यता न थी। कौंसिल प्रवेश और पदग्रहण के सम्बन्ध में उसका रवैया अव्यावहारिक और अदूरदर्शितापूर्ण था। महात्मा गांधी ब्रिटिश भारतीय विधानमंडलों से इसलिए घृणा करते थे, क्योंकि उन्हें लोकप्रिय विधान सभाएं कहना अपने आप को धोखा देना था। नए अधिनियम से उनके प्रतिनिधि मूलक स्वरूप में निश्चय ही कोई सुधार नहीं हुआ था और न, जैसा कि हमने पहले एक अध्याय में देखा है, उससे मन्त्रियों को कोई वास्तविक अधिकार ही मिले थे।

फिर भी, 1936–37 के चुनावों में भारी विजय प्राप्त करने के बाद कांग्रेस ने ब्रिटिश भारत के 11 प्रान्तों में से आठ में अपने मन्त्रिमंडल बनाने का निश्चय कर लिया। इस परिणाम पर पहुंचने में नेहरू ने अच्छी भूमिका निभायी। अपने अनुयायियों को शासन की जिम्मेदारी संभालने की अनुमति देने से पूर्व, गांधीजी ने वाइसराय से यह आश्वासन मांगा था और प्राप्त किया था कि जब तक कांग्रेसी मंत्रिमंडल "संविधान के अनुसार काम करें" तब तक गवर्नर उनके काम में कोई हस्तक्षेप न करें। जुलाई 1937 में बम्बई, मद्रास, मध्य प्रान्त, संयुक्त प्रान्त, बिहार और उड़ीसा में कांग्रेसी मन्त्रिमंडल बन गए। कुछ दिनों बाद उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रान्त भी उसके नियन्त्रण में आ गया तथा अक्तूबर 1938 में उसने असम में संयुक्त मन्त्रिमण्डल बना लिया।

अधिनियम देश की मौलिक समस्याओं से जूझने के लिए अधिक स्वतन्त्रता न देता था; परन्तु जनता की भलाई के काम करने के लिए लोकप्रिय मन्त्रिमंडलों के उत्साह में सन्देह नहीं किया जा सकता था। कर्तव्यपालन की उच्च भावना का प्रदर्शन करते हुए उन्होंने सार्वजनिक वित्त के स्वीकृत सिद्धान्तों का आदर किया और उनकी रक्षा की तथा सरकार को उलटने के अपनी पार्टी के आदेश को अमल में लाने की ओर तनिक भी झुकाव प्रकट नहीं किया। अधीर आदर्शवादी नेहरू तक

ने यह स्वीकार किया कि अल्पावधि के कांग्रेस मंत्रिमंडलों की उपलब्धियां उल्लेखनीय थीं।

ब्रिटिश नौकरशाही ने उसी पार्टी के आदेश पर, जिससे वह सबसे अधिक घृणा करती थी, काम करने में अपनी तौहीन की भावना पर विजय पा ली। बम्बई के खेर–मन्त्रिमंडल के एक सदस्य के० एम० मुंशी ने लिखा है कि इंडियन सिविल सर्विस के ब्रिटिश अधिकारी कांग्रेस सरकारों को प्रसन्नता से सहयोग देते थे तथा "अत्यन्त सावधानी के साथ ईमानदारी से व्यवहार करते थे।" उत्तरदायित्व और निष्पक्षता की जिस ऊंची भावना से कांग्रेस सरकारें प्रेरित थीं, उसका साक्ष्य कम से कम दो गवर्नरों ने दिया है। उसमें से एक संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर हैरी हेग ने बाद के वर्षों में घोषित किया कि कांग्रेस ने प्रशासन के कठोर तथ्यों को समझ लिया है। अपनी बारी पर सेवाएं भी लोकतांत्रिक शासन के आशय को समझ गईं।

पद ग्रहण करके कांग्रेस एक ऐसी कार्य-सारणी से बंध गई जिससे वह भली-भांति बच सकती थी। परन्तु जब एक बार जिम्मेदारी स्वीकार कर ली, तो उसे छोड़ने से पहले उसे बहुत सावधानी से काम करने की आवश्यकता थी। द्वितीय विश्व युद्ध, जो सितम्बर 1939 में शुरू हुआ, प्रथम विश्व युद्ध से अधिक विनाशकारी था। इसकी अपार विनाश–क्षमता विश्व के स्वरूप और मनुष्य के भाग्य को बदल सकती थी। प्रथम विश्व युद्ध ने यूरोप के कुछ प्राचीन और अत्यन्त शक्तिशाली राजतन्त्रों को धराशायी कर दिया था तथा साम्यवाद के लिए रास्ता साफ कर दिया था। प्रलयंकर विनाश की अपनी क्षमता के कारण द्वितीय विश्व-युद्ध और भी बड़े विश्वव्यापी परिवर्तन का था। शक्तियों का गठबन्धन, जोकि तानाशाही शक्तियों को हराने के लिए था, भारत और कांग्रेस के लिए एक सबक था। युद्ध में मित्रों के रूप में अमरीका, रूस और चीन के कूद पड़ने से, ब्रिटेन की साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में जीवित रहने की आशा वस्तुतः बहुत क्षीण हो गई थी। इसके अतिरिक्त, पूर्ण युद्ध के लिए ब्रिटेन के सम्पूर्ण साधनों की पूर्ण लामबन्दी की आवश्यकता थी जिससे ब्रिटेन के एक दिवालिया देश बनने की संभावना भी कम न थी। कोई भी फटेहाल राष्ट्र अपने साम्राज्यवादी गौरव की रक्षा नहीं कर सकता। ब्रिटिश शासकों ने चाहे कुछ भी कहा और चाहे कुछ भी किया, द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ होते ही भारत में उनके राज्य को ग्रहण लग गया। अब कांग्रेस को राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़ने की आवश्यकता न रही।

इस तथ्य के अलावा और भी ऐसी बहुत सी बातें थीं, जिनके कारण कांग्रेस की अकस्मात, मंत्रिमंडलीय पदों को रिक्त करने के बजाय उस पर बने रहना चाहिए था। पहले युद्ध के अनुभव से यह अन्तिम रूप से सिद्ध हो गया था कि भारत में ब्रिटिश शासक युद्ध प्रयत्न के नाम पर देश–दोहन के बारे में नीति–अनीति का कोई विचार नहीं रखते। देश के स्वल्प साधनों को भारी मात्रा में युद्ध की मशीन में झोंक देने से लोगों की गरीबी और बढ़ गई। जनता की स्वतन्त्रता पर भारी हमले किए गए तथा सेना के लिए रंगरूट लेने के वास्ते कठोर कदम उठाने में अधिकारियों को कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। युद्ध के पीछे–पीछे भूख और बीमारियां आईं, जिनके कारण भारी संख्या में मौतें हुईं। 1918 में अकेले इन्फ्लुएंजा ने ही 50 लाख लोगों की जानें ले लीं।

यह स्पष्ट था कि द्वितीय विश्व युद्ध 1914-18 के युद्ध से अधिक भयंकर और अधिक लम्बा होगा। यह भी स्पष्ट था कि व्हाइटहाल ब्रिटेन की युद्ध-पेशियों को मजबूत करने के लिए भारत के साधनों को चूसने में कोई कोर-कसर नहीं रखेगा। अप्रशिक्षित व्यक्ति भी आने वाली चीजों की शक्ल को देख सकता था। ग्यारह प्रान्तों में जनप्रतिनिधि सरकारें थीं, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने भारत को एक सर्व-क्षयकारी युद्ध में झोंकने से पहले उससे राय लेने तक की परवाह न की। गांधी और नेहरू जैसे महान लोकप्रिय नेताओं की भी उपेक्षा की गई, यद्यपि दोनों ने युद्ध के आरंभ में ही यह कह दिया था कि उनकी सहानुभूति पश्चिमी लोकतन्त्रों के साथ है। भारत एक उपनिवेश था और उसके विदेशी राजाधिराज युद्ध और शान्ति के प्रश्न पर भी उसके नेताओं को राय लेना आवश्यक नहीं समझते थे। उन्होंने यह लोक-तान्त्रिक प्रक्रिया इसलिए नहीं अपनाई, क्योंकि वे जन सहयोग के बदले में भारत की राजनीतिक मांग को पूरा करने के लिए कुछ भी न करने को कृतसंकल्प थे।

ऐसे नाजुक समय पर कांग्रेस द्वारा सत्ता त्याग देने से यह अवश्यम्भावी था कि विदेशी नौकरशाही के लिए जनता के जीवन और साधनों के साथ इच्छानुसार कुछ भी करने की खुली छूट मिल जाती। इसके अलावा, यह भी निश्चित था कि इससे सम्प्रदायवाद को अपनी इच्छानुसार चलने के वास्ते निर्णायक शक्ति प्राप्त करने के लिए असीमित क्षेत्र मिला जाता। 1936–37 के चुनावों में मुस्लिम लीग के पिछड़ जाने से और किसी भी प्रान्त में अपना मन्त्रिमंडल न बना पाने से जिन्ना के अहंकार को बड़ी ठेस पहुंची थी। वस्तुतः उन वर्षों में, मुस्लिम लीग की अपेक्षा कांग्रेस के रजिस्टरों में मुस्लिम सदस्यों की संख्या अधिक थी। जिन्ना ने

कांग्रेस सरकारों पर अत्यन्त आश्चर्यजनक आरोप लगाते हुए उनके विरुद्ध एक रोषपूर्ण एवं हिंसक आन्दोलन चलाया। मुस्लिमों पर कांग्रेस के अत्याचारों का पता लगाने और रिपोर्ट देने के लिए लीग ने तथाकथित जांच–समितियां बनाईं। परन्तु भारत या यूरोप के किसी निष्पक्ष व्यक्ति ने उनके 'निष्कर्षों' पर ध्यान नहीं दिया।

कांग्रेस के विरुद्ध लीग के मिथ्या कथन के आन्दोलन को सत्य सिद्ध करने के लिए संयुक्त प्रान्त की मन्त्रिमंडलीय घटना को अत्यन्त विकृत रूप में पेश किया गया। इस आरोप का वस्तुतः कोई आधार नहीं है कि कांग्रेस इस प्रान्त में मुस्लिम लीग के सहयोग से लोकप्रिय मन्त्रिमंडल बनाने के लिए दिए गए अपने वचन से मुकर गई थी। संयुक्त प्रान्तीय लीग के नेता चौधरी खालिकुज्जामान कांग्रेस के प्रबल पक्षपाती थे। पद–ग्रहण के प्रश्न पर कांग्रेस के साथ समझौता करने का उनका प्रस्ताव जिन्ना तथा उस प्रान्त के उनके प्रतिक्रियावादी अनुयायियों ने रद्द कर दिया। झांसी–जालौन–हमीरपुर निर्वाचन क्षेत्र में मुस्लिम सीट के लिए उपनिर्वाचन में लीग के उम्मीदवार की ओर से धर्म की दुहाई देकर कांग्रेस के उम्मीदवार की हार सुनिश्चित की गई। "धर्म में आस्था रखनेवालों" को मजहबी झंडे के नीचे एकत्रित करने के लिए "अल्लाह–हो–अकबर" और "इस्लाम खतरे में है" के नारे लगाए गए। मौलाना शौकत अली जैसे व्यक्ति तक ने यह स्वीकार किया कि कांग्रेस के उम्मीदवार को हराने के लिए लीग को ऐसे धर्मोन्मादपूर्ण नारों पर निर्भर रहना पड़ा।

इस प्रकार, संयुक्त प्रान्त में या और कहीं संयुक्त मन्त्रिमंडल बनाने के लिए कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मध्य समझौते का कोई समान आधार ही न था। संयुक्त प्रान्त की घटना को जो अत्यधिक तूल दिया गया, उस पर टिप्पणी करते हुए प्रोफेसर एम० मुजीब ने लिखा है, "यह बड़ी रद्दी राजनीति है, जिसने एक या दो मन्त्रि पदों सम्बन्धी मतभेद को राष्ट्रीय संघर्ष का रूप दे दिया, जिसमें एक वर्ग समझने लगा कि वह अपने जीवन के लिए लड़ रहा है।"[1] इस विद्वान और निष्पक्ष व्यक्ति ने स्पष्ट कहा है कि लीग नेताओं की दिलचस्पी अपने आप में ही थी, मुस्लिम जनता में नहीं। उसे भूख की तड़प और बेरोजगारी से बचाने के लिए कुछ

1. सी० एच० फिलिप्स और मेरी डारीन वेनराइट द्वारा संपादित "द पार्टीशन आफ इंडिया : पालिसीज एंड पर्सपैक्टिव्स, 1935–1947", जार्ज एलिन एंड अनविन, 1970, पृ० 409, 411

नहीं किया गया। प्रोफेसर मुजीब ने लिखा है : "इसके बजाए, इस वर्ग की कुंठा और निराशा को राजनीतिक उद्देश्यों के लिए प्रयोग किया गया जिससे उसके सदस्यों को कोई लाभ नहीं हुआ, बल्कि, इसके विपरीत लीग के दुष्प्रचार से उभरी भावनाओं के कारण उनकी जान और माल को और भी खतरा पैदा हो गया।"

जिन्ना और उनके अनुयायियों को सच्चाई और ईमानदारी से कोई मतलब न था। वे सभी संभव उपायों से मुस्लिम जनता को कांग्रेस से अलग करने पर तुले हुए थे। कांग्रेस नेता अपने संगठन के विरुद्ध लीग के मिथ्या प्रचार से पूर्णतया हतप्रभ थे। उन्होंने जिन्ना से पूछा कि वे स्पष्ट बताएं कि उन्होंने क्या गलती की है? परन्तु वे कुछ उत्तर न दे सके। जिन्ना जो छल-कपट के हथकंडों में माहिर थे, यह जानते थे कि गाली और निन्दा से उन्हें पर्याप्त राजनीतिक लाभ मिल सकता है। जिस व्यक्ति ने जीवन भर मुस्लिम जनता और मुल्लाओं से नफरत की, उसे अपने नकारात्मक महत्व की वृद्धि सुनिश्चित करने के लिए अब दोनों की आवश्यकता महसूस हुई।

उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के नेताओं तक की खुली निन्दा करके सार्वजनिक विवाद को निम्न स्तर तक पहुंचा दिया। जुलाई 1937 में नेहरू के एक वक्तव्य पर टिप्पणी करते हुए जिन्ना ने कहा : 'मैं उस प्रेसीडेंट के बारे में क्या कह सकता हूं जो हर चीज में हस्तक्षेप करते हैं ? ऐसा प्रतीत होता है कि वे दुनियाभर की जिम्मेदारी अपने कन्धों पर लिए फिरते हैं और अपने काम की चिन्ता न करके दूसरों के हर काम में टांग अड़ाते रहते हैं।"[2] जिन्ना ने मौलाना आजाद की, जिन्हें विज्ञ पुरुषों ने पिछले दो-सौ वर्षों में इस देश में पैदा हुए इस्लाम धर्म के बड़े से बड़े विद्वानों में से एक बताया है, यह कह कर खिल्ली उड़ाई कि वे "कांग्रेस के तमाशा दिखाने वाले प्रेसीडेंट" हैं।[3] उन्होंने महात्मा गांधी को भारत की आबादी के केवल एक भाग के अर्थात् हिन्दुओं के नेता बता कर छुट्टी पा ली और इस प्रकार बड़ी चतुराई से अपने आपको मुस्लिम सम्प्रदाय का एक मात्र प्रवक्ता घोषित कर दिया। कांग्रेस के लगभग सभी प्रमुख नेता, जिनमें महात्मा गांधी, नेहरू, सुभाषचंद्र बोस और राजेन्द्र प्रसाद शामिल थे, उनके पास यह जानने के लिए गए कि आखिर उनकी शिकायत है क्या ? शीघ्र ही उन्हें यह पता चल गया कि वे व्यर्थ ही असम्भव के पीछे पड़े हैं।

2. "सम रीसेंट स्पीचेस एंड राइटिंग्ज आफ मि० जिन्ना", पृ० 22
3. आसफ ए० ए० फैजी द्वारा लिखित: "ए माडर्न एप्रोच टू इस्लाम" एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1963, पृ० 112-13

अक्तूबर 1939 में कांग्रेस मन्त्रिमंडलों ने ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत की राजनीतिक मांग न मानने के विरोध में त्यागपत्र दे दिए जिससे जिन्ना को मौका मिल गया। कांग्रेस यह नहीं चाहती थी कि अंग्रेज तुरन्त भारत छोड़कर चले जाएं। युद्ध शुरू होने के बाद उसने अपने एक प्रस्ताव में कहा : "भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित किया जाना चाहिए तथा उसके इस स्तर को अधिक से अधिक मात्रा में वर्तमान स्वरूप में ही प्रदान करना चाहिए।" चर्चिल, जिसने युद्धकालीन प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण करने के तुरन्त बाद आंग्ल-फ्रांसीसी राजनीतिक एवं आर्थिक संघ बनाने का ऐतिहासिक प्रस्ताव किया था, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की इस अति तुच्छ मांग को भी स्वीकार करने के लिए तैयार न था। एन्थोनी ईडन ने अपने संस्मरण में लिखा है कि इस देश के विषय में चर्चिल के विचार पक्के थे। उसने लिखा है : "चर्चिल का कहना था कि यदि भारत को खोकर युद्ध जीता तो कितने दुःख की बात होगी।"[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट था कि यदि आजादी का प्रश्न पूरी तरह ब्रिटेन की इच्छा पर छोड़ दिया जाता तो भारत उसकी जंजीरों से मुक्त होने की आशा नहीं कर सकता था। परन्तु युद्ध की मजबूरियों ने उस देश को ऐसा कोई विकल्प नहीं दिया। युद्ध-आरंभ होने से पहले ही भारत की स्वाधीनता के विषय में विवेकशील अमरीकियों के मत का भलीभांति पता चल गया था। विश्वव्यापी संकट शुरू होते ही इस देश के भविष्य में अमरीका की रुचि बढ़ गई और अधिक व्यापक हो गई। राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने, जिसने अगस्त 1941 में, चर्चिल के साथ अटलान्टिक चार्टर पर हस्ताक्षर किए, इस बात के लिए आग्रह किया कि भारत को भी इसकी शर्तों के दायरे में लाना चाहिए। अमरीका के विदेशी मन्त्री कार्डेल हल ने घोषणा की : "निजी बातचीत में राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री चर्चिल के साथ भारत के विषय में उसी प्रकार, बहुत खुल कर बात की, जिस प्रकार कि मैं ब्रिटिश राजदूत हैलिफेक्स के साथ कर रहा था।"

अन्य अमरीकी नेताओं ने भी बेरोक-टोक भारत के हित का समर्थन किया, उन्होंने ब्रिटिश नेताओं से "वह सभी कुछ कहा जिसकी भारत की स्वाधीनता का सबसे अधिक उत्साही समर्थक आशा कर सकता था और हमें यह विश्वास हो गया कि अमरीकी जनता हमारे साथ है"।[5] अमरीका के अतिरिक्त,

4. "द राइट आनरेबुल दी अर्ल आफ ईवान, दी ईडन मेमोयर्स" कैसिल, पृ० 383
5. "द मेमोयआफर्स कार्डेल हल," भाग 2, हाडर एंड स्टाउटन 1948, पृ० 1483

मार्शल च्यांगकाईशेककी अधीनता में चीन तथा स्टालिन की अधीनता में रूस ने भी अनुरोध किया कि भारतीय स्वाधीनता को युद्धोत्तर व्यवस्था के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार किया जाए। कांग्रेस को इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए आन्दोलन की कोई आवश्यकता न थी क्योंकि अपने शक्तिशाली मित्रों, विशेष रूप से अमरीका के दबाव की उपेक्षा करना ब्रिटेन के लिए असंभव था। उसका अस्तित्व अमरीका के सहयोग पर निर्भर था। इसलिए कांग्रेस अपनी शक्ति का अपव्यय कर रही थी। उसके नेता वर्तमान से चिपके हुए थे और उन्होंने भविष्य की संभावनाओं और संकटों से आंखें मूंद रखी थीं।

भारत और विश्व के इतिहास में सबसे अधिक भाग्य-निर्णायक वर्षों में, कांग्रेस के स्वेच्छा से राजनीतिक निर्वासन में चले जाने के कार्य का सबसे अधिक लाभ जिन्ना और उनकी पार्टी को मिला। उन्होंने अपने अनुयायियों से आह्वान किया कि वे 22 दिसम्बर, 1939 को, कांग्रेसी शासन के "अत्याचार, उत्पीड़न और अन्याय" से मुक्ति के दिवस के रूप में मनाएं। उन्होंने वाइसराय से एक लम्बा पत्र-व्यवहार किया, जिससे उनका भारतीय मुस्लिम सम्प्रदाय का "कायदे-आजम" बनना सुनिश्चित हो गया। 23 फरवरी, 1940 को उन्होंने लिनलिथगो से इस प्रकार का "निश्चित आश्वासन मांगा कि भारत के भावी संविधान अथवा किसी अन्तरिम व्यवस्था के विषय में, हमारी स्वीकृति के बिना, अन्य किसी पार्टी से कोई वायदा नहीं किया जाएगा।" जिन्ना की मांग चाहे कितनी ही अनुचित थी, वाइसराय और भारतमन्त्री एल० एस० एमरी को उसे मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई, क्योंकि वे कांग्रेस को नष्ट करने तथा अन्य देशभक्तों की आवाज को दबाने के लिए तुले बैठे थे।

मार्च 1940 का विभाजन प्रस्ताव व्हाइटहाल के पूर्ण समर्थन से संपन्न जिन्ना-लिनलिथगो गठबंधन का स्वाभाविक परिणाम था। यह एक अस्पष्ट किन्तु भयानक प्रस्ताव था; यह भारत की क्षेत्रीय अखंडता के विनाश का सूचक था। वाइसराय की अगस्त 1940 की घोषणा में भारत की जनता को बताया गया कि उसे केवल जिन्ना की शर्तों पर ही राष्ट्रीय स्वाधीनता मिल सकती है। इस आरोप को मिथ्या सिद्ध करना असम्भव है कि काँग्रेस के प्रति एकमात्र ब्रिटिश विद्वेष ही जिन्ना को इतना महत्व दिलाने के लिए जिम्मेदार था। वाइसराय की प्रबंध-परिषद के गृहसदस्य सर रैजिनाल्ड मेक्सवैल ने कांग्रेस को "शत्रु" बताया था।

वाइसराय स्वयं उपनिवेशवाद की समाप्ति के विरुद्ध था। लार्ड प्रिवीसील और फिर चर्चिल मंत्रिमंडल में उपप्रधान मंत्री क्लीमेंट एटली जैसे व्यक्ति ने लिनलिथगो के अड़ियलपन की निन्दा की। 2 फरवरी, 1942 के एक ज्ञापन में एटली ने वाइसराय के ब्रिटेन के भारत और बर्मा के साथ संबंध के वर्णन का प्रबल विरोध किया। लिनलिथगो के अनुसार, दोनों साम्राज्य में इसलिए थे क्योंकि वे विजित देश हैं, जो बलपूर्वक वहां लाए गए हैं, जो हमारे अधिकार से वहां रखे गए हैं और जिनका अब तक हमारे संरक्षण में रहना ठीक रहा है।" एटली ने इस वर्णन को "वाइसराय का निकृष्ट साम्राज्यवाद" बताया और कहा कि यह केवल गलत ही नहीं है, "घातक रूप से अदूरदर्शितापूर्ण और आत्मघाती भी है।" वह इस बात के लिए तैयार न था कि इस भौंडेपन को स्वतंत्रता और लोकतंत्र की पवित्र भावना के पर्दे से ढक दिया जाए।[6]

कांग्रेस ने अगस्त 1940 के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया क्योंकि इसमें भारतीयों को रंचमात्र भी सत्ता के हस्तान्तरण की व्यवस्था न थी। इसका एकमात्र उद्देश्य प्रतिक्रियावादी तत्वों, विशेष रूप से मुस्लिम लीग को कांग्रेस तथा देश की अन्य प्रगतिशील ताकतों के विरुद्ध भड़काना था। भारत मंत्री ने वाइसराय से कहा कि मुझे इस बात से बड़ी आन्तरिक प्रसन्नता हुई कि अगस्त 1940 का प्रस्ताव "अधिकाधिक मुस्लिम और अल्पसंख्यक अधिकारों का चार्टर बनता जा रहा है और समझा जा रहा है। यदि मैं किसी दिन इसका लिनलिथगो चार्टर के रूप में उल्लेख करूं तो चकित न होना।"[7]

सभी देशभक्तों की भांति जयकर भी इन घटनाओं से क्षुब्ध थे। जिस कांग्रेस को वे कभी "देश की सबसे प्रमुख, सबसे अधिक सुदृढ़ और सबसे अधिक सुसंगठित राजनीतिक पार्टी" बता चुके थे, उसका भारत के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण क्षणों में सत्ता का स्थान खाली करके प्रभावहीन हो जाना उन्हें बिलकुल अच्छा न लगा। जिन्ना की पृथकतावादी और विघटनकारी राजनीति का विरोध करने के लिए उन्होंने अपनी समस्त तर्कशक्ति और व्याख्यानकला का उपयोग

6. "द ट्रांसफर आफ पावर", 1942–47; , कान्स्टीट्यूशनल रिलेशंस बिटवीन ब्रिटेन एंड इंडिया, भाग 1 ; "द क्रिप्स मिशन", प्रधान सम्पादक निकोलस मैनसर्ग, हर मेजेस्टीज स्टेशनरी आफिस, 1970, पृ० 111

7. वही, पृ० 9

किया। उन्होंने चेतावनी दी कि यदि सम्प्रदायवाद को कोई रियायत दी गई तो देश में भीषण संकट उपस्थित हो जाएगा।

पूना में 3 अगस्त, 1941 को भाषण देते हुए जयकर ने सुझाव दिया कि गांधी जी और कांग्रेस को सत्याग्रह आन्दोलन वापस लेने तथा प्रांतों में जनता के प्रतिनिधियों की सरकारें पुन: कायम करने के लिए मनाया जाए। मुस्लिम लीग के आन्दोलन की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए उन्होंने कहा: "इसका तरीका बहुत ही चतुराई से भरा और छल-छद्मपूर्ण है तथा इसका मुख्य उद्देश्य इस आशा से हिन्दू समुदाय में आतंक पैदा करना है कि हिन्दू आतंकित होकर पाकिस्तान के निर्माण को रोकने के लिए मुसलमानों को अधिक से अधिक अधिकार दे डालें। इसलिए हिन्दुओं की बुद्धिमानी इसी में है कि वे इस चिल्ल-पौं से आतंकित न हों तथा इसके साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा कि होना चाहिए।" उन्होंने जिन्ना की भी खबर ली, जिन्होंने भारत की एकता के विरुद्ध मुस्लिम लीग के आन्दोलन की निन्दा करने के लिए जयकर की कटु आलोचना की थी। जयकर ने कहा: "मि०जिन्ना ने मुझ पर यह दोष लगाया है कि मैंने अपने राजनीतिक विचार बदल लिए हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि छोटे दिमाग छोटी चीजों से सन्तुष्ट हो जाते हैं परन्तु क्या वे यह नहीं जानते कि खाली दिमाग अपने सिवाय और किसी चीज से सन्तुष्ट नहीं होते।" उन्होंने बताया कि "14 सूत्रों को छोड़कर पाकिस्तान की मांग करना इतना बड़ा परिवर्तन है, जितना न मैंने कभी देखा न स्वीकार किया।"

जयकर ने अनेक राजनीतिक सभाओं में, जिन्हें संबोधित करने के लिए उन दिनों उन्हें बुलाया जाता था, पाकिस्तान की मांग का सूक्ष्म विश्लेषण किया। 14 अगस्त, 1941 को बम्बई में दक्षिण भारतीयों की विशाल सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा: "पाकिस्तान की मौलिक कल्पना इतिहास में भी मिथ्या है और अनुभव में भी मिथ्या है।" 1940 के विभाजन प्रस्ताव की अस्पष्टता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए उन्होंने कहा कि योजना का स्वरूप जानने के लिए अनेक प्रयत्न किए गए हैं। मैं यह नहीं समझ सका कि घटक तत्व एक ही समय में स्वशासी और सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न कैसे हो सकेंगे। हंसी के बीच उन्होंने कहा: "मुझे बताया गया है कि योजना के मुख्य व्याख्याता कहते हैं कि अभी यह बताने का समय नहीं आया है कि यह क्या चीज है।" उन्होंने मत व्यक्त

किया कि विभिन्न समुदायों में ऐसा कोई भाषायी या जातीय अन्तर नहीं है, जिससे मुस्लिम लीग की भारत-विभाजन की मांग का औचित्य सिद्ध हो सके।

1 अक्तूबर, 1941 को मद्रास में एक महत्वपूर्ण सार्वजनिक सभा को संबोधित करते हुए भी उन्होंने इसी विषय का विवेचन किया। उनके श्रोताओं में वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री, टी० आर० वेंकटराम शास्त्री, आदम हाजी मुहम्मद सेट, महाराजा पीतपुरम और कुमारराज सर एम० ए० मुथया चेट्टियर थे। जयकर का मत था कि 1892 में ही जब अल्पसंख्यकों को धर्म के आधार पर राजनीतिक प्रतिनिधित्व दिया गया, देश में "फूट के बीज" बो दिए गए थे। उन्होंने कहा कि द्विराष्ट्र-सिद्धांत साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के विनाशकारी सिद्धांत का ही सीधा परिणाम था। उन्होंने बताया कि यह सिद्धांत ढाई वर्ष पहले तब जनता के सामने आया जब कांग्रेस ने, मेरे विचार से, अपनी मूर्खता से सत्ता छोड़ दी और मैं नहीं जानता कि इसका अन्त कहां होगा।"

उनका विश्वास था कि भारत में सांप्रदायिक मतभेदों को बुरी तरह तूल दिया जा रहा है। किसी भी हालत में भारत ही अकेला ऐसा देश नहीं है, जिसे ऐसी समस्या का सामना करना पड़ रहा है। उन्होंने कहा कि कनाडा, आस्ट्रेलिया, मिस्र और न्यूजीलैंड के सामने भी भारत जैसी ही समस्याएं हैं। भारत की सांप्रदायिक समस्या के लिए उन्होंने अंग्रेजों को दोष दिया। उन्होंने कहा : "तुम्हीं (अंग्रेजों) ने इस देश में यह विष बेल बोई, तुम्हीं ने यह भस्मासुर पैदा किया।" उन्होंने ऐसे नेतृत्व के पोषण के लिए मुस्लिम लीग की निन्दा की जो तर्क और समझौते की बातें ही नहीं करता। वह "छुईमुई" की तरह है। उन्होंने पाकिस्तान की मांग को अत्यंत अयुक्तियुक्त बताया और कहा कि इसी कारण कोई समझौता नहीं हो पाता।

उन्होंने सरकार पर भी उतने ही जोर से प्रहार किया। कांग्रेस ने उसे अनेक बार नैतिक समर्थन प्रदान किया था, परन्तु वह अस्वीकृत कर दिया गया। उन्होंने कहा : "वह इस अर्थ में बिलकुल स्वीकार नहीं किया गया कि भारत का धन तो लिया गया; आदमी भी लिए गए, युद्ध सामग्री भी ली गई, परन्तु भारत का नैतिक समर्थन लेने की वास्तव में परवाह भी नहीं की गई; इसीलिए स्थिति बिगड़ती चली गई।" महात्मा गांधी का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि वे अपने को ईश्वर का भेजा हुआ अहिंसा का दूत समझते हैं। यदि वे इस

सिद्धांत में सफल रहे तो विश्व को लाभ होगा, परन्तु यदि असफल हुए तो भारत का नाश हो जाएगा। उन्होंने कहा कि अभी तक गांधीजी का सिद्धांत भारत को स्वाधीनता के निकट नहीं ले जा सका।

जयकर मुस्लिम लोग के तुष्टीकरण के सर्वथा विरोधी थे। वे सी० राजगोपालाचारी के इस प्रस्ताव से नाखुश थे कि उस पार्टी की अतिवादी मांगों को स्वीकार करके उसके साथ समझौता कर लिया जाए। जनवरी 1942 में उन्होंने ऐसे सभी प्रयत्नों का विरोध करने के लिए हिन्दू महासभा के नेता वी० डी० सावरकर को एक गोपनीय पत्र लिखा। पत्र में लिखा था, "शायद आपको यह मालूम है कि राजगोपालाचारी ने पहले ही सार्वजनिक रूप से यह कह दिया है कि मुस्लिम मांग को मानने के लिए वे किसी भी सीमा तक जाने को तैयार हो जाएंगे तथा जिन्ना को प्रधान मंत्री बनाने के साथ-साथ 50 : 50 का आधार भी स्वीकार कर लेंगे। मैं इस मामले में राजगोपालाचारी की उदार भावनाओं को व्यक्तिगत रूप से जानता हूं; इसलिए मैं उनकी मीटिंग के परिणाम को शंका की निगाह से देखता हूं। मैं सोचता हूं कि हिन्दू महासभा के नेता के नाते आपका यह कर्तव्य है कि यदि आपको 50 : 50 का आधार अस्वीकार हो तो आप अपना दृष्टिकोण कांग्रेस नेताओं तथा सामान्य रूप से जनता के सामने रखने के लिए तुरंत कदम उठाएं।"

पत्र में यह भी लिखा था : "यदि मैं तुम्हारी जगह होता तो मैं इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी या राजगोपालाचारी से भी मित्र के रूप में मिलता ताकि उन्हें इस बात का सही-सही पता चल जाता कि यदि 50 : 50 का आधार स्वीकार किया गया तो हिन्दू महासभा का रवैया क्या होगा।....अक्सर हिन्दू-हितों की उपेक्षा की जाती है और मैं इस बात के लिए चिन्तित हूं कि वर्तमान मामले में ऐसा नहीं होना चाहिए।"[8]

जयकर ने इस मामले को यहीं नहीं छोड़ा। उन्होंने स्वयं 21 जनवरी, 1942 को राजगोपालाचारी को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने राजनीतिज्ञ के रूप में जिन्ना का स्पष्ट शब्द-चित्र प्रस्तुत किया। उनके अप्रकाशित पत्र से उद्धरण नीचे दिए जाते हैं : "आज के समाचार पत्रों में यह समाचार छपा है कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या के हल के लिए आप शीघ्र ही जिन्ना से मिलने वाले हैं और यह

8. जयकर पेपर्स, कारस्पोंडेंस फाइल 727 (अप्रकाशित), भारत का राष्ट्रीय अभिलेखागार।

भी कि मुस्लिम लीग की मांग को पूरा करने के लिए आप बहुत दूर तक जाने तथा उसे पूरी की पूरी स्वीकार करने के लिए भी तैयार हैं। पिछले तीस सालों में हम में से कुछ लोगों ने जिन्ना को जितना जाना है, उतना आप नहीं जानते। मैं मित्र के रूप में आपको एक चेतावनी देना चाहता हूं और आशा करता हूं कि इससे आपको कुछ सहायता मिलेगी।"

"जिन्ना अत्यन्त क्रूर, प्रतिशोध लेने वाला, अहंकारी, उग्र एवं चालाक व्यक्ति है, जैसा कि उसके सार्वजनिक जीवन से सिद्ध हो चुका है।. . . अपने जंगलीपन के कारण वे अब तक महात्मा गांधी सहित प्रत्येक कांग्रेस नेता को धोखा दे चुके हैं और मुझे डर है कि कहीं आपको भी वे धोखा न दें। इस समय वे किसी उदार या राष्ट्रीय भावना से प्रेरित नहीं हैं तथा पिछले 15-20 वर्षों से वे अत्यन्त कटुता के साथ हिन्दू-विरोधी रहे हैं और उनकी एकमात्र इच्छा मुसलमानों को अधिक से अधिक लाभ पहुंचाने की रही है।"

गोलमेज सम्मेलन में उनके रवैये से सभी को आश्चर्य हुआ, ब्रिटिश प्रतिनिधिमंडल को भी। उनका एक तरीका यह था, जो एक धोखाधड़ी का तरीका था कि डा० मुंजे हिन्दुओं की ओर से समय-समय पर उन्हें जो रियायतें देते थे, उन सब को वे स्वीकार कर लेते थे और बाद में चुपचाप उन्हें इंग्लैंड के प्रधानमंत्री रेमजे मैक्डोनाल्ड के पास ले जाते थे और सौदेबाजी की भावना से उनसे कहते थे: "इतना तो हिन्दू देने को तैयार हैं; ब्रिटिश सरकार मुसलमानों को कितना और देगी?" सौदेबाजी का यह तरीका आगे चलकर इतना कुख्यात हो गया कि अन्त में मेक्डोनाल्ड ने फोन करके मुझ से कहा कि सौदेबाजी की यह प्रक्रिया बन्द होनी चाहिए क्योंकि यह अत्यन्त छलकपटपूर्ण है और इससे कोई मतलब हल नहीं होता। मैं इस घटना का उल्लेख उस तरीके की सिद्धांतहीनता सिद्ध करने के लिए कर रहा हूं, जिससे जिन्ना आपसे मुस्लिम-हित के लिए सौदेबाजी करेंगे।

"आपने सार्वजनिक रूप से कहा है कि आपको जिन्ना का प्रधान मंत्री बनना और 50 : 50 का आधार स्वीकार्य है। प्रधानमंत्री का पद जिन्ना को मिले या और किसी को, इसकी मुझे कोई चिंता नहीं है। परन्तु मेरा यह कर्त्तव्य है कि मैं आपको चेतावनी दूं कि केन्द्र में या प्रान्तों में अथवा सेवाओं या प्रशासन में 50 : 50 का आधार हिन्दुओं को स्वीकार्य न होगा।" उन्होंने राजगोपालाचारी को बताया कि केवल हिन्दू महासभा के सदस्य ही नहीं बल्कि, अन्य हिन्दू भी प्रस्ताव का व्यापक रूप से डट कर विरोध करेंगे।

16—262 M. of I & B/ND/82

उन्होंने पत्र में यह भी लिखा : "कृपया इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखिए कि जिन्ना के नेतृत्व में मुसलमानों की शान्त ही नहीं हो रही है। लोकमान्य तिलक जैसे लोगों द्वारा भी उदारता की भावना से एक के बाद एक रियायत दी गई, परन्तु वे संतुष्ट नहीं हुए। जितना उन्हें दिया गया, उतनी ही उनकी भूख बढ़ी। 50:50 का आधार उनके द्विराष्ट्र सिद्धांत की स्वीकृति है। यदि आपने एक बार यह स्वीकार कर लिया तो यह भारतीय संविधान में अमिट हो जाएगा तथा इतने के लिए पाकिस्तान की मांग का औचित्य बन जाएगा। हम इस द्विराष्ट्र सिद्धांत के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं और आपको इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आप किसी रूप में इसे स्वीकार न करें।" राजगोपालाचारी के प्रति "सस्नेह श्रद्धा" के साथ पत्र समाप्त हुआ।[9]

राजगोपालाचारी का 23 जनवरी, 1942 का उतना ही स्पष्ट उत्तर इस प्रकार था : "अभी-अभी प्राप्त आपके पत्र का उत्तर देने तुरन्त बैठ गया हूं। यह आपकी बड़ी कृपा है जो आपने मुझे इतना साफ-साफ लिखा है।

"मैं नहीं जानता कि लोगों ने यह अनुमान कैसे लगा लिया कि "हिन्दू-मुस्लिम समस्या के हल के लिए मैं शीघ्र ही जिन्ना से मिलने वाला हूं।" मेरी ऐसी कोई योजना नहीं हैं और किसी ने मुझे ऐसा करने का अधिकार भी नहीं दिया है। मैं यह भी जानता हूं कि वर्तमान परिस्थितियों में ऐसा कोई भी साहसिक कार्य निष्फल ही रहेगा।

"आपने लिखा है कि मैंने सार्वजनिक रूप से यह कहा है कि मुझे जिन्ना का प्रधानमंत्री बनना और 50:50 का आधार स्वीकार्य है। मुझे ऐसा कोई अवसर याद नहीं आ रहा, जब मैंने 50:50 का आधार स्वीकार किया हो या उसे स्वीकार्य बताया हो। यदि आपने ऐसा समाचार देखा है तो आश्चर्य ही है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह एक सर्वविदित तथ्य है कि कांग्रेस के पूना प्रस्ताव के तुरत बाद मैंने यह प्रस्ताव किया था कि यदि ब्रिटिश सरकार उस प्रस्ताव को स्वीकार कर ले तो मैं कांग्रेस को जिन्ना को प्रधानमंत्री बनाने के लिए तथा उन्हें इच्छानुसार मंत्रिमंडल बनाने का अधिकार देने के लिए मना लूंगा।

9. "जयकर पेपर्स, कोरस्पोंडेंस फाइल 727"। इस पत्र का एक भाग मेरी पुस्तक "इंडिया एंड पास्कितान : एन हिस्टोरिकल सर्वे आफ हिंदू मुस्लिम रिलेशंस", जयको, 1973, पृ० 302–03

इसका यह अर्थ नहीं है, जो तुमने कहा है तथा इसमें ऐसे बन्धन हैं, जो 50:50 की मांग में नहीं हैं ।

"एक बार फिर मैं आपके पत्र के लिए आपको धन्यवाद देता हूं ।"

इस पत्र को पाकर जयकर प्रसन्न हुए । 4 फरवरी के अपने उत्तर में उन्होंने राजगोपालाचारी को लिखा : "आपका यह आश्वासन पाकर मुझे प्रसन्नता हुई कि आप यह सोचते हैं कि वर्तमान परिस्थितियों में मुस्लिम नेता के साथ वार्तालाप निष्फल सिद्ध होगा तथा आप 50:50 के आधार पर किसी व्यवस्था को स्वीकार नहीं करेंगे ।[10]"

इसी दरम्यान, युद्ध दृढ़ता से किन्तु क्रूरता के साथ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के गौरव और अंग्रेजों की अपराजेयता की भ्रांति को नष्ट कर रहा था । दिसम्बर 1941 में अमरीका और मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध जापान की युद्ध-घोषणा एक ऐतिहासिक घटना थी, जो पूर्व में ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हितों के लिए अनिष्ट की सूचक थी । 15 फरवरी, 1942 को सिंगापुर का पतन अंग्रेजों की प्रतिष्ठा के लिए भारी आघात था । विजयी जापानी सेना के भारतीय सीमा की ओर तेजी से बढ़े चले जाने के कारण व्हाइट हाल को भारतीय समस्या को सुलझाने के लिए आगे आने को बाध्य होना पड़ा ।

इससे पहले मार्च 1941 में, प्रतिष्ठित भारतीय नेताओं ने, जो किसी राजनीतिक पार्टी से संबंधित न थे, ब्रिटिश सरकार से अपील की थी कि राजनीतिक गतिरोध को दूर करने के लिए वह तत्परता से प्रयत्न करे । उनका विश्वास था कि अगस्त 1940 की घोषणा, जिसे ब्रिटिश समाचारपत्र "दी न्यूज़ क्रानिकल" ने 'बदनाम' बताया था, अलाभकर रहेगी । निर्दलियों के सम्मेलन ने अनुरोध किया था कि वाइसराय की सम्पूर्ण प्रबन्ध परिषद का भारतीयकरण होना चाहिए । साथ ही, उसने घोषणा की थी कि यदि "युद्ध के दौरान पुनर्गठित केन्द्र ताज के प्रति उत्तरदायी रहे, तब भी वह सन्तुष्ट रहेगा ।" परन्तु जब तक लिनलिथगो वाइसराय था और एल० एस० एमरी भारत मन्त्री था तथा जब तक दोनों साम्राज्यवाद के परम भक्त चर्चिल के प्रति उत्तरदायी थे, तब तक भारतीय समस्या के किसी युक्तियुक्त हल की आशा करना व्यर्थ था ।

10. "जयकर पेपर्स" (अप्रकाशित) ।

सर तेजबहादुर सप्रू, जिन्होंने सम्मेलन की अध्यक्षता की, असीम धैर्य एवं समबुद्धि वाले व्यक्ति थे, परन्तु एमरी के "फूट डालो और राज करो" के सिद्धान्त के निर्लज्ज इस्तेमाल से वे भी क्रुद्ध हो गए। 29 अप्रैल, 1941 को एक वक्तव्य में उन्होंने कहा, "साफ-साफ कहा जाए तो मि० एमरी हमारे भविष्य को कुछ दुराग्रही नेताओं के पास गिरवी रख रहे हैं। तात्कालिक औचित्य सदा ही भारत जैसे विशाल देश के स्थायी कल्याण की स्थिर नीतियों के अनुरूप नहीं है।" जिस समय भारत की अखंडता के लिए खतरा सिर पर मंडरा रहा हो, उस समय उदार देशभक्तों का चुप रहना असंभव था।

2 जनवरी, 1942 को, सप्रू ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल को, जो उस समय वाशिंगटन में था, एक समुद्री तार भेजा। इस पर 12 अन्य लोगों के हस्ताक्षर थे। हस्ताक्षरकर्ताओं में जयकर, श्रीनिवास शास्त्री, सर पी० एस० शिवस्वामी अय्यर, सर जगदीशप्रसाद, सर एस० राधाकृष्णन, रहीमतुल्ला चिनोय, मोहम्मद" यूनुस और राजा महाराज सिंह भी थे। तार में "अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की गंभीरता" तथा भारतीय प्रशासन की संपूर्ण आत्मा और स्वरूप को 'बदलने' की अनिवार्य आवश्यकता की ओर चर्चिल का ध्यान आकर्षित किया गया था। उससे पूछा गया कि क्या आपके लिए यह संभव नहीं होगा कि आप भारत के साथ व्हाइटहाल से शासित होने वाले पराधीन राज्य के रूप में व्यवहार करना बन्द कर दें। यह अनुरोध भी किया गया कि भारत की "संवैधानिक स्थिति और शक्तियां" ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अन्य एककों की स्थिति और शक्तियों के समान ही होनी चाहिए। युक्तियुक्त होने के कारण तथा प्रायोजकों की ऊंची हैसियत के कारण इस सुझाव ने ब्रिटिश सरकार को भारी उलझन में डाल दिया। तब से प्रतिष्ठित निर्दलीय नेताओं को महत्वहीन व्यक्ति कह कर छुट्टी कर देना भारत और इंग्लैण्ड दोनों में सरकार की सुनिश्चित नीति बन गया।

तब तक लिनलिथगो और मैक्सवैल सहित घोर साम्राज्यवादियों को भी यह स्पष्ट हो गया था कि भारत, लार्ड बर्किनहैड के शब्दों में, "एक खोया हुआ उपनिवेश" बननेवाला है, फिर भी उनमें से कोई इस देश को सम्मान के साथ छोड़ने को तैयार नहीं था। उन्होंने भारतीय जनता में फूट डालने और दुश्मनी पैदा करने तथा सप्रू और जयकर जैसे व्यक्तियों के महत्व को घटाने के लिए धूर्तता का खेल खेलना शुरू कर दिया। ऐसी व्यूह रचना के बावजूद, चर्चिल के लिए उदार नेताओं के 2 जनवरी के तार को दबा कर रखना असंभव हो गया। इसके उत्तर को

रोका नहीं जा सकता था। परन्तु प्रधान मंत्री चर्चिल और उसके सहयोगी एमरी की समग्र प्रतिभा भी समुचित उत्तर तैयार करने में असमर्थ रही।

28 जनवरी, 1942 को भारत के राजनीतिक गतिरोध पर एमरी द्वारा तैयार किए गए एक विस्तृत ज्ञापन में "सप्रू स्मारक" का उल्लेख मात्र किया गया था। भारत मंत्री उससे सर्वथा अप्रभावित था तथा केन्द्रीय प्रबन्ध परिषद् को एक वास्तविक राष्ट्रीय सरकार के रूप में बदलने के सुझाव को अव्यावहारिक समझता था। एमरी ने कहा, "अपील, जिस पर हस्ताक्षर करने वालों में केवल दो मुसलमान हैं, किसी प्रकार भी काम चलाने योग्य नहीं है।" बम्बई के गवर्नर सर रोजर लमले का भी यह स्पष्ट मत था कि उदारवादी अपने को चाहे जो कुछ कहें, "वे सभी हिन्दू हैं" यह कथन प्रत्यक्षतः असत्य तो था ही, यह भी जाहिर करता था मानो देशभक्तों के लिए हिन्दू होना एक अपराध है।

"सप्रू स्मारक" के सम्बन्ध में व्हाइटहाल असन्दिग्ध रूप से चक्कर में पड़ गया। उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी; इसलिए उसका उत्तर तैयार करने तथा उस पर चर्चिल की स्वीकृति लेने के लिए एमरी ने अनेक साहसपूर्ण किन्तु असफल प्रयत्न किए। परन्तु दोनों में से कोई उत्तर को अन्तिम रूप देना और भेजना बुद्धिमानी का काम नहीं समझता था। उन्हें आशा थी कि विलम्ब करने से उन्हें अपनी उलझन से मुक्ति मिल जाएगी, परन्तु नहीं मिली। घटनाएं तेजी से घटित हुई और व्हाइटहाल को लार्ड प्रिवीसील एवं लोकसभा के नेता सर स्टेफर्ड क्रिप्स को भारतीय नेताओं के साथ राजनीतिक समझौते के बारे में बातचीत के लिए भारत भेजने का निश्चय करना पड़ा।

सप्रू के तार का उत्तर भेजते समय चर्चिल को स्पष्टतः इन घटनाओं का बहाना लेना पड़ा। इसका सबसे अच्छा उदाहरण एमरी के उस तार से मिल जाता है, जो उसने 13 मार्च को वाइसराय के पास भेजा। तार इस प्रकार था: "प्रधानमंत्री अनुगृहीत होंगे, यदि आप उनके इस सन्देश को सर टी० बी० सप्रू के पास भेज दें, जिसकी निःसन्देह वे सराहना भी करेंगे कि संसद में दिया गया वक्तव्य सप्रू के 2 जनवरी के तार का ही उत्तर है। इसलिए प्रधानमंत्री आशा करते हैं कि इस समय विस्तृत उत्तर न भेजने के लिए वे उन्हें क्षमा करेंगे[11]।"

---

11. "द ट्रांसफर आफ पावर", 1942-47 ; भाग 1, प्र०सं० निकोलस मेंसर्ग, पृ० 88, 90, 417

एटली ने, जो भारतीय मामलों के सतत गतिरोध के घातक परिणामों को जानता था, उसे भली भांति दूर करने के उपाय सुझाने में पहल की। 2 फरवरी के एक व्यापक ज्ञापन में भारत और बर्मा के साथ ब्रिटेन के सम्बन्धों के भ्रामक वर्णन के लिए वाइसराय की निन्दा करते हुए उसने अनुरोध किया कि "भारतीय राजनीतिक दलों के नेताओं को मिलने के लिए" नए सिरे से प्रयत्न करने चाहिए। उसने सुझाव दिया कि किसी ऊंची हैसियत के व्यक्ति को व्यापक अधिकार देकर समझौते के लिए बातचीत करने को भेजा जाना चाहिए।

इसके विकल्प में, इसी उद्देश्य से, थोड़े से भारतीयों को मंत्रिमंडल के साथ विचार-विमर्श करने के लिए ब्रिटेन बुलाया जाना चाहिए। उन्होंने बताया कि कनाडा की समस्या किस प्रकार हल की गई। एटली ने लिखा : "लार्ड डरहाम ने कनाडा को ब्रिटिश साम्राज्य की खातिर बचाया। हम ऐसा आदमी चाहत हैं जो भारत में वही करे जो डरहाम ने कनाडा में किया था"। उसे विश्वास था कि लिनलिथगो ऐसा रचनात्मक कार्य करने के सर्वथा अयोग्य है। वाइसराय अब भी यही कहता था कि "जो कुछ खो गया है" उसे युद्ध के बाद प्राप्त कर लेंगे; इससे, एटली के अनुसार, उसकी मनोवृत्ति का पता चलता था। उपप्रधान मंत्री ने यह भी कहा : "वह (लिनलिथगो) स्पष्टतः यथास्थिति बनाए रखते हुए थोड़ी बहुत रियायत देने की बात सोच रहा है।" उसने यहां तक सुझाव दे डाला कि लिनलिथगो को बर्खास्त कर देना चाहिए"।[12]

21 फरवरी को निर्दलीय सम्मेलन फिर हुआ और उसने राष्ट्रीय सरकार के गठन की मांग दोहराई। उसी समय, भारतीय गतिरोध को समाप्त करने के वास्त कुछ न कुछ करने के लिए ब्रिटिश सरकार पर अमरीका का दबाव भी बढ़ गया। 11 मार्च को चर्चिल ने संसद में घोषणा की कि क्रिप्स को एक विशिष्ट मिशन पर भारत भेजा जाएगा। उसने कहा, "सर स्टैफर्ड क्रिप्स की भारत यात्रा का सरकारी उद्देश्य उस प्रस्ताव पर स्वीकृति प्राप्त करना है, जो ब्रिटिश सरकार ने भारत की स्थिति का सामना करने के लिए स्वीकार किया है। सर स्टैफर्ड ब्रिटिश सरकार के संविधान सम्बन्धी प्रस्तावों को सहमति प्राप्त करने के लिए ले जाएंगे। वे सैनिक स्थिति पर भारत के वाइसराय और प्रधान सेनापति से परामर्श करेंगे।

---

12. वही, पृ० 111-12

व्हाइटहाल जानता था कि भारत की स्वाधीनता में अमरीका की गहरी दिलचस्पी है। 4 मार्च को चर्चिल ने राष्ट्रपति रुजवल्ट को यह सूचित करना आवश्यक समझा कि "मेरी सरकार इस बात पर गंभीरता से विचार कर रही है कि क्या इस संकट की घड़ी में यह घोषणा कर देनी चाहिए कि युद्ध के बाद औप-निवेशिक स्वराज्य दे दिया जाएगा और यदि वांछनीय हुआ तो पृथक होने का अधिकार भी दे दिया जाएगा।" जैसाकि भारतीय प्रतिक्रियावादी ताकतों के प्रति उसकी सुविदित चिन्ता तथा बाद में क्रिप्स मिशन के प्रति उसके विरोधी रवैये से सिद्ध हुआ, उसकी "गंभीरता" का अर्थ वस्तुतः भारत को कोई चीज देना न था, अपितु अमरीका के जनमत को सन्तुष्ट करना था। जब उसने यह कहा कि "स्वभावतः, आक्रमण से पूर्व हम भारत को अन्धकार में ढकेलना नहीं चाहते", तो राष्ट्रपति को आनेवाली चीजों के स्वरूप की झांकी भी देखने को मिल गई।[13]

चीन के जनरलिसिमो च्यांग-काई-शेक की भांति, अमरीका वाले भी यह चाहते थे कि चर्चिल सरकार भारतीय समस्या का हल खुले दिमाग से करे। यह बात साम्राज्यवादियों के लिए अत्यधिक घबराहट पैदा करने वाली थी। 28 मार्च को एमरी ने उस तार का सारांश वाइसराय को भेजा, जो चार दिन पहले वाशिंगटन से विदेश-कार्यालय में आया था। तार में लिखा था : "हमें विदेश विभाग के अतिरिक्त एक दूसरे से पता चला है कि अमरीका के नयी दिल्ली स्थित एजेन्ट जनरल (थोमस एम० विल्सन) ने सूचना दी है कि यदि सर स्टेफर्ड क्रिप्स के हल से भारत को कार्यान्वयन की प्रभावी गारन्टी सहित पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं मिली, जैसी कि वह चाहता है, तो नतीजा बहुत बुरा होगा"।[14]

इंग्लैण्ड में चर्चिल, एमरी तथा उन्हीं जैसे अन्य क्रिप्स मिशन को विफल बनाने के लिए कृत संकल्प थे और भारत में वाइसराय तथा उसके अधीनस्थों ने ऐसा ही संकल्प कर रखा था। 13 मार्च को, जयकर को भारत के महाधिवक्ता सर बी० एल० मित्तर का एक गोपनीय पत्र मिला जिसमें क्रिप्स मिशन के प्रति नौकरशाही की प्रतिक्रियाओं का वर्णन था। मित्तर के पत्र का पाठ यहां दिया गया

---

13. कालिन कुक्स लिखित "द लाइफ आफ रिचार्ड स्टेफर्ड क्रिप्स", हाडर ऐंड स्काउटन, 1957, पृ० 256

14. "द ट्रांसफर आफ पावर", 1942–47, प्रधान सं०, निकोलस मेनसर्ग, भाग 1, पृ० 509

है : "आप क्रिप्स मिशन के प्रति दिल्ली की प्रतिक्रियाएं जानने को उत्सुक होंगे । पिछली सन्ध्या को मैं एक भोज में गया था । वहां जो कुछ कहा गया उसका सारांश यह है: ग्वायर[15] ने क्रेक[16] को संबोधित करते हुए कहा, "क्रिप्स भारत की समस्या को सुलझाएगा, यह तो बड़ी मनोरंजक बात है, मनोरंजक क्या लगभग हास्यास्पद है ।" क्रेक: "योजना" अन्तिम है और यदि क्रिप्स कांग्रेस के अपने मित्रों को इसे स्वीकार करने के लिए मना भी लेगा, फिर भी यह निश्चित है कि जिन्ना, देशी नरेश और दलित जातियां इसे ठुकरा देंगी । ग्वायर : "अगस्त प्रस्ताव ने पाकिस्तान का प्रश्न खुला रखा; चर्चिल योजना ने निषिद्ध कर दिया ; अब जिन्ना बौखलाएंगे । मुदालियर[17] का ख्याल है कि क्रिप्स को भेजने का यह मतलब है कि चर्चिल क्रिप्स के माध्यम से लेबर पार्टी (मजदूर दल) को यह विश्वास दिलाना चाहता है कि भारत में इतना अधिक मतभेद है कि भारतीय किसी लोकतांत्रिक संविधान के अनुसार काम नहीं कर सकते ।

"कल ही, इससे पहले, एक चाय-पार्टी में, मैं कुछ मुस्लिम लोगों से मिला । उन्होंने क्रिप्स मिशन की खिल्ली उड़ाई और कहा कि यह एक ऐसे दुखदायी आदमी से छुटकारा पाने का एक और तरीका है, जो इंग्लैण्ड को बोल्शेविक (साम्यवादी) बनाना चाहता है; और भारत में मिली विफलता रूस में मिली सफलता को निष्प्रभावी बना देगी । हाल ही में, आई० सी० एस० और मुस्लिम लीग ने मिशन की जी खोलकर निन्दा की है ।

"कृपया इस मामले को गोपनीय समझिए" ।

16 मार्च को जयकर ने सर बी० एल० मित्तर को इस प्रकार उत्तर दिया: "आपने अपने पत्र में जिन व्यक्तियों का उल्लेख किया है वे इससे अच्छा और कुछ नहीं कर सकते । परन्तु मैंने आशा नहीं खोई है । मैं समझता हूं कि क्रिप्स बहुत अच्छा आदमी है और आसानी से मुस्लिम-लीग या नौकरशाही के धोखे में नहीं आएगा[18] ।" जयकर अनुचित रूप से आशावादी थे । 22 मार्च, 1942 को जब क्रिप्स भारत आया तो उसके विरुद्ध पासे काफी भारी हो चुके थे ।

---

15. भारत के संघीय न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश सर मोरिस ग्वायर ।
16. पंजाब के भू०पू० गवर्नर और ताज के प्रतिनिधि के राजनीतिक परामर्शदाता, सर हेनरी क्रेक ।
17. वाइसराय की प्रबंध परिषद के सदस्य, सर ए० रामस्वामी मुदालियर ।
18. "जयकर पेपर्स" (अप्रकाशित), भारत का राष्ट्रीय अभिलेखागार ।

(2) क्रिप्स मिशन और उसके बाद

क्रिप्स एक विवेकशील और दूरदर्शी ब्रिटिश राजनीतिज्ञ था। वह पेरीकलीन के राजनीतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक न्याय के सिद्धान्त में विश्वास करता था। नेहरू उसके निजी दोस्त थे और उन्होंने राष्ट्रीय स्वाधीनता सम्बन्धी कांग्रेस के पक्ष के उसके द्वारा समर्थन का इजहार अनेक बार किया था। उसके सामाजिक और आर्थिक विचार इतने मौलिक थे कि उसके ही देश के कुछ लोग यह विश्वास करने लगे थे कि वह वस्तुत: अतिवादी आमूल परिवर्तनवादी अधिनायकवाद लाना चाहता है, जिसमें उसकी अपनी भूमिका रोब्सपियरी की होगी[19]। कोई यह नहीं सोच सकता था कि ऐसा व्यक्ति कभी भी चर्चिल जैसे जाने-माने प्रतिक्रियावादी का दूत बन जाएगा या एक ऐसी संवैधानिक योजना की स्वीकृति के लिए वकालत करेगा, जो वर्तमान में कुछ देता नहीं चाहती थी और भविष्य में देश पर खतरों और अनिश्चितताओं का बोझ लादना चाहती थी।

30 मार्च को प्रकाशित मसविदा घोषणा में कहा गया : "उद्देश्य एक ऐसे नए भारतीय संघ का निर्माण करना है, जो एक उपनिवेश होगा, जो ताज के साथ एक समान बन्धन द्वारा यूनाइटेड किंगडम से तथा अन्य उपनिवेशों से संबद्ध होगा किन्तु हर प्रकार से उनके बराबर होगा तथा अपने घरेलू या वैदेशिक मामलों के किसी पहलू में किसी प्रकार अधीन न होगा।" युद्ध के बाद बुलाई जाने वाली संविधान सभा का यह उत्तरदायित्व होगा कि वह देश के लिए औपनिवेशिक संविधान बनाए। भारत के युद्धोत्तर संवैधानिक दर्जे की परिभाषा में जो भाषा इस्तेमाल की गई, वह बैलफोर के 1931 के प्रसिद्ध फार्मूले के समान ही थी।

यहां तक तो ब्रिटिश प्रस्ताव बहुत अच्छे थे, परन्तु वे उस मुस्लिम लीग को न भूल सके, जो राष्ट्रीयता की ताकतों को कमजोर करने में लिनलिथगो सरकार के लिए शक्ति-पुंज सिद्ध हुई थी। अत: घोषणा में ऐसे प्रान्तों के पृथकत्व की व्यवस्था थी, जो प्रस्तावित संघ में शामिल होना नहीं चाहते थे। देशी नरेशों को भी, जिनका लगभग 500 रियासतों पर आधिपत्य था, अविलयन के सम्बन्ध में ऐसा ही विकल्प दिया गया और इस प्रकार देश की अखंडता के लिए स्थायी खतरा पैदा कर दिया। नेहरू की यह शिकायत बिल्कुल सही थी कि "सम्पूर्ण

---

19 ऐलन बुलक लिखित "द लाइफ एंड टाइम्स आफ अर्नेस्ट बेविन" भाग 1, हेनीमैन, 1960, पृ० 529

पृष्ठभूमि पृथकतावाद की होगी" तथा "देश की वास्तविक आर्थिक और राजनीतिक समस्याएं गौण स्थान ले लेंगी ।"[20]

जहां तक वर्तमान का सम्बन्ध था, ब्रिटिश योजना एकदम निरर्थक थी । उसमें इस बात की उपेक्षा की गई थी कि जब जापानी दरवाजे पर आ गए थे तो भारतवासियों को अपने देश की रक्षा के लिए उत्साहित करने की आवश्यकता थी । ऐसी अनुकूल स्थिति तभी बनाई जा सकती थी, जब ब्रिटिश सरकार भारतीयों को अपने देश के शासन के लिए जिम्मेदार बनाने को राजी हो जाती । परन्तु वह केवल इतना ही करने के लिए तैयार थी कि दो-एक भारतीयों को वाइसराय की प्रबन्ध परिषद में ले लिया जाए । उस योजना का क्या मूल्य था, जिसमें महत्वपूर्ण वर्तमान घटनाओं की उपेक्षा की गई । निश्चय ही महात्मा गांधी का यह कहना गलत न था कि ब्रिटिश प्रस्ताव एक उत्तरदिनांकित चक था । योजना के प्रकाशन से पूर्व तथा बाद में, क्रिप्स ने भारतीय नेताओं से उनकी सहमति प्राप्त करने के लिए अनेक बार विचार-विनिमय किया ।

इस देश में अपने प्रवास के दौरान उसने दो बार सप्रू और जयकर से मुलाकात की । 28 मार्च के अपने नोट में उसने इस प्रकार लिखा, "इन दोनों ने हिन्दू पक्ष कुछ संशोधित रूप में रखा; उन्होंने अविलयन के अधिकार का तो अधिक विरोध नहीं किया, पर किसी भारतीय द्वारा प्रतिरक्षा के नियन्त्रण का प्रश्न बड़ी दृढ़ता से उठाया । मैंने उनके सामने भी वे ही तर्क रखे, जो दूसरों के सामने रखे थे और यह नियन्त्रण अंग्रेजों के ही हाथों में रहने की आवश्यकता बताई । मैं नहीं समझता कि केवल इसी आधार पर वे पूरी-की-पूरी योजना का विरोध करेंगे ।"[21]

सप्रू और जयकर ने क्रिप्स को स्पष्ट बता दिया कि वे व्हाइटहाल से क्या चाहते थे । 5 अप्रैल को उन्होंने एक तर्कयुक्त ज्ञापन तैयार किया, जिसमें उन्होंने ब्रिटिश प्रस्तावों के सभी महत्वपूर्ण विषयों पर अपने विचार व्यक्त किए । उन्होंने घोषणा की कि हम असन्दिग्ध रूप से इस पक्ष में है कि प्रतिरक्षा विभाग वाइसराय की प्रबन्ध परिषद के भारतीय मन्त्री के हाथों में रहना चाहिए । वे इसके लिए सहमत थे कि "तकनीकी मामलों में अथवा सेना के संचालन या विन्यास सम्बन्धी

---

20. जवाहरलाल नेहरू लिखित "डिस्कवरी आफ इंडिया", द सिगनिट प्रेस, 1946, पृ० 550

21. "द ट्रांसफर आफ पावर, 1942-47," प्रधान संपादक, निकोलस मेनसर्ग, पृ० 479

निर्णयों में अथवा ऐसे ही अन्य मामलों में'' प्रतिरक्षा मन्त्री और प्रधान सेनाप के मध्य कोई विवाद नहीं होना चाहिए। उन्हें विश्वास था कि यदि उनका सुझाव मान लिया गया तो ''भारतीय मनोवृत्ति'' पर उसका विशेष प्रभाव पड़ेगा।

शामिल न होने के प्रश्न पर ज्ञापन-लेखकों ने ब्रिटिश भारत के किसी भी प्रांत के प्रस्तावित संघ से बाहर रहने का ''औचित्य'' तो स्वीकार किया, किंतु वे ऐसी किसी योजना का समर्थन करने के लिए तैयार न थे, जो ''हिंदू और मुस्लिम सम्राटों तथा प्रतिष्ठित ब्रिटिश प्रशासकों की एक लम्बी श्रृंखला द्वारा परिपुष्ट देश की एकता को खंडित कर दे। उन्होंने बताया कि जिन प्रान्तों में कांग्रेस का शासन था, उनमें निर्वाचित जन-प्रतिनिधियों की सरकार की पुन: स्थापना के प्रश्न पर मसविदा घोषणा बिल्कुल चुप हैं उन्होंने कहा कि उन प्रान्तों का शासन पुन: जनता के हाथों में दे देना चाहिए, चाहे संयुक्त मंत्रिमंडल ही क्यों न बनाने पड़ें।

यह निश्चित रूप से विश्वास किया जा सकता है कि क्रिप्स दोनों उदारवादी नेताओं तथा कांग्रेस के प्रवक्ताओं के पक्ष, विशेष रूप से प्रतिरक्षा विभाग के प्रश्न पर ग्रहण किए गए पक्ष के औचित्य से प्रभावित था। कांग्रेस प्रेसीडेंट मौलाना अबुल कलाम आजाद, जो 21 मार्च को इस ब्रिटिश मंत्री से मिले, यह विश्वास करने लगे कि समझौता होने वाला है। उन्हें बताया गया कि केन्द्रीय प्रबन्ध परिषद बदल दी जाएगी और वह पूर्ण औपनिवेशिक मंत्रिमंडल के रूप में काम करेगी। क्रिप्स ने ''यह बात दुहराई कि परिषद में वही शक्ति निहित रहेगी जो ब्रिटिश मंत्रिमंडल में निहित है''।[23]

परन्तु भेंट के समय क्रिप्स ने आजाद के सामने जो मोहक चित्र खींचा था, वह तब बिलकुल बदल गया, जब 1 अप्रैल को कांग्रेस प्रेजीडेंट ने उससे फिर मुलाकात की। उन्हें बताया गया कि केन्द्रीय प्रबंध परिषद की रचना में कोई भी उपयुक्त परिवर्तन संभव नहीं है। बातचीत वहीं और उसी समय समाप्त हो जाती, परन्तु कांग्रेस नेताओं ने सोचा कि यदि इस विचारविमर्श को लम्बा कर दिया जाए तो कदाचित कुछ अच्छा फल निकले। उदार नेता सप्रू और जयकर की भांति नेहरू और आजाद भी चाहते थे कि प्रतिरक्षा विभाग का कार्यभार किसी भारतीय के

22. वही, पृ० 643-47

23. मौलाना अबुल कलाम आजाद द्वारा लिखित ''इंडिया विन्स फ्रीडम'', ओरियेन्ट लोगमैन्स, 1959, पृ० 49

पास रहे । उन्हीं की भांति उनकी भी यह मांग न थी कि प्रधान सेनापति युद्ध-संचालन सहित सभी मामलों में अपने भारतीय मंत्री से आदेश प्राप्त करे । क्रिप्स वस्तुतः उनके तर्क के औचित्य के बारे में सन्तुष्ट था । 25 मार्च के अपने नोट में उसने लिखा, "मेरी सामान्य धारणा यह थी कि कांग्रेस प्रतिरक्षा मंत्री के पद पर किसी भारतीय का नाम चाहती थी ; पर साथ ही यह भी मानती थी कि वह सैन्य-संचालन अथवा अन्य सैनिक व्यवस्थाओं के आदेश में कोई प्रभावी भाग न लेगा ।[24]

फिर भी बातचीत विफल हो गई । क्रिप्स, अपने मन से कुछ भी नहीं कर सकता था । भारतीयों के साथ समझौता करने के लिए उसे पूरे अधिकार भी नहीं दिए गए थे । मिशन एक भारी जाल था, जो दुनिया को और विशेष रूप से अमरीकियों को धोखा देने के लिए बिछाया गया था । राष्ट्रपति रुजवेल्ट के भारत स्थित व्यक्तिगत प्रतिनिधि कर्नल लुई जानसन ने, जिसने ब्रिटिश प्रस्तावों पर हुई बातचीत में काफी दिलचस्पी ली, स्पष्ट रूप से लिखा कि बातचीत साम्राज्यवादियों ने जानबूझ कर तोड़ी । उसे विश्वास था कि क्रिप्स ईमानदार तो था, परन्तु असहाय था । अमरीका के विदेश-मंत्री को भेजे गए 11 अप्रैल के अपने संदेश में कर्नल जानसन ने कहा, "जब एक छोटी-सी रियायत के साथ सन्तोषजनक हल निश्चित सा दिखाई पड़ने लगा, तो मुझे तब बड़ा आश्चर्य हुआ जब क्रिप्स ने घबरा कर मुझसे यह कहा कि चर्चिल की स्वीकृति के बिना वह मूल मसविदा घोषणा में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता तथा यह भी कि चर्चिल ने उसे तार द्वारा सूचित किया था कि वह तब तक कोई स्वीकृति न देगा, जब तक वेविल और वाइसराय अपने अलग-अलग कोड तार भेज कर उस परिवर्तन का पूरी तरह समर्थन न कर दें जिसे क्रिप्स चाहता है ।"[25]

क्रिप्स ने चर्चिल से आग्रह किया कि वह उसे इतनी स्वतन्त्रता दे दें कि वह घोषणा की शर्तों की व्याख्या भारत की स्थिति की आवश्यकताओं के अनुसार कर सके । क्रिप्स को भेजे गए अपने 10 अप्रैल के तार में प्रधानमंत्री ने वाइसराय के अधिकारों में किसी प्रकार के परिवर्तन को स्वीकार करने से साफ इंकार कर दिया । उसने कहा: "हम निश्चय ही ऐसे समझौते के सुझाव को रद्द कर देंगे,

---

24. "द ट्रांस्फर आफ पावर, 1942-47", भाग 1, प्रधान संपादक, निकोलस मेनसर्ग, पृ० 479
25. "फोरेन रिलैशन्स आफ दी यूनाइटेड स्टेट्स : डिप्लोमटिक पेपर्स", 1942, भाग 1, पृ 631

जो उन्हें सीमित करेगा।'' चर्चिल ने अपने साथी की कठिनाइयों के लिए सहानुभूति प्रकट की पर यह कहा कि "हमारी अपनी जिम्मेदारियां हैं और तुम्हारी अपनी।'' प्रत्यक्षतः वे "जिम्मेदारियां'' ब्रिटिश राज का स्थायित्व सुनिश्चित करने की थीं—जो एक असंभव काम था।

आरम्भ से ही लिनलिथगो, क्रिप्स और उसके मिशन को बदनाम करने पर तुला हुआ था। जैसा कि हमें जयकर को लिखे गए बी० एल० मित्तर के पत्र से विदित हुआ। देश में नौकरशाह भी इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध थे। क्रिप्स जैसे व्यक्ति से सुलटने में वाइसराय को जो कष्ट हुआ उस पर एमरी ने खेद प्रकट किया। 11 अप्रैल को उसने लिनलिथगो से कहा, "तारों से यह स्पष्ट है कि गत कुछ दिनों में आपके और क्रिप्स के मध्य संबंध काफी गर्म रहे होंगे और वास्तव में उसके और मंत्रिमंडल के मध्य भी वे काफी गर्म रहे।"[26] प्रत्येक निहित स्वार्थी व्यक्ति लार्ड प्रिवी सील के विरुद्ध ताल ठोंक कर खड़ा हो गया था। राजा को डर लगा कि कहीं उसका मंत्री भारत को भारतीयों को ही वापस देने की भारी गलती न कर बैठे। हिज मजेस्टी ने घोषित किया कि "सारा मामला अत्यन्त असन्तोषजनक स्थिति में है।[27]''

अमरीका में लार्ड हैलिफैक्स ने, जो भारत में लार्ड इर्विन और "ईसाई वाइसराय'' के नाम से प्रसिद्ध था, वहां के लोगों को यह विश्वास करने के लिए बहकाने में कोई कसर नहीं रखी कि केवल कांग्रेस की हठधर्मी के कारण ही क्रिप्स मिशन फेल हुआ। परन्तु किसी ने उसका विश्वास नहीं किया। यहां तक कि अमरीका के राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने भी चर्चिल से कहा कि अमरीका में "सर्वत्र यह भावना है कि गतिरोध का मुख्य कारण व्हाइटहाल द्वारा भारतीय लोगों को स्वशासन का अधिकार देने से इन्कार करना है जबकि भारतीय लोग तकनीकी, सैनिक और नौसैनिक प्रतिरक्षा का पूरा नियंत्रण सुयोग्य ब्रिटिश अधिकारियों को सौंपने को तैयार हैं।'' राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने यह भी महसूस किया कि भारतीयों के साथ समझौता अभी भी संभव है।[28]''

26. "द ट्रांस्फर आफ पावर, 1942-47", भाग 1, प्रधान संपादक, निकोलस मैनसर्ग, पृ० 756
27. जोन डब्ल्यू० व्हीलर—बेनेट लिखित "किंग जार्ज दी सिक्स्थ", मैकमिलन, 1958, पृ० 698
28. राबर्ट ई० शेरवुड द्वारा लिखित "रुजवेल्ट एंड हापकिन्स", ए० बेन्टाम, जाइन्ट, 1950, पृ० 108-09

भारत में क्रिप्स को बहुत सहानुभूति मिल सकती थी क्योंकि वह साम्राज्यवादी हथकंडों का शिकार हो गया था परन्तु अपनी विफलता का दोष कांग्रेस नेताओं पर मढ़ देने के कारण वह उससे बिलकुल वंचित हो गया। नेहरू से उसकी "अन्तिम अपील" अविचारपूर्ण थी और 22 जुलाई का रेडियो-भाषण, जिसमें उसने अमरीकी लोगों को यह बताया था कि भारत ने हठधर्मी से **स्वतन्त्रता के प्रस्ताव को** रद्द कर दिया है, शरारतपूर्ण था।

अपनी भारत यात्रा पर 6 जुलाई, 1942 को लिखी गई एक रिपोर्ट में क्रिप्स ने आरोप लगाया कि जब तक वार्ता जारी रही, तब तक महात्मा गांधी "किसी भी समझौते के विरुद्ध अपने प्रभाव का प्रयोग करते रहे।" उसने स्वीकार किया कि महात्माजी की मनोवृत्ति को "समझना" कठिन था, परन्तु यह स्पष्ट कहा कि गांधीजी नहीं चाहते थे कि कांग्रेस "हिंसक उपायों" से देश की रक्षा करने में एक पक्ष बने। एक और "महत्वपूर्ण कारण" था "नेता के रूप में अपने स्थान के लिए गांधीजी का डर"। कल्पना की खुली उड़ान भरते हुए क्रिप्स ने लिखा, "यदि समझौता हो जाता तो वे कांग्रेस की नेतागीरी में नेहरू द्वारा या हिंसक प्रतिरोध के किसी अन्य समर्थक द्वारा विस्थित कर दिए जाते, और उन्होंने यह भली-भांति समझ लिया होगा कि ऐसी परिस्थिति में पुनः अपना स्थान प्राप्त करना उनके लिए कठिन हो जाता। मेरा ख्याल है कि इसीलिए वे हर कीमत पर समझौते के विरुद्ध लड़ने के लिए कटिबद्ध रहे।" नेहरू ने इस निराधार आरोप का दृढ़ता से खंडन किया।

वार्ता के दौरान सप्रू और जयकर द्वारा निभाई गई भूमिका पर टिप्पणी करते हुए, क्रिप्स ने लिखा, "सर तेज बहादुर सप्रू और मि० जयकर दो बार मेरे पास आए और उन्होंने वे विचार मेरे सामने रखे, जिन्ह मेरे पहुंचने से पहले ही सर तेज प्रकाशित करा चुके थे। बाद में समाचारपत्रों में प्रकाशित उनके विचारों से उनके रुख का पता चलता है। वे दोनों समझौते के लिए बेहद उत्सुक थे तथा प्रतिरक्षा विभाग किसी भारतीय के हाथों में देने के लिए विशेष आग्रह कर रहे थे। उन्होंने कांग्रेस के साथ झगड़ा मिटाने और समझौता कराने की पूरी कोशिश की। यद्यपि वास्तविक जनमत, जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, थोड़ा ही है, किन्तु सर तेज का व्यक्तिगत प्रभाव है, जो महत्वपूर्ण है।[29]

29. "द ट्रांस्फर आफ पावर, 1942-47", भाग-2, प्रधान सम्पादक, निकोलस मेनसर्ग, 1971, पृ० 340, 342

क्रिप्स के भारतीय मिशन के परिणाम के आधार पर उसके निर्णय को ज्यों का त्यों स्वीकार करना कठिन है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, यह परस्पर विरोधी उक्तियों से भरा हुआ है। निःसन्देह वह लोकप्रिय आदमी था, परन्तु अपनी ही पार्टी के उसके सहयोगी डा० ह्यू डाल्टन के अनुसार उसका "निर्णय अत्यन्त अनिश्चित" होता था। डाल्टन का मत था कि क्रिप्स में "राजनीतिक निर्णय की क्षमता बिल्कुल नहीं है। वह हर चीज को "पूंजीपतियों" और "मजदूरों" की निगाह से देखता है। एक युवा मार्क्सवादी संक्रामक[30]।" 2 सितम्बर को क्रिप्स ने भारत पर एक अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण नोट लिखा जो बहुत-कुछ उसके स्वभाव के अनुरूप था। उसने सुझाया कि इस देश के "तात्कालिक भविष्य के सम्बन्ध में कोई न कोई नीति अपनाई जानी चाहिए। उसने बताया कि अन्तिम युद्धोत्तर नीति के रूप में "पूर्ण-औपनिवेशिक स्वराज्य" पहले ही स्वीकार किया जा चुका है[31]।

क्रिप्स का प्रस्ताव, जिसमें अमरीका के कर्नल जानसन के शब्दों में, "प्रथम विश्व युद्ध के बिना पूरा किए हुए वायदे से अधिक कुछ न था", असंदिग्ध रूप से उत्तेजना पैदा करने वाला था, परन्तु बुद्धिमानी इसी में थी कि उसे उसी रूप में स्वीकार कर लिया जाता। तब तक यह स्पष्ट हो चुका था कि भारत की स्वतंत्रता अब ब्रिटेन की दया पर निर्भर न थी। उसका आना अवश्यंभावी था। इसलिए कांग्रेस का कर्तव्य था कि वह अपने समस्त साधनों को भारत की क्षेत्रीय अखंडता को नष्ट करने वाले जिन्ना के षड़यन्त्रों को विफल करने में लगा देती। यह एक सरल काम न था, क्योंकि, जैसा गांधीजी ने क्रिप्स के सामने स्वीकार किया, लीगी नेता तब तक शक्तिशाली हो चुका था। देश-विभाजन के संकट को रोकने के लिए पर्याप्त चतुरता और दृढ़ता की आवश्यकता थी। यह तभी हो सकता था जब कांग्रेस प्रान्तों में पुनः सत्ता संभाल लेती और वाइसराय की प्रबन्ध परिषद में शामिल हो जाती। यदि पार्टी संवैधानिकता के मार्ग पर पुनः लौट आती तो जिन्ना, जिनकी सफलता प्रायः कांग्रेस की गलतियों पर ही निर्भर थी, कोई उपद्रव खड़ा नहीं कर सकते थे। इसके बजाय, उसने "भारत छोड़ो"

---

30. ह्यू डाल्टन लिखित "दी फेटफुल इयर्स : मेमोयर्स 1931–1945", फ्रेडरिक मूलर, 1957, पृ० 41, 42, 319

31. "द ट्रांस्फर आफ पावर, 1942–47", भाग-2, प्रधान संपादक, निकोलस मेनसर्ग, 1971, पृ० 882

आन्दोलन शुरू कर दिया जिसने जिन्ना और साम्राज्यवादियों को एक दूसरे के और अधिक निकट ला दिया तथा देश का विभाजन सुनिश्चित कर दिया।

मिशन विफल हो जाने के बाद जब 12 अप्रैल, 1942 को क्रिप्स स्वदेश लौटा, तभी से देश में निराशावाद और अंधकार छा गया। महात्मा गांधी ने, जिन पर झूठमूठ ही वार्ता की विफलता का आरोप लगाया गया था, रास्ता ढूंढ़ने के लिए बेतहाशा प्रयत्न किए। 15 मई को बम्बई उपनगरीय और गुजरात के कांग्रेसियों के साथ एक साक्षात्कार में उन्होंने देश के हालात की व्यापक समीक्षा की और कहा कि गतिरोध ब्रिटिश हठधर्मी का परिणाम था। यह सच था कि क्रिप्स लौट गया था, परन्तु उन्होंने पूछा, "वे सप्रू या जयकर या राजाजी के माध्यम से पुनः बातचीत क्यों नहीं चलाते ? क्योंकि, जैसा मैंने कहा, वे (अंग्रेज) चलाना ही नहीं चाहते।"

7 अगस्त को, बम्बई में, अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक बुलाई गई, जिसमें गांधीजी ने कहा कि भारत की स्वाधीनता "आसमान से नहीं गिरेगी" लड़कर ली जाएगी। दूसरे दिन, इस लक्ष्य के लिए किसी भी प्रकार के जन-आन्दोलन छेड़ने के विरुद्ध कुछ आवाजें उठीं; परन्तु गांधीजी अपनी बात पर दृढ़ थे। उन्होंने घोषणा की कि "मेरी अन्तरात्मा की आवाज मुझसे कहती है कि मुझे सारे संसार के खिलाफ लड़ना पड़ेगा और अकेले ही मोर्चा लेना होगा।" उन्होंने कहा: "मेरे जीवन का यह अन्तिम संघर्ष होगा।"

महात्मा गांधी की घोषणा पर सरकार की प्रतिक्रिया तेजी से हुई। 9 अगस्त को उसने सभी कांग्रेस-नेताओं को गिरफ्तार कर लिया तथा चुपचाप विभिन्न स्थानों पर नजरबन्द कर दिया। जो लोग गिरफ्तार किए गए उनमें नेहरू भी थे। नेहरू का अन्तर्राष्ट्रीय विषयों का ज्ञान महात्माजी के ज्ञान से अधिक था। वे एक कर्मठ व्यक्ति थे और यदि गिरफ्तार न होते तो राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए बहुत कुछ कर सकते थे। परन्तु उन घटनापूर्ण दिनों में वे निष्क्रिय रहे। वे महाराष्ट्र के अहमदनगर किले में रखे गए और वहां जून 1945 तक अर्थात् 1,041 दिन रहे। उनके कारावास की यह सबसे लम्बी अवधि थी। जब वे किले से बाहर आए तो उन्हें मालूम हुआ कि भारत की एकता को विनाश से कोई नहीं बचा सकता।

यह जानते हुए भी कि उनके काम से कोई खुश न होगा, सप्रू और जयकर ने कांग्रेस और सरकार में मेल कराने के लिए गंभीर प्रयत्न किए। परन्तु

वाइसराय और भारत मन्त्री दोनों ही किसी की नहीं सुनते थे। 27 अगस्त के अपने पत्र में एमरी ने लिनलिथगो से कहा : "कांग्रेस के साथ पुनः वार्ता शुरू करने की मूर्खतापूर्ण बातचीत से कोई लेना देना नहीं होना चाहिए।" उसका यह विश्वास नहीं था कि "सप्रू या जयकर को केन्द्रीय प्रबन्ध परिषद में ले लेने से" वाइसराय के हाथ बहुत मजबूत होंगे । वस्तुतः उसका विश्वास यह था कि सरकार भारतीय मांग को पूरा करने के लिए कोई रचनात्मक कार्रवाई किए बिना ही "स्थिति पर काबू" पा लेगी[32] । वाइसराय उदारवादियों की तथाकथित प्रभावहीनता का राग अलापता ही रहा । 21 सितम्बर को उसने एमरी को लिखा : "न तो सप्रू से कोई काम चलेगा और न जयकर से, वे तनिक भी मेरे हाथ मजबूत नहीं करेंगे—वस्तुतः मैं उन्हें शक्ति का स्रोत न समझकर कमजोरी का स्रोत समझूंगा ।"[33]

मित्र राष्ट्रों में से किसी ने भारतीय समस्या पर अंग्रेजों के पक्ष को ठीक नहीं बताया। राष्ट्रपति रुजवेल्ट के भारत स्थित निजी प्रतिनिधि विलियम फिलिप्स ने लिखा, "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि समस्या के मूल में ब्रिटिश सरकार के वायदों में विश्वास का अभाव है।" उसने अनिच्छापूर्वक यह निष्कर्ष निकाला: "वाइसराय, जो चर्चिल के प्रति उत्तरदायी माना जाता है, भारत के साथ ब्रिटेन के सम्बन्धों में किसी परिवर्तन के पक्ष में नहीं है।" ऐसी परिस्थिति में गांधीजी को रिहा कराने तथा इस प्रकार राजनीतिक वार्ता पुनः शुरू कराने के लिए किए जाने वाले निर्दलीय नेताओं के प्रयत्नों का विफल होना अनिवार्य था ।

जयकर जी-जान से समाधान-कार्य में जुट गए । अपने भाषणों से भी गतिरोध के असली चक्कर के बारे में जनमत को शिक्षित करने लगे । दिसम्बर 1942 में सर ए० रामस्वामी मुदालियर ने उन्हें लिखा, "क्या मैं आपको बताऊं कि गत रात्रि आपके विद्वत्तापूर्ण भाषण को सुनकर मैं कितना प्रसन्न हुआ ? विद्वत्ता और हृदय-स्पर्शी वाक्यों की तो वस्तुतः मुझे आशा थी, परन्तु क्या मैं उस निर्भयता और साहस के लिए आपको बधाई दूं, जिसके साथ आपने अपने विचार प्रकट किए ? आजकल ऐसी निर्भयता और ऐसा साहस अत्यन्त दुर्लभ है, और यदि कुछ और लोग भी उसी तरह बोल सकें, जिस तरह आप बोले, तो हमारे देश को

---

32. वही, पृ० 835-36

33. वही, पृ० 1005

17—262 M. of I & B/ND/82

उससे भी जल्दी संवैधानिक स्वतंत्रता मिल जाएगी, जितनी बहुत से लोग आशा करते हैं।''[34]

गांधीजी ने इस समस्या के अन्तिम समाधान के लिए 10 फरवरी, 1943 से 21 दिन का उपवास करने का निर्णय किया। एक तो वे वृद्ध थे, दूसरे उनका स्वास्थ्य अच्छा न था; इसलिए बहुत से लोगों को यह भय था कि इस तपस्या के कारण वे जीवित न रह सकेंगे। उनके उपवास से नौकरशाह बहुत चिंतित हुए। परन्तु गृह विभाग रेजिनाल्ड मैक्सवैल के अधिकार में था, इसलिए सरकार अपने कदम पीछे हटाने को तैयार न थी। उसने समाचारों पर कड़ा सेंसर लगा दिया था; इसलिए कोई यह नहीं जान सकता था कि आगा खां महल में, जहां गांधीजी नजरबन्द थे, क्या हो रहा है। मैक्सवैल ने विदेशी समाचारपत्रों के संवाददाताओं को ऐसे समाचार भेजने की अनुमति देने से इन्कार कर दिया था, जो गांधीजी या कांग्रेस के ''पक्ष में'' होते थे।[35] अमरीका के विदेशमन्त्री कार्डेल हल ने व्हाइटहाल को सुझाव दिया कि वह इस बात पर विचार करे कि क्या भारत की समस्या गांधीजी की मृत्यु के बाद की अपेक्षा उनके जीते जी अधिक आसानी से नहीं सुलझाई जा सकती? परन्तु यह सुझाव भी सुना अनसुना कर दिया गया। गांधीजी की रिहाई से सरकार के इन्कार के विरोध में वाइसराय की प्रबन्ध परिषद के तीन भारतीय सदस्यों एम० एस० अणे, सर होमी मोदी और नलिनी रंजन सरकार ने अपने-अपने पदों से त्यागपत्र दे दिया।

वाइसराय निश्चय ही इन भारतीयों के मूल्य को जानता था। उसने 16 फरवरी, 1943 के अपने पत्र में एमरी को बताया कि ''अणे सच्चा और ईमानदार आदमी है और उसके लिए मुझे बहुत खेद है।'' यदि अणे यह समझता है कि ''उसकी अन्तरात्मा उसे त्यागपत्र देने के लिए मजबूर करती है तो इससे मुझे बहुत दुःख होगा[36]। अणे बहुत बड़े देशभक्त थे और जीवनभर अपने देश की सेवा में किसी भी त्याग को उन्होंने बहुत बड़ा नहीं समझा। इसके अतिरिक्त वे

---

34. ''जयकर पेपर्स'' (अप्रकाशित)
35. ''फौरेन रिलेशंस आफ द यूनाइटेड स्टेट्स : डिप्लोमेटिक पेपर्स'' भाग-4, पृ० 193, पृ० 184, 187 भी।
36. ''द ट्रांस्फर आफ पावर, 1942-47'' भाग-2, प्रधान संपादक, निकोलस मैनसर्ग, 1971, पृ० 675

विद्वान थे और उच्च कोटि की योग्यता वाले व्यक्ति थे। परन्तु विदेशी शासकों के लिए भारतीयों के ऐसे गुणों का कोई उपयोग न था। इसलिए वाइसराय ने तीनों भारतीय पार्षदों को जाने दिया। कुमारी स्लेड ने, जो गांधीजी की शिष्या बन गई थीं, लिखा है कि अधिकारी इतने आगे बढ़ गए थे कि उन्होंने गांधीजी के "दाह-संस्कार के लिए चन्दन और लकड़ी तक इकट्ठी कर ली थी।" उसने यह भी लिखा है "परन्तु परमात्मा ने भारत को दुःख से और इंग्लैंड को शर्म से बचा लिया।" महात्मा गांधी के वज्र-संकल्प की उनके नाजुक एवं क्षीण शरीर पर विजय हुई।

गांधीजी के उपवास के दौरान अनेक प्रतिष्ठित भारतीयों ने उन को नजर-बंदी से मुक्त कराने के लिए बार-बार किन्तु असफल प्रयत्न किए। 20 फरवरी को, इसी उद्देश्य से, दिल्ली में एक सर्वदल नेता सम्मेलन हुआ। सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए सप्रू ने कहा : "इस अवसर पर हम ग्रेट ब्रिटेन के सभ्य अंतः-करण से अपील करते हैं और कहते हैं कि यदि वस्तुतः यह इरादा हो कि यह देश रचनात्मक कार्य में लगे, तो यह नितान्त आवश्यक है कि गांधीजी को छोड़ दिया जाए।" ऐसे राजनीतिज्ञोचित कार्य की मांग करने वाला यह प्रस्ताव जयकर द्वारा प्रस्तुत किया गया था। उसी दिन, सप्रू ने निम्नांकित तार चर्चिल और एमरी के पास भेजा : "देश के सभी भागों के भारतीय नेता आज नई दिल्ली में एक सम्मेलन में मिले और उन्होंने न्यायिक समिति के भू० पू० सदस्य राइट-आनरेबुल डा० जयकर द्वारा प्रस्तुत तथा भारत के अन्य प्रमुख प्रतिनिधि नागरिकों द्वारा समर्थित निम्नांकित प्रस्ताव स्वीकार किया"। इससे आगे प्रस्ताव का पाठ दिया गया था। गांधीजी को मुक्त कराने में राजगोपालाचारी ने भी सक्रिय होकर दिलचस्पी ली। उन्होंने वाइसराय के सचिव सर गिल्बर्ट लेटवेट को इस विषय में लिखा और 19 फरवरी को उस प्रस्ताव की अग्रिम प्रतिलिपि भी उसके पास भेजी जो अगले दिन नेता-सम्मेलन में औपचारिक रूप से स्वीकृत किया जाने वाला था।

परन्तु ऐसे सभी प्रयत्न निष्फल रहे। वाइसराय के पास भेजे गए अपने 24 फरवरी के तार में एमरी ने लिखा : "गत अगस्त में भारत सरकार ने निश्चय किया कि गांधीजी और कांग्रेस के अन्य नेताओं को नजरबन्द कर देना चाहिए; नजरबन्दी के कारण उन्हें अच्छी तरह बता दिए गए थे और उन्होंने भली-भांति समझ लिए थे। जिन कारणों से वह निश्चय किया गया था, वे अब भी मौजूद

हैं और राजा की सरकार भारत सरकार के उस दृढ़ संकल्प का समर्थन करती हैं, जो उसने, उपवास द्वारा अपनी बिना शर्त रिहाई के लिए किए जाने वाले गांधीजी के प्रयत्न से अविचलित रहकर भारत तथा संयुक्त राष्ट्र की जनता के प्रति अपने कर्तव्य पर आरूढ़ रहने के लिए किया है[37]।" जिन्ना को सम्मेलन में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया गया था, परन्तु उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। वस्तुतः उन्होंने नई स्थिति का स्वागत किया, क्योंकि उनकी वास्तविक शक्ति इसी में थी कि कांग्रेस और सरकार के मध्य अलगाव बढ़े। उन्होंने कहा, "गांधीजी के उपवास से जो स्थिति पैदा हुई है वह वास्तव में हिन्दू नेताओं के विचार करने और तदनुसार उन्हें समझाने का विषय है।"

सरकार और निर्वासित कांग्रेस के मध्य समझौते के लिए अपनी खोज जारी रखने से देशभक्त नेताओं को कोई हतोत्साह नहीं कर सकता था। उनमें से कुछ बम्बई में जयकर के निवास-स्थान पर मिले और उन्होंने 10 मार्च को एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें कहा गया कि राजनीतिक निपटारे के लिए बातचीत शुरू करने का ठीक समय आ गया है। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि वहां उपस्थित कुछ नेता गांधीजी से मिले थे और उनके साथ बातचीत से उन्हें यह विश्वास हो गया था कि सरकार और कांग्रेस के मध्य समझौता सम्भव है। इसलिए यह अनुरोध किया गया कि महात्माजी को छोड़ देना चाहिए। सप्रू और जयकर के अलावा, सी० राजगोपालाचारी, जी० डी० बिरला, जे० आर० डी० टाटा, सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, भूलाभाई देसाई, के० एम० मुंशी, सर अर्देशिर दलाल, एम० ए० ब्रेलवी, वालचन्द हीराचन्द, सर चुन्नीलाल भाई चन्द मेहता, सर होमी मोदी, मास्टर तारासिंह, अल्ला बख्श, जी० एल० मेहता, सर जगदीश प्रसाद, कस्तूरभाई लाल भाई, डा० मैकेंजी, एस० रामनाथन और देवदास गांधी भी उपस्थित थे। अनेक नेताओं ने, जो उपस्थित नहीं हो सके, सन्देश भेजकर प्रस्ताव का समर्थन किया।[38]

बम्बई के गवर्नर सर रोजर लमले ने, जो शीघ्र ही सेवानिवृत्त होने वाला था, 15 मार्च को, वाइसराय के पास एक विस्तृत रिपोर्ट लिख कर भेजी, जिसमें उसने जयकर के निवास-स्थान पर हुए नेता-सम्मेलन के बारे में अपने विचार

---

37. वही, पृ० 697, 698, 706, 720

38. वही, पृ० 800

प्रकट किए। उसने कहा कि अपनी विदाई के समय मैं अनेक लोगों से मिला, जिनमें एक जयकर थे, जिन्होंने मुझसे कहा—"मुझे आशा नहीं है कि सम्मेलन के प्रस्ताव से कोई नतीजा निकलेगा।" जयकर का मत था कि गांधीजी तथा अन्य कांग्रेसी नेताओं को अनिश्चित काल तक नजरबन्द नहीं रखना चाहिए। उन्होंने सरकार द्वारा उन पर मुकदमा चलाए जाने का सुझाव दिया, परन्तु "इस बारे में अपनी कोई राय जाहिर नहीं की कि मुकदमे का नतीजा क्या होगा।" गवर्नर को इस बात में सन्देह था कि यदि गांधीजी और उनके साथी अपराधी सिद्ध हुए, तो जयकर उन्हें जनता का शत्रु नं० 1 मान लेंगे। वे झंकार के एक बिन्दु से दूसरे बिन्दू तक चक्कर काटते रहे।[39]

लिनलिथगो, जो सात वर्ष से भी अधिक समय तक, भारत को अपनी निजी सम्पत्ति समझ कर शासन करता रहा, 20 अक्तूबर, 1943 को सेवानिवृत्त हुआ। लार्ड वेविल को चार्ज देने से तीन सप्ताह पहले (27 सितम्बर को) गांधीजी ने उसे लिखा, "आपके भारत से विदा होने से पहले मैं आपसे दो शब्द कहना चाहता हूं। सभी उच्च पदस्थ व्यक्तियों में, जिनको जानने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है, कोई भी मेरे लिए इतने अधिक गंभीर दुःख का कारण नहीं रहा, जितने कि आप। आपके विषय में यह सोचकर मुझे हार्दिक दुःख हुआ है कि आपने असत्य का सहारा लिया है और वह भी ऐसे व्यक्ति के विषय में, जिसे कभी आप अपना मित्र समझते थे। मैं आशा करता हूं और प्रार्थना करता हूं कि परमात्मा कभी न कभी आपको यह समझने की बुद्धि देगा कि एक महान राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में आपने महा भयानक गलती की है।"

वाइसराय ने अपने उत्तर में कहा कि "प्रसंगागत घटनाओं की आपने जो व्याख्या की है" उसे मानने में मैं असमर्थ हूं और उसने यह भी कहा : "जहां तक समय और पुनर्विचार के संशोधनकारक गुणों का सम्बन्ध है, ये प्रत्यक्षतः सर्वत्र समान कार्य करते हैं और कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इनका परित्याग नहीं करता"[40]। केवल गांधीजी ने ही नहीं, सर तेज बहादुर सप्रू जैसे विश्वस्त सहयोगवादी तक ने लिनलिथगो के वाइसरायत्व को घोर प्रतिक्रियावादी कहकर निंदा

39. वही, पृ० 810
40. लार्ड ग्लैंडेवन लिखित "लैंडमार्क्स आफ लार्ड लिनलिथगोज वाइसरायल्टी", "इंडो-ब्रिटिश रिव्यू" वार्षिक अंक, खंड 5, संख्या 5, संख्या 1, 1973, पृ० 28

की। उन्होंने घोषणा की, "मैं कहता हूं, लार्ड लिनलिथगो के सात वर्ष के प्रशासन के बाद, आज देश जितना विभाजित है,उतना उसके यहां आने से पहले नहीं था।" उसके विषय में नेहरू की राय वास्तव में अत्यन्त मर्म-स्पर्शी थी। राष्ट्रपति रुजवेल्ट के भारत-स्थित निजी प्रतिनिधि विलियम फिलिप्स ने यह घोषित करके प्रश्न को अन्तिम रूप से समाप्त कर दिया कि "वाइसराय उस इंग्लैंड का प्रतिनिधित्व करता है जो पुरानी चाल का है, जो साम्राज्यवादी परंपरा वाला है, जो यह समझता है कि पिछड़े राष्ट्रों पर शासन करने की जिम्मेदारी अंग्रेजों की ही है।"

लार्ड वेविल ने, जिसने वाइसराय का जामा पहनने के लिए सैनिक वर्दी को तिलांजलि दे दी, मन में उदार विचारों को लेकर अपनी नई जीवन-वृत्ति आरंभ की, परन्तु व्हाइटहाल ने शीघ्र ही उन पर तुषारापात कर दिया। वह गांधी और नेहरू को छोड़ना तथा अपनी प्रबन्ध परिषद को वस्तुतः भारतीय जनमत का प्रतिनिधित्व करने वाली बनाना चाहता था। परन्तु उसके सुझाव को "लन्दन से कोई समर्थन नहीं मिला, और उसने राजा को भी बहुत नाराज कर दिया।"[41] प्रधानमंत्री चर्चिल ने उसे मध्यपूर्वीय कमान से इस आधार पर बर्खास्त कर दिया था कि मित्र राष्ट्रों को वहां जो हानि उठानी पड़ी, उससे बचा जा सकता था। वह उसे अमान्य व्यक्ति समझता था। उसने अनिच्छापूर्वक ही वाइसराय-पद पर वेविल की नियुक्ति को स्वीकार किया था। जिस समय क्रिप्स की दुर्भाग्यपूर्ण यात्रा के कारण कांग्रेस का अगस्त 1942 का व्यापक आन्दोलन चल रहा था, उस समय वेविल भारतीय सेना का प्रधान सेनापति था।

यह जानकर कि सुलझे विचारों के लिए भारतीय प्रशासन में कोई स्थान नहीं है, नया वाइसराय बहुत जल्दी प्रतिक्रियावादियों की हां में हां मिलाने लगा। 10 फरवरी, 1944 को उसने एमरी को लिखा कि मैं ऐसे राजनीतिज्ञों को जानने की कोशिश कर रहा हूं, जो न कांग्रेस में हैं और न मुस्लिम लीग में। उसने कहा, "सप्रू और जयकर दोनों का किसी मामले में सक्रिय प्रभाव नहीं है।" 14 मार्च को उसने भारत मन्त्री को बताया कि पंडित मदन मोहन मालवीय के एक पुत्र राधाकान्त मालवीय ने सुझाव दिया था कि अगस्त प्रस्ताव को वापस लेने के लिए महात्मा गांधी को मनाने के वास्ते, उन्हें राइट आनरेबुल वी० एस०

41. जोन डब्ल्यू० व्हीलर-बेनेट लिखित "किंग जार्ज दी सिक्स्थ", पृ० 702-03

श्रीनिवास शास्त्री, जयकर और सर एस० राधाकृष्णन के साथ उनके पास जाने की अनुमति दी जाए। वाइसराय ने लिखा, "स्पष्टत: राधाकान्त का उद्देश्य गांधीजी द्वारा प्रस्ताव वापस लेने से इन्कार करने पर उनसे सम्बन्ध विच्छेद करना नहीं था, अपितु व्यर्थ की बहस और विचार विमर्श के लिए अवसर प्रदान करना था ; इसलिए मैं इस बात में मैक्सवैल से सहमत हो गया कि अनुमति न दी जाए"।[42]

भारत की स्थिति पर अप्रैल में तैयार किए गए अपने नोट में वाइसराय ने घोषणा की, "जो लोग कांग्रेस के पक्के समर्थक नहीं हैं या जो उससे अलग हो गए हैं, उनमें नेतृत्व की शक्ति बहुत कम है या बिल्कुल नहीं है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पुराने उदारवादियों —जैसे कि तेज बहादुर सप्रू, जयकर, महाराज सिंह में कोई रचनात्मक विचार, चरित्र बल या नेतृत्व बल की योग्यता नहीं है।[43] कदाचित मैक्सवैल सरीखे लोगों द्वारा उकसाए जाने पर, लिनलिथगो और वेविल जैसे लोगों की यह नीति हो गई कि सप्रू और जयकर सदृश्य सम्मानित नेताओं के चरित्र को कलंकित किया जाए। सप्रू और जयकर का उदारवाद ही, उनके गम्भीर पांडित्य और विद्वत्ता से मिलकर, लिनलिथगो और वेविल के लिए तथा उनकी सरकारों के लिए सिरदर्द बन गया।

लिनलिथगो की सरकार निर्दयी और अत्याचार परायण थी तो "उसके उत्तराधिकारी वेविल की सरकार में भी ये सभी दुर्गुण थे; परन्तु इसके अलावा वह उत्तरोत्तर अप्रभावी होती जा रही थी। वेविल को कर्णधार बनने के लिए तब बुलाया गया था, जब भारत में ब्रिटिश राज अपनी अन्तिम सांसे गिन रहा था। मार्च 1947 में लार्ड माउंटबेटन ने उसका स्थान ले लिया, तब तक असैनिक अधिकारी के रूप में उसने कोई विशिष्ट योग्यता प्रदर्शित नहीं की थी। सर जोन साइमन ने उसे "मूर्ख, ऊन जैसे बालों वाला बुड्ढा" की संज्ञा दी।[44] 20 फरवरी, 1947 को माउंटबेटन की नियुक्ति की घोषणा करते हुए मजदूर प्रधान मंत्री क्लीमेंट एटली ने वेविल के वाइसरायत्व की केवल औपचारिक सराहना की।

---

42. 'द ट्रांस्फर आफ पावर, 1942–47', भाग-4, प्रधान संपादक, निकोलस मेनसर्ग, 1973, पृ० 714, 812

43. वही, पृ० 962

44. "द राइट-आनरेबुल दी अर्ल आफ ईवन, द ईडन मेमोयर्स" द रेकनिंग, पृ० 540

बाद में अपनी पुस्तक में उसने प्रशासक के रूप में वेविल की अयोग्यता का उल्लेख किया। उसने लिखा, "नई नीति के लिए नए आदमियों की जरूरत थी"।[45]

फिर भी इस व्यक्ति ने अपनी बुराइयों को भुलाकर भारतीय नेताओं के बारे में मनमाने और अनुचित निर्णय दे डाले। उसने अपनी पत्रिका में गांधीजी पर जो प्रहार किया, वह अत्यन्त उच्छृंखल और अनुत्तरदायित्वपूर्ण था। उसने लिखा, "गांधीजी उतने ही नैतिक विचारहीन हैं, जितने वे दुराग्रही हैं। उन्होंने अस्पष्टता और वक्तव्य की तकनीक को ललितकला का रूप दे दिया है—वे जो वक्तव्य देते हैं, उसमें सदा ऐसी भाषा और शब्दों का प्रयोग करते हैं कि उन्हें बांध कर किसी निश्चित मुद्दे पर नहीं लाया जा सकता। प्रार्थना को राजनीति से मिलाने अथवा प्रार्थना को राजनीतिक प्रचार का माध्यम बनाने की उनकी आदत उनके मेक-अप का ही एक भाग है। वे अत्यन्त चतुर, हठी, घमंडी, दोगले, एकनिष्ठ राजनीतिज्ञ हैं; और उनमें सच्ची साधुता बिलकुल नहीं है"।[46]"

अपने लंबे सार्वजनिक जीवन में गांधीजी ने निश्चय ही अनेक गलतियां की, जो भारी भूलें कही जा सकती हैं; परन्तु उन पर चालाकी और बेईमानी का दोष लगाना महादुष्टता है। इस महापुरुष को, जो सार्वजनिक मामलों में अपने व्यक्तिगत सदाचार और सच्चाई के लिए सर्वत्र पूजा जाता था, ब्रिटिश नौकरशाहों ने युद्धकाल में, "क्विसलिंग" और "पंचमार्गी" कह कर गालियां दीं। ऐसे नीचतापूर्ण दोषारोपणों के विरुद्ध जनरल स्मट्स जैसे व्यक्ति को विरोध प्रकट करना पड़ा।

ब्रिटेन अपने अच्छे आदमियों को भारत नहीं भेजता था; जो आते थे, उनमें से अधिकांश कूड़े होते थे। भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए उनसे पटरी बिठाना टेढ़ी खीर थी। एक बार सर तेज बहादुर सप्रू ने एक अंग्रेज से पूछा, "आप ऐसे वाइसरायों को भारत क्यों भेजते हैं, जो तीसरे दर्जे के होते हैं और ऐसे गवर्नरों को क्यों, जो इंजन-ड्राइवर जैसे लगते हैं ?"[47] संवैधानिकता और उदारता का यह अवतार तक सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था। उनके पत्र सेंसर किए जाते थे।[48]

---

45. सी० आर० एटली द्वारा लिखित "ऐज इट हैपिन्ड," हैनीमैन, 1954, पृ० 183

46. पेंडरल मून द्वारा संपादित "वेविल द वाइसरायज जर्नल," आक्सफोर्ड, 1973

47. के० एन० रैना और के० वी० गोपाल रत्नम द्वारा संपादित "तेज बहादुर सप्रू : प्रोफाइल्स एंड ट्रिब्यूट्स", पृ० 24

48. "द ट्रांसफर आफ पावर, 1942-47", भाग 3 प्रधान संपादक, निकोलस मैनसर्ग, पृ० 678

कोई भी देशभक्त भारतीय ब्रिटिश शासकों से आदर-सम्मान की आशा नहीं कर सकता था। क्योंकि सप्रू और जयकर राष्ट्रीय स्वाधीनता के कट्टर समर्थक थे, इसलिए उनके महत्व को कम करने के लिए हर संभव प्रयास किया गया।

परंतु इन दोनों प्रतिष्ठित भारतीयों का महत्व ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के कपटजाल से अछूता ही रहा। यह सर्व-विदित है कि जब सप्रू ने साइमन कमीशन के साथ अपने विरोध की घोषणा की तो वाइसराय लार्ड इर्विन बहुत निराश हुआ था। जयकर ने अपनी आत्मकथा के तृतीय अप्रकाशित भाग में उन प्रेस-रिपोर्टों की ओर ध्यान आर्काषित किया है, जिनमें कहा गया था कि वाइसराय इसलिए दुःखी था कि दोनों उदारवादी नेताओं ने अवांछित कमीशन के साथ सहयोग करने से इंकार कर दिया था।

वकील और संविधान-विशेषज्ञ के रूप में सप्रू की ख्याति अंतर्राष्ट्रीय थी। सर स्टेफर्ड क्रिप्स, जो 1942 में अपने मिशन पर भारत आया था, उनसे मिलने के लिए उत्सुक था। जब उसे बताया गया कि भारतीय नेता की हालत ऐसी नहीं है कि वे घर से बाहर आ सकें तो क्रिप्स ने कहा : "कोई कठिनाई नहीं। वाइसराय और हम उनसे उनके घर पर ही मिल लेंगें, बशर्ते की वहां और कोई न हो।" यदि सप्रू कोई महत्वहीन व्यक्ति होते तो एक महान साम्राज्यवादी शक्ति के अहंकारी प्रतिनिधि ऐसे भाव प्रकट करने के लिए नीचे न झुकते।

अप्रैल 1944 में गांधीजी गंभीर मलेरिया रोग से पीड़ित हो गए जिससे उन्हें बहुत शारीरिक कष्ट हुआ। यदि वे बीमार न होते तो कदाचित उन्हें अनिश्चित काल तक नजरबंद रखा जाता। 6 मई को रुग्णता के कारण उन्हें बिना शर्त छोड़ दिया गया। अपने बंदी कांग्रेसी साथियों से मिलने की उनकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी गई। सरकार ध्यानपूर्वक उनकी गतिविधियों पर निगाह रखने लगी। 23 मई को, वाइसराय ने एमरी को सूचित किया कि राष्ट्रीय समाचारपत्रों से पता चलता है कि गांधी और जिन्ना के बीच समझौते के लिए बातचीत चल रही है। जिन्ना उस समय कश्मीर में थे, जून के अंत से पहले उनका लौटना असंभव था। वेविल ने यह भी लिखा, "बताया जाता है कि गांधीजी जयकर से मिलने वाले हैं, परंतु उससे किसी रचनात्मक परिणाम की कोई आशा नहीं है।"[49]

49. वही, पृ० 983–84

तीन दिन पहले, 20 मई को, गांधीजी ने जयकर को लिखा था, "देश मुझसे बहुत-कुछ आशा रखता है। पता नहीं, आप इस रिहाई से क्या सोचते हैं। मैं बिलकुल खुश नहीं हूं मुझे तो शर्म महसुस होती है। मुझे बीमार नहीं होना चाहिए था। मैंने कोशिश की कि बीमार न पड़ूं, परंतु अंत में असफल रहा। मैं समझता हूं कि वर्तमान निर्बलता दूर होते ही, वे मुझे पुनः बंदी बना लेंगे। और यदि वे बंदी नहीं बनाते तो मैं क्या कर सकता हूं ?"

"मैं अगस्त प्रस्ताव को वापस नहीं ले सकता। जैसा कि आपने कहा है, यह अहानिकर है। स्वीकृति के विषय में आपका मतभेद हो सकता है। मेरा तो यह प्राण है। 29 तारीख तक मैं चुप हूं। क्या इस बीच मैं प्यारेलाल को आपके पास भेजूं? परंतु यह भी आपके स्वास्थ्य पर निर्भर है। मुझे मालूम है कि आप स्वस्थ नहीं है [50]।"

7 जून को वेविल ने भारत मंत्री को सूचित किया कि अभी तक महात्मा जी ने कोई महत्वपूर्ण राजनीतिक गतिविधि नहीं की। 20 मई को जयकर को लिखे गए गांधीजी के पत्र की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए उसने कहा कि मैं गांधीजी से तब तक नहीं मिलूंगा, जब तक वे अगस्त प्रस्ताव को वापस नही ले लेंगे। एमरी ने उसके पक्ष का पूरी तरह समर्थन किया। 26 जून को उसने वाइसराय को लिखा, "यदि कांग्रेस के पहले प्रस्ताव ने गांधी जी को उस आंदोलन को वापस लेने का अधिकार नहीं दिया, जो उनको सुपुर्द किया गया था, तो भी उन्हें यह कहने का पूरा अधिकार है कि व्यक्तिगत रूप से मैंने अपना विचार बदल लिया है और मैं अपने साथियों को भी ऐसा ही करने के लिए मनाने को तैयार हूँ। उनका यह कहना कि मैं तब तक कोई राय जाहिर नहीं कर सकता, जब तक मुझे उनसे परामर्श करने की अनुमति नहीं दी जाएगी, निश्चय ही कोरी बकवास है, विशेष रूप से इसलिए कि वे जयकर से अपनी राय पहले ही जाहिर कर चुके हैं [51]।

वाइसराय से केवल निराशा ही हाथ लगने के बाद, गांधीजी अब राजनीतिक हल के लिए जिन्ना की ओर मुड़े। परंतु उनको हिलाना तो ऐसा ही था,

50. के० गोपालस्वामी द्वारा लिखित "गांधी एंड बांबे", भारतीय विद्याभवन, 1969, पृ० 411

51. "द ट्रांसफर आफ पावर", 1942-47, भाग 3, प्रधान सं०, निकोलेस मैनसर्ग, पृ० 1048

जैसे हिमालय को जड़ से उखाड़ने का प्रयत्न करना । जिन्ना गांधीजी से वह सब-कुछ लेने के लिए कृतसंकल्प थे, जिसे वे पहले नहीं ले सके थे । गांधीजी से कहा गया कि वे इस बात को मान लें कि वे केवल हिंदुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और हिंदुओं एवं मुसलमानों में ऐसी कोई समानता नहीं है, जिससे वे अविभक्त भारत में साथ-साथ रह सकें । मुसलमान एक पृथक राष्ट्र है और उनकी तरफ से केवल मुस्लिम लीग और उसके नेता ही बोल सकते हैं । उनका पक्ष अनैतिहासिक था; वह स्थिति की वास्तविकता से बहुत दूर था और यदि स्वीकार कर लिया जाता तो देश में सदा के लिए संघर्ष और अस्थिरता का राज्य हो जाता । परंतु इन सब बातों की उन्हें कोई चिंता न थी क्योंकि उनकी एकमात्र इच्छा अपने खंडित अभिमान को संतुष्ट करने की थी ।

गांधीजी ने कहा—"इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि कुछ धर्मांतरित व्यक्तियों और उनके वंशजों के समुदाय ने अपनी मूल जाति से भिन्न दूसरा राष्ट्र होने की मांग की हो ।" इस उत्तर का भी जिन्ना पर कोई प्रभाव न पड़ा । उनके इस तर्क पर भी उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया कि विभाजन से भारतीय मुसलमानों को कोई लाभ न होगा । एम० सी० छागला, जो एक देशभक्त मुसलमान थे और जिन्होंने स्वतंत्र भारत में ऊंचे-ऊंचे पदों को सुशोभित किया, कहा है कि जिन्ना को केवल अपनी ही चिंता थी और किसी की नहीं । छागला ने जो कुछ कहा है अधिकार के साथ कहा है क्योंकि उन्होंने बंबई में जिन्ना के चैम्बर में छः वर्ष काम किया था और बहुत दिनों तक उन्हें अपना आदर्श समझते रहे थे । उन्होंने जिन्ना से पूछा था कि देश-विभाजन के बाद भारतीय मुसलमानों का क्या होगा । विभाजन के पक्षपाती ने कुछ देर उनकी ओर देखा और फिर कहा : "वे अपनी चिंता आप करेंगे । उनके भाग्य से मुझे कुछ लेना-देना नहीं है ।"[52]

1944 में जिन्ना के साथ बातचीत शुरू करने के लिए गांधीजी ने जो प्रस्ताव किया था, वह नितांत अविवेकपूर्ण था ; उसने भारत की क्षेत्रीय अखंडता का खंडित होना अनिवार्य बना दिया । पाकिस्तान के प्रश्न पर उन दोनों में पत्रों का जो आदान-प्रदान हुआ था, उस पर टिप्पणी करते हुए जयकर ने कहा, "पत्र-व्यवहार से यह स्पष्ट है कि किसी दिन भी जिन्ना अपने देशवासियों के साथ

52. एम०सी० छागला लिखित :"रोजेंज इन दिसम्बर; एन आटोबायोग्राफी" भारतीय विद्याभवन, 1973, पृ० 80

समझौता करने के बजाय अंग्रेजों के साथ समझौता करना अधिक पसंद करेंगे।..... वे इस फार्मूल को ब्रिटिश सरकार के साथ सौदेबाजी के लिए इस्तेमाल करेंगे और इसी को भारतीय नेताओं के साथ होने वाली भावी वार्ता में आरंभिक मुद्दे के रूप में भी इस्तेमाल करेंगे।'' गांधी और जिन्ना दोनों ही असंभव को संभव बनाने की कला के उत्साही प्रयोगकर्ता थे। जिन्ना तो अंग्रेजों की कृपा से अपने बेहूदे स्वप्न को साकार करने में सफल हो गए; पर गांधी जी, जो परमात्मा में अटूट विश्वास रखते थे, उस समय उसकी कृपा से वंचित रहे, जब उन्हें उसकी सबसे अधिक आवश्यकता थी। अनिवार्य के निवारण के लिए उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता के हित में हिंदुओं को बलि के बकरे बनने का आह्वान किया। उन्होंने कहा : "यदि हिंदू अपने हृदयों में प्रतिशोध या क्रोध की भावना न रखते हुए लाखों की संख्या में, कटने को तैयार हो जाएं, तो यह अभी संभव हो सकती है।'' विभाजन से पूर्व और बाद में, देश में जो हत्याकांड हुआ, वह उससे भी कहीं अधिक भयानक था, जिसकी कल्पना वे कर रहे थे।[53]

भारतीय नेताओं के अपने घृणापूर्ण मूल्यांकन के बावजूद वेविल ने राजनीतिक गतिरोध दूर करने के लिए ईमानदारी से प्रयत्न किए। सत्ता के हस्तांतरण के लिए उसने एक योजना तैयार की और अगस्त 1944 में बुलाये गए एक सम्मेलन में उस पर प्रांतीय गवर्नरों की स्वीकृति ले ली। परंतु भारत मंत्री एमरी ने उसे स्वीकार न किया; उसने अपनी ही एक योजना सामने रख दी, जिसमें भारत के राजनीतिक तथ्यों की पूर्ण उपेक्षा की गई थी। हाडसन ने लिखा है—"यदि भारत मंत्री और वाइसराय या तो पहले की औपनिवेशक स्वराज्य की परियोजना पर या दूसरे की अंतरिम सरकार की स्थापना के लिए सम्मेलन बुलाने की मांग पर, सिद्धांत के रूप में सहमत हो जाते तो 1944 में ही कोई न कोई स्पष्ट कार्रवाई हो जाती : परंतु, क्योंकि उनमें खींचा-तानी चल रही थी, इसलिए ब्रिटिश राजनीति की नाव आंधी और तूफान में बह गई।[54]''

---

53. इस विषय का विस्तृत वर्णन मेरी इन पुस्तकों में हैं–"द इंडियन ट्राइअम्वरेट : ए पालिटिकल बायोग्राफी आफ गांधी, पटेल एंड नेहरू" 1969, तथा "इंडिया एंड पाकिस्तान : एन हिस्टोरिकल सर्वे आफ हिंदू-मुस्लिम रिलेशंस", 1973

54. एच० पी० हाडसन द्वारा लिखित "द ग्रेट डिवाइड : ब्रिटेन, इंडिया, पाकिस्तान" हचिन्सन, 1969, पृ० 177

निर्दलीय सम्मेलन की स्थायी समिति की एक बैठक सर तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में 18 और 19 नवम्बर को हुई, "जिसमें संवैधानिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से समस्त सांप्रदायिक और अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित प्रश्न की जांच के लिए एक समिति बनाने का निश्चय किया गया। समिति का परिश्रम व्यर्थ होना सुनिश्चित था, क्योंकि एक ओर तो वाइसराय उसे समझौते के लिए किए जाने वाले अपने प्रयत्नों में व्यर्थ की बाधा समझता था और दूसरी ओर जिन्ना अपने "एक पौंड गोश्त" से कम कुछ भी लेने को तैयार न था। सप्रू, जयकर, सर एन० गोपालस्वामी अय्यंगार और कुंवर सर जगदीश प्रसाद द्वारा तैयार की गई सप्रू समिति के संवैधानिक प्रस्तावों की रिपोर्ट एक ऐसा अभिलेख है, जिसमें अनेक विशेषताएं हैं।"

इसमें मांग की गई थी कि वाइसराय और प्रधान सेनापति के पदों को छोड़कर, वाइसराय की प्रबंध परिषद का भारतीयकरण किया जाए तथा प्रांतों में लोकप्रिय सरकारें पुनः स्थापित की जाएं। इसमें यह सुझाव दिया गया था कि स्वतंत्र भारत का संविधान बनाने के लिए एक संविधान सभा स्थापित की जाए तथा उसमें अनुसूचित जातियों को अलग रखते हुए हिंदुओं और मुसलमानों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाए; संविधान सभा द्वारा तीन-चौथाई बहुमत से किए गए निर्णय ही वैध समझे जाएं; अलग निर्वाचन की जगह संयुक्त निर्वाचन की पद्धति अपनायी जाए; केंद्र में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व उसी अनुपात में हो, जिस अनुपात में संविधान सभा में हो तथा भारत का विभाजन न किया जाए। रिपोर्ट के विशिष्ट लेखकों ने सहिष्णुता और समझौते की वकालत की और अंत में लिखा, हमें विश्वास है कि प्रमुख संप्रदायों में न्याय, सहिष्णुता और सच्चाई के सिद्धांतों पर समझौते के लिए काफी गुंजाइश है और इसी भावना से हम उन संप्रदायों के, जिनका प्रतिनिधित्व संविधान सभा में होगा, नेताओं से विनम्र निवेदन करते हैं कि वे भारत के भविष्य के समग्र प्रश्न पर विचार करें।"[55]

जिन्ना ने सप्रू समिति की सिफारिशों को अविचारणीय बताकर छुट्टी कर दी और समझौता संपन्न कराने वालों को "गांधीजी के ताल पर नाचने वाले और कांग्रेस के दास" कहकर जले पर नमक छिड़क दिया। जिन्ना और उनके

55 "कांस्टीट्यूशनल प्रपोजल आफ दी सप्रू कमिटी" दिसंबर, 1945, पृ० 327

आदमियों की सार्वजनिक विवाद को गंवारू रूप देने की क्षमता असीमित हो गई थी। भारत के इन सपूतों के सब प्रयत्न निष्फल हो गए क्योंकि ब्रिटिश सरकार जिन्ना की राय के बिना देश के बारे में कुछ भी न करने के लिए कृतसंकल्प थी।

15 जून, 1945 को वाइसराय की पहल पर बुलाए गए शिमला सम्मेलन का भी यही हाल हुआ। नजरबंद कांग्रेसी नेताओं को विचार-विमर्श में भाग लेने के लिए पहले ही छोड़ दिया गया था। जिन्ना ने सम्मेलन में दृढ़ता से कहा कि कांग्रेस एक हिंदू संस्था है; इसलिए वह "हिंदुओं के अतिरिक्त और किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करती।" उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत के प्रधान मंत्री डा० खां साहब के रोषपूर्ण विरोध का भी उन पर कोई प्रभाव न पड़ा। सम्मेलन प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर विफल हो गया। वाइसराय कांग्रेस-अध्यक्ष मौलाना आजाद से इस बात में सहमत था कि मुस्लिम लीग का पक्ष गलत था।

इंग्लैंड में, जुलाई 1945 में मजदूर दल के सत्ता में आने से भारतीय स्वाधीनता का भविष्य निश्चित रूप से उज्ज्वल हुआ परंतु सांप्रदायिक समस्या वहीं की वहीं रही; उसका कोई युक्तियुक्त हल न निकला। एटली चर्चिल की जगह प्रधान मंत्री बना और लार्ड पेथिक लारेंस एमरी की जगह भारत-मंत्री। दोनों नवागंतुक भारतीय समस्या के बारे में यथार्थवादी और निष्पक्ष विचार रखते थे। भारत के 1945–46 के चुनावों के परिणाम से उन्हें यह पता चल गया कि समझौता किस प्रकार हो सकता था। धर्म को चुनावी हथियार के रूप में इस्तेमाल करके मुस्लिम लीग ने चुनाव में भारी विजय प्राप्त कर ली।[56]

यह स्पष्ट हो गया कि ऐसा कोई भी संवैधानिक प्रस्ताव, जिसमें मुस्लिम बहुल क्षेत्रों को अलग करने की व्यवस्था न होगी, मुस्लिम लीग और उसके नेता को संतुष्ट कर सकेगा। 16 मई, 1946 को ब्रिटिश कैबिनेट मिशन ने जो योजना पेश की, उसमें प्रान्तों को लगभग पूर्ण अधिकार देकर भारत की क्षेत्रीय अखंडता

---

56. मुस्लिम लीग की चुनावी रणनीति पर, अन्यों के साथ-साथ, प्रोफेसर ब्रेचर और सर माल्कम डार्लिंग के विचार उल्लेखनीय हैं। देखिए, माइकेल ब्रेचर लिखित "नेहरू: ए पालिटिकल बायोग्राफी," पृ० 304; माल्कम ल्याल डार्लिंग लिखित "एट फ्रीडम्स डोर," पृ० 85, 86; डी०जी० तेंदुलकर लिखित "अब्दुल गफ्फार खां," पृ० 367, मौलाना अबुल कलाम आजाद लिखित "इंडिया विन्स फ्रीडम," पृ० 124

की रक्षा का असंभव कार्य करने की कोशिश की गई थी। कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने उसे स्वीकार कर लिया। परंतु मनों में "अनेक शंकाएं बनी रहीं।" यह अच्छा ही हुआ कि यह अव्यवहार्य योजना रद्द कर दी गई क्योंकि इसके आधार पर कोई भी सरकार सरलता या दक्षता के साथ काम नहीं कर सकती थी।

16 अगस्त, 1946 के नृशंस कलकत्ता हत्याकांड से, जिसने देश के अनेक भागों में भीषण सांप्रदायिक उपद्रवों की शुरुआत की, यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के रास्तों का अलग अलग होना अनिवार्य है। वाइसराय की प्रबंध-परिषद में उनके प्रतिनिधि साथ-साथ काम नहीं कर सके। सरकार में नेहरू की स्थिति सचमुच असंभव बना दी गई। 21 नवम्बर को उन्होंने कहा कि "लीग और वरिष्ठ ब्रिटिश अधिकारियों में मानसिक मैत्री है।" उन्होंने शिकायत की कि वेविल आंख मींच कर स्थिति को देखता है। उन्होंने आरोप लगाया कि "वाइसराय धीरे-धीरे कार के पहिए निकाल रहा है, जिससे स्थिति संकटपूर्ण होती जा रही है[57]।"

नेहरू और गांधी यह समझ गए होंगे कि यदि कांग्रेस 1942 में क्रिप्स प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती तो ऐसी स्थिति पैदा न होती। उस समय मुस्लिम लीग इतनी मजबूत न थी कि कांग्रेस और सरकार दोनों का खुला प्रतिरोध कर सकती। नेहरू और उनके साथियों का वेविल सरकार में प्रवेश विलंबित होने के साथ-साथ न तो उसकी पार्टी के हित में था और न देश के हित में क्योंकि वह 1919 के पुराने अधिनियम के उपबंधों के अनुसार हुआ था। प्रबंध-परिषद में कांग्रेस-लीग-अंतर्द्वंद्व ने यह सिद्ध कर दिया कि कांग्रेस-रणनीति में परिवर्तन कितना विलंबित और निरर्थक था। यदि कांग्रेस सप्रू और जयकर जैसे उदारवादी नेताओं के प्रांतों में पुनः सत्ता संभालने के लिए दिए गए परामर्श को पहले ही मान लेती, तो भारत का इतिहास ही भिन्न होता।

यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय गतिरोध एक निश्चित अवधि में भारत से अंग्रेजों की वापसी की घोषणा से ही दूर किया जा सकता था। 20 फरवरी, 1947 को एटली ने ठीक यही किया। उसने कहा कि जून 1948 से पहले ही सत्ता "जिम्मेदार भारतीयों के हाथों में" सौंप दी जाएगी। वेविल ने, जिसने

57. फ्रेंक आर० मोरेस द्वारा लिखित "जवाहरलाल नेहरु : ए बायोग्राफी" मैकमिलन आफ न्यूयार्क, 1956, पृ० 326

नितांत अदक्षता से अपना उत्तरदायित्व संभाला था, एडमिरल माउंटबेटन के लिए स्थान खाली कर दिया। माउंटबेटन को इतिहास के एक अत्यंत महत्वपूर्ण पार्थक्य के कार्य के निष्पादन के लिए पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। उसे भारत में अनेक अंग्रेज नौकरशाहों के भ्रष्टाचार तथा देश में बढ़ती हुई स्वेच्छाचारिता का पर्याप्त साक्ष्य प्राप्त हुआ। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि भारतीयों को सत्ता उसी वर्ष में हस्तांतरित की जानी चाहिए, जिसमें वह यहां आया था क्योंकि उसे भय था कि इस अवधि के बाद, वह थोड़ी-बहुत ही बच पाएगी। इस प्रकार, भारत ने स्वतंत्रता ऐसी परिस्थितियों में प्राप्त की जिनका सही वर्णन प्रोफेसर ब्रेचर ने किया है। उसने लिखा है कि "केवल इस प्रतीति ने कि भारी हानि उठाए बिना सत्ता सुरक्षित नहीं रह सकती, 1947 का परिणाम सुनिश्चित किया।"[58]

भारत गणराज्य के संविधान के निर्माण में जयकर का योगदान अधिक न था। संविधान सभा दिसंबर, 1946 में होनी थी और उसके लिए वे कांग्रेस के टिकट पर चुने गए थे। परंतु कांग्रेस के टिकट पर चुना जाना ऐसी बात न थी जो उन्हें निर्भीकता से अपने विचार प्रकट करने से रोकती। अंग्रेज अभी भारत में ही थे तथा देशी नरेश और मुस्लिम लीग संविधान सभा में शामिल नहीं हुए थे। 10 दिसम्बर को सदन को संबोधित करते हुए जयकर ने इस ओर उसका ध्यान आकर्षित किया तथा संविधान निर्माताओं से कहा कि वे ऐसे निर्णय न करें जिनसे दोनों महत्वपूर्ण पक्षों का कार्यवाही में भाग लेना कठिन या असंभव हो जाए।

उनके कुछ मान्य मित्रों ने उन्हें सलाह दी थी कि वे ऐसा तर्क न दें क्योंकि उसका अर्थ "मुस्लिम लीग का तुष्टीकरण" भी हो सकता था। परंतु उनका कहना था कि यदि इससे संविधान सभा का परिश्रम सफल होता है तो इसमें कोई हानि नहीं है। यह भी कहा गया कि जीवन भर तो वे हिंदू हितों के समर्थक रहे पर अब इतने दिनों बाद मुस्लिम हित के समर्थक बन गए। परंतु वे दोनों बातों में कोई अंतर न समझते थे। उन्होंने कहा, "मैं हिंदू हितों का समर्थन करता हूं—इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं एक दूसरे संप्रदाय के अधिकारों को, जिन्हें मैं उचित समझता हूं, नजर-अंदाज कर दूं।" उन्होंने बताया कि सभा के लिए संविधान के सिद्धांतों पर विचार करने का ठीक समय अभी नहीं आया। मुस्लिम

---

[58] माइकेल ब्रेचर लिखित "नेहरू : ए पालिटिकल बायोग्राफी", पृ० 372-73

लीग और नरेशों को यह निश्चय करने के लिए कि उन्हें संविधान निर्माण में सहयोग देना चाहिए अथवा नहीं, उचित समय दिया जाना चाहिए।

उनके भाषण में जो अनेक बार रुकावट डाली गई, उनसे उन्होंने जान लिया कि उनका पक्ष लोकप्रिय नहीं है, फिर भी वे अपनी बात पर डटे रहे। इतने दिनों बाद भी उनके भाषण का उपसंहार बड़ी दिलचस्पी से पढ़ा जाएगा, उनके विश्वास की दृढ़ता के कारण ही नहीं, उस वाक्पटुता के कारण भी, जिससे वह दिया गया। मैं यहां कुछ विस्तार से उसे उद्धत करता हूं—"परंतु मैंने अपने मित्र से कहा, अलोकप्रियता बचपन से ही मुझे पुरस्कार में मिलती रही है। मैं अनेक अलोकप्रियताओं में से गुजरा हूं। जब मैंने स्वराज्य पार्टी शुरू करने में सहायता की तो मैं अलोकप्रिय था। जब मैंने अनुक्रियात्मक सहयोगवादी पार्टी शुरू की तो मैं अलोकप्रिय था। जब मैं लंदन में भारतीय गोलमेज संम्मेलन में गया तो मैं अलोकप्रिय था। जब मैं 1935 के अधिनियम के पारण में शामिल हुआ तो मैं अलोकप्रिय था—वह विधान, जिसे आपने ; मेरे विचार से, अत्यंत अविवेकपूर्ण तरीके से रद्द कर किया; ऐसा करने के बाद, आप उसी घृणित विधान से, अब महत्वपूर्ण बातें उधार ले रहे हैं—संघ, दुर्बल केंद्र, स्वशासी नरेश और अंत में प्रांतों में अवशिष्ट शक्तियां। परंतु मैं आपको बताता हूं कि समय के साथ मेरी अलोकप्रियताएं बढ़कर विशाल बहुमत बन गई हैं। इसलिए इस उम्र में और इतने अनुभव के बाद, अब मुझे अलोकप्रियता से कोई डर नहीं हैं। मेरा कर्तव्य आपको यह बताना है कि जिस मार्ग को आप अपनाना चाहते हैं, वह गलत है, अवैध है, अधकच्चा है, अनर्थकारी है, खतरनाक है। यह आपको विपत्ति में डाल देगा। चूंकि मैं आपके टिकट पर चुना गया हूं, इसलिए स्पष्ट रूप से यह कहने के लिए बाध्य हूं कि आगे खतरा है, निराशा का खतरा है, फूट का खतरा है, विभाजन का खतरा है जिससे बचना हमारा कर्त्तव्य है। जनाब, मैं कह चुका।"[59] परंतु जब मुस्लिम लीग ने संविधान सभा में शामिल होने का कोई संकेत न दिया, तो 21 जनवरी, 1947 को उन्होंने सभा में अपने पक्ष में संशोधन की घोषणा कर दी।

स्वतंत्र भारत में जयकर जैसे उदारवादियों का राजनीतिक व्यवसाय समाप्त हो गया। बंबई के अंग्रेजी भाषा के एक दैनिक के संपादक की हैसियत से मैंने

59. "द कांस्टीट्यूएंट असैम्बली डिबेट्स", आफिशियल रिपोर्ट, भाग–1, पृ० 27, 69–78

उन्हें 1948 में लिखा कि वे मेरे पत्र के लिए भारत के संवैधानिक भविष्य पर एक लेख लिख कर भेजें। उनका उत्तर संक्षिप्त किंतु महत्वपूर्ण था। मेरी प्रार्थना मानने में अपनी असमर्थता पर खेद प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा, "मेरे और दिल्ली के बीच में दूरी बढ़ती जा रही है" जिसका अर्थ था कि उनके और भारत के कांग्रेसी शासकों के विचारों में कोई समानता न थी। यदि महात्मा गांधी जीवित होते तो कदाचित ऐसी स्थिति न आती। जनवरी 1948 में उनकी हत्या से जयकर को बहुत आघात पहुंचा; उनके साथ अपने राजनीतिक मतभेदों के बावजूद वे उनका सच्चे दिल से आदर करते थे। उसके बाद उन्होंने अपना अधिक समय और ध्यान शिक्षा में लगाया। जैसा कि अगले अध्याय में बताया जाएगा, उन्हें वास्तव में, पूना विश्वविद्यालय का जनक कहा जा सकता है।

अध्याय 15

शिक्षाविद्

विद्वान और विविध प्रतिभा सम्पन्न होने के कारण जयकर की स्वभावतः शिक्षा में विशेष रुचि थी। भारत में तथा भारत से बाहर प्राचीन एवं आधुनिक शिक्षा पद्धतियों के अध्ययन से उन्हें विश्वास हो गया था कि देश की मौजूदा शिक्षा संस्थाओं के पूर्ण पुर्ननिर्माण की आवश्यकता थी। वे जानते थे कि प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य जड़ और चेतन का संश्लेषण था। तक्षशिला, नालन्दा, वल्लभी, विक्रमशिला और कांची जैसे विश्वविद्यालयों में केवल धर्म और दर्शनशास्त्र का ही विशिष्ट अध्ययन-अध्यापन नहीं होता था, अपितु चिकित्सा-शास्त्र, शल्य तन्त्र, खगोल विज्ञान, ज्योतिषशास्त्र, कृषिविज्ञान और गणित आदि अनेक कलाओं की शिक्षा भी दी जाती थी।

विद्या की आधारशिला इतनी अच्छी तरह और इतनी मजबूती से रखी गयी थी कि न तो समय की अति और न देश में हुए परिवर्तनों से ही उसके अस्तित्व को कोई खतरा पैदा हुआ। यही कारण है कि, एक प्रसिद्ध भारतीय संस्कृति विशेषज्ञ प्रोफेसर एफ० डब्ल्य० थामस को स्पष्ट रूप से यह घोषणा करनी पड़ी कि ऐसा कोई देश नहीं है "जहां विद्या के प्रति प्रेम इतनी जल्दी पैदा हुआ हो या उसने इतना स्थायी और प्रबल प्रभाव डाला हो। वैदिक युग के साधारण कवियों से लेकर वर्तमान युग के बंगला दार्शनिकों तक गुरुओं और विद्वानों की एक अविच्छिन्न श्रृंखला रही है।"[1]

इस महान् विरासत से जयकर ने विशेष लाभ उठाया। वर्तमान शिक्षा प्रणाली पर उनके विचारों का संक्षिप्त उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। परीक्षा प्रणाली पर उनकी राय आज भी उतनी ही सही है, जितनी उस समय थी। उन्होंने बताया कि "शिक्षा का महल" ब्रिटिश सरकार ने विशेष रूप से इसलिए बनाया था कि प्रशासन के निम्न स्तरों पर काम करने के लिए शिक्षित भारतीय निश्चित रूप से मिलते रहें। मैकाले जैसे व्यक्तियों ने इसकी कल्पना भले ही अच्छे विचार से की हो परन्तु वास्तविक उपयोग में वह "शिक्षा की मशीन सिद्ध हुई जो वर्ष-प्रति-

1. सर फिलिप हारटोग लिखित "सम आस्पेक्ट्स आफ इंडियन एजूकेशन, पास्ट एंड प्रेजेन्ट", आक्सफोर्ड, 1939, पृ० 2

वर्ष ऐसे युवक तैयार करने लगी जो स्वाभिमान, प्रखर स्वतन्त्रता, गम्भीर विचार और ज्वलन्त देशभक्ति की उस भावना से सर्वथा शून्य थे, जो हमारे विचार से, इंग्लैंड जैसे स्वतन्त्र देश का शैक्षिक उद्देश्य और आदर्श थी तथा जो हमारी राय में हमारी शिक्षा का भी उद्देश्य और आदर्श होनी चाहिए थी।" परन्तु ब्रिटिश पद्धति से शिक्षा प्राप्त करने वाले भारतीय विद्यार्थी आमतौर से ऐसे गुणों से वंचित थे।[2]

उन्होंने बताया कि अधिकांश विद्यार्थी परीक्षाओं के लिए तैयारी "उदर-पूर्ति के लिए" करते थे। फिर भी यह प्रणाली उस समय इतनी निरर्थक नहीं थी जितनी अब है। श्रेष्ठ विद्यार्थी ही विश्व-विद्यालयों में प्रविष्ट होते थे, इसलिए अपनी प्रतिभा और अपने मानसिक क्षितिज को विस्तृत करने की उनकी उत्कंठा के, कारण, तलछट भी बहुमूल्य धातु में बदल जाती थी। विद्वान बनने के लिए जयकर को कितना परिश्रम करना पड़ा, यह समझने के लिए उनकी जीवनी पढ़नी चाहिए।

आज स्थिति बिल्कुल भिन्न है। उच्च शिक्षा की प्राप्ति का अधिकार सामाजिक स्तर का विशिष्ट चिन्ह बन गया है, जिसका विद्यार्थी की योग्यता और पात्रता से कोई सम्बन्ध नहीं है। जब से परीक्षा लेने की प्रणाली शुरू हुई है, तभी से उसमें सुधार के लिए लगातार साहित्य तैयार होता रहा है। देश की स्वतन्त्रता के बाद यद्यपि साहित्य की यह धारा अधिक व्यापक और तेज हो गई है, परन्तु इस प्रणाली का विकृत रूप देश में जड़ जमाता चला जा रहा है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने मई 1973 में प्रकाशित एक पत्रिका में प्रणाली की खामियों को संक्षेप में बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किया है तथा इसमें सुधार के तरीकों का संकेत दिया है परन्तु केन्द्र-नियंत्रित शिक्षा नीति के अभाव में यह अनुरोध तथा प्रार्थना से आगे नही जा सकती।

जब से जयकर ने देश की शिक्षा-समस्या पर ध्यान देना शुरू किया तभी से उन्हें विश्वास होने लगा कि स्वावलम्बन का कोई विकल्प नहीं है। उन्होंने देखा कि बम्बई में ऐसी शिक्षा संस्थाएं बहुत कम थीं जो निजी भारतीय एजेंसियों द्वारा चलायी जा रही हों। उनमें से अधिकांश या तो सरकारी थीं या ईसाई मिशनरियों के नियन्त्रण में थीं। उनमें से किसी को भी भारतीय विद्यार्थियों में अपनी विरासत के प्रति गर्व की सच्ची भावना पैदा करने तथा उनमें देशभक्ति के उदात्त गुण और अपनी मातृभूमि के प्रति सेवा एवं त्याग की भावना विकसित करने के लिए आदर्श

2 "द स्टोरी आफ माई लाइफ", भाग 1, पृ० 22

एजेंसी के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता था। जैसा कि जयकर ने बताया, दोनों ही एजेंसियां इंग्लैंड को आदर्श मानने में दिलचस्पी रखती थीं। इसलिए, युवावस्था में ही उन्हें महसूस हुआ कि युवकों के मस्तिष्क को उनकी प्रतिभा और देश की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने के लिए, भारतवासियों को अपनी निजी शिक्षा संस्थाएं स्थापित करनी चाहिए।

विश्वविद्यालयीय शिक्षा प्राप्त ऐसे अनेक युवक थे, जिनमें ऐसे साहसिक कार्य के लिए उतना ही उत्साह था, जितना जयकर में। उनमें से एक बी० एच० ठाकुर थे, जो बाद में बम्बई सरकार में एक महत्वपूर्ण अधिकारी बने। 7 मार्च, 1897 को उन्होंने एक परिपत्र जारी किया, जिसमें वे आदर्श उल्लिखित थे, जिनसे उनका दल नए उपक्रम को हाथ में लेने के लिए उत्प्राणित हुआ था। परिपत्र में अनुरोध किया गया था कि महाराष्ट्र के अधिकांश महत्वपूर्ण केन्द्रों में दल द्वारा प्रकल्पित स्वरूप के राष्ट्रीय विद्यालय होने चाहिए। ये स्कूल आदर्श स्थानों पर स्थापित किए जाने चाहिए तथा उनमें विद्यार्थियों के शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिए पर्याप्त सुविधाएं होनी चाहिए। परिपत्र में कहा गया, "विद्यार्थियों को, जीवन नीरस नहीं लगना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि धार्मिक शिक्षा दी जाए तथा धार्मिक उत्सव आयोजित किए जाएं और युवकों के मनोरंजन के लिए सभी पर्व और त्यौहार मनाए जाएं"। पाठ्य क्रम ऐसा होना चाहिए जो विद्यार्थियों में ज्ञान और विद्या के प्रति सच्चा प्रेम जागृत करे या उन्हें परिश्रम और आत्मसंयम की आदत डालने के लिए प्रोत्साहित करे। उन्हें सम्मान और कर्त्तव्य की सच्ची भावना का विकास करने की भी शिक्षा दी जाए।

परिपत्र में ऐसी शिक्षा की व्यवस्था थी जिससे राष्ट्रीयता के विकास को ही नहीं, मानव की एकता की व्यापक भावना के विकास को भी बढ़ावा मिलता हो। उसमें कहा गया था, "विद्यार्थी को जिस प्रकार अपनी देशी भाषा या संस्कृत से सीखने में कोई परहेज नहीं होता, उसी प्रकार उसे ग्रीक, रोमन, अरबी और यूरोपीय भाषाओं से सीखने में भी कोई परहेज नहीं होना चाहिए।" उसमें अनुरोध किया गया था कि अध्यापक वर्ग की योग्यता अत्युत्कृष्ट होनी चाहिए। अध्यापक "केवल शिक्षक ही न हों, अपितु विद्वान, उत्साही देशभक्त, ज्ञान-प्रेमी, देश पर गर्व करने वाले तथा ईश्वर भक्त और धर्मानुरागी भी हों।"[3]

3. वही, पृ० 24, 25

सभी शिक्षोन्नेता नौजवान थे, उनमें से कोई 25 वर्ष से अधिक का न था। अधिक संख्या उनकी थी जो अत्युत्कृष्ट प्रतिभा-संपन्न थे। उनके दल के सभी लोग उत्साही और आत्मत्यागी थे। यह निश्चय किया गया था कि उनमें से कोई भी पढ़ाने का पारिश्रमिक नहीं लेगा। इसके विपरीत आरंभिक वित्तीय कठिनाइयों का सामना करने के लिए प्रत्येक 100 रु० देगा। हाई स्कूल का नाम उन्हीं के द्वारा स्थापित "आर्यन एजुकेशन सोसायटी" के नाम पर रखा गया। इसमें जून 1897 से विद्यार्थियों का पंजीकरण आरंभ कर दिया गया। स्कूल के लिए यह संतोष का विषय था कि शुरू में ही 700 विद्यार्थी भर्ती हो गए। जयकर से प्रिंसिपल बनने का अनुरोध किया गया परन्तु उन्होंने अपने घनिष्ठ मित्र एस० आर० धराधर को यह सम्मानित पद स्वीकार करने के लिए राजी कर लिया। धन की कमी से यह नया उपक्रम फेल न हो जाए, यह सुनिश्चित करने के लिए जयकर के नाना कीर्तिकर ने उदारता से धन दिया। संस्था की स्वतन्त्रता बनाए रखने के लिए सरकार से कोई सहायता नहीं ली गई।

शिक्षोन्नेताओं की यह धारणा थी कि विद्यार्थियों का सबसे बड़ा हित इसी में है कि उन्हें धार्मिक शिक्षा दी जाए। दक्षता और विश्वास के साथ धार्मिक शिक्षा देने के लिए अध्यापक भगवद्गीता और दोनों महाकाव्यों–रामायण और महाभारत —का गहराई से अध्ययन करते थे। जयकर ने लिखा है, "हमारी धार्मिक शिक्षा का उद्देश्य अपने शिष्यों के दैनिक जीवन में गीता में उपदिष्ट अनुशासन के नियमों को उतारना तथा उन्हें भारत के महाकाव्यों में वर्णित तत्सम उपदेशों से संपूरित करना था।" वे बड़ी कक्षाओं को अंग्रेजी और संस्कृत पढ़ाते थे। स्कूल काफी लोकप्रिय हो गया परन्तु सरकार उसे सन्देह की दृष्टि से देखती थी। सार्वजनिक शिक्षा विभाग ने यह आरोप लगाकर गीता पढ़ाने पर आपत्ति की कि अध्यापक धार्मिक शिक्षा के बहाने राजद्रोह का प्रचार कर रहे हैं। नौकरशाहों की ऐसी बेहूदी धारणा को दूर करने के लिए प्रभावशाली लोगों को बहुत परिश्रम करना पड़ा।

स्कूल ने लोकप्रियता भी अर्जित की और प्रतिष्ठा भी। बड़े-बड़े नाम उससे जुड़े हुए थे। उसके न्यासियों और सदस्यों में जयकर के नाना, रानडे, बम्बई के एक प्रसिद्ध चिकित्सक डा० भालचन्द्र और एक बड़े व्यापारी सर विजभूकनदास आत्माराम थे। गोखले के एक प्रमुख अनुयायी जी० के० देवधर ने संस्था के महत्व और लोकप्रियता को बढ़ाने के लिए बड़े उत्साह से काम किया। इस संस्था के स्नातकों में प्रमुख थे—भारत के रिजर्व बैंक के भूतपूर्व गवर्नर और भूतपूर्व केन्द्रीय वित्त मन्त्री चिन्तामण देशमुख।

जयकर ने 1901 में स्कूल में नियमित अध्यापन कार्य बन्द कर दिया, परन्तु अपने अन्तिम दिनों तक उसके कार्यों में रुचि लेते रहे। दिसम्बर, 1949 में महान् समाज-सुधारक और भारतीय महिला विश्वविद्यालय के संस्थापक डी० के० कर्वे की अध्यक्षता में मनाए गए सोसायटी के स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव को उन्होंने बड़े गर्व और हर्ष के साथ देखा। स्कूल ने बम्बई सरकार से अनुदान लेना तब स्वीकार किया जब 1937 में कांग्रेस सत्ता में आ गई। प्रधान मन्त्री (प्रीमियर) बी० जी० खेर जयकर के अच्छे मित्र थे।

स्कूल का काम जयकर की प्रकृति के अनुरूप था। उन्हें दर्शनशास्त्र तथा अन्य साहित्य के गंभीर अध्ययन के लिए समय मिल जाता था। उन्होंने शिक्षा के वास्तविक महत्व और राष्ट्र को शक्तिशाली एवं संकल्पशील बनाने में उसकी भूमिका का गंभीर परिज्ञान भी प्राप्त कर लिया। असहयोग आन्दोलन के दिनों में जब शिक्षा संस्थाओं का बहिष्कार इस आन्दोलन का एक भाग बन गया था, उन्होंने एक अलग योजना तैयार की, जिसका उद्देश्य युवा लोगों को केवल देशभक्त ही नहीं, बल्कि अच्छे और उपयोगी नागरिक बनाना भी था। जयकर ने बम्बई की अनेक संस्थाओं को उनकी शिक्षा सम्बन्धी परियोजनाएं तैयार करने में सहायता दी, जिनमें एक कन्या विद्यालय भी था। इसके अलावा, जयकर विद्यार्थियों की साहित्यिक एवं वैज्ञानिक समिति जैसी देशभक्तिपूर्ण संस्थाओं से भी घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे। बम्बई विश्वविद्यालय का सदस्य (फैलो) बन जाने से शिक्षा में उनकी रुचि और भी बढ़ गई।

जयकर चाहते थे कि विद्यार्थी समुदाय गतिशील बने और अपने आसपास की घटनाओं में गहरी रुचि ले। परन्तु वे यह नहीं चाहते थे कि विद्यार्थी पढ़ाई छोड़ कर राजनीति में भाग लें। वे नारे लगाने वालों और झंडा लहराने वालों से घृणा करते थे। वे जानते थे कि ऐसे विद्यार्थी अपने जीवन को नष्ट कर देंगे और बाद के वर्षों में अपने किए पर आंसू बहाएंगे। वे इस बात को अत्यन्त अनुचित समझते थे कि कोई राजनीतिक नेता, विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्ति के लिए वैकल्पिक सुविधाएं प्रदान किए बिना, उन्हें स्कूल और कालेज छोड़ने के लिए उकसाए। उनकी डायरी में 25 जनवरी, 1921 की एक प्रविष्टि से इस प्रश्न पर उनके इस रुख का स्पष्ट पता चलता है। उन्होंने लिखा, "मुझे कालेजों को सूना करने में कतई विश्वास नहीं है। परन्तु यदि समुचित धन हो और गांधीजी एवं कांग्रेस नेता धन

की व्यवस्था करने का वायदा करें, तो मैं उच्च न्यायालय से अलग हटकर बम्बई में एक प्रथम श्रेणी का कालेज शुरू करने के लिए अपना सम्पूर्ण समय देने को राजी हूँ।"[4]

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, जयकर महात्मा गांधी के सच्चे प्रशंसक थे और कांग्रेस को एक दृढ़ संगठन बनाने में वे दूर तक उनके साथ चलने को तैयार थे। परन्तु वे विधि एवं व्यवस्था के विरोध का समर्थन करने अथवा केवल नकारात्मक कार्यक्रम अपनाने के लिए किसी प्रकार तैयार न थे। वे इस शर्त पर सरकार के साथ असहयोग का समर्थन करते थे कि उसमें भाग लेने वाले मिल कर राष्ट्रीय पुर्निर्माण के कार्य में सहयोग करें। विद्यार्थियों को स्कूल और कालेज छोड़ने की सलाह देने में भी उन्हें कोई आपत्ति न थी, बशर्ते कि उन्हें तुरन्त दूसरी शिक्षा संस्थाओं में ले लिया जाए। विद्यार्थियों को अन्धकार में भटकता हुआ छोड़ने तथा उन्हें अपने आप पर, अपने परिवार पर और अपने देश पर भार बनने देने के वे घोर विरोधी थे।

असहयोग की अपनी निजी कल्पना को मूर्त रूप देने के लिए जयकर ने बम्बई में एक कालेज स्थापित करने का निश्चय किया। गांधीजी ने उनकी परियोजना का हृदय से समर्थन किया और दो प्रमुख कांग्रेसी इस सन्देश के साथ उनके पास भेजे कि संस्था को अस्तित्व में लाने के लिए आरंभ में उन्हें एक लाख रुपये दिए जाएंगे। जयकर का इरादा था कि नए कालेज में अध्यापक वर्ग, पुस्तकालय एवं प्रयोगशाला सम्बन्धी सुविधाएं वैसी ही हों, जैसी बम्बई के अन्य पुराने कालेजों में हैं। वे समझते थे कि पुरानी संस्थाओं को छोड़कर आने वाले विद्यार्थियों को यदि कोई चीज कम या घटिया दी गई, तो यह उनके साथ घोर अन्याय होगा। योजना पर विचार करने के लिए उन्होंने अनेक अनुभवी प्राध्यापकों और वरिष्ठ विद्यार्थियों को बुलाया। विद्यार्थी तो स्वभावतः प्रसन्न थे, परन्तु अध्यापक संशयालु थे। इस विषय में उन्होंने मुख्य न्यायाधीश से भी खुलकर बात की। उन्होंने कहा कि उनकी इस परियोजना के मार्ग में इतनी रुकावटें आएंगी कि उनसे पार पाना कठिन हो जाएगा।

जयकर को स्वयं भी सन्देह होने लगा। कुछ प्रमुख कांग्रेस नेताओं के भाषणों से उन्हें विद्यार्थी समुदाय के भविष्य के बारे में भारी आशंकाएं होने लगीं। उनमें

4. वही, पृ० 427

से एक ने विद्यार्थियों की एक सभा में कहा कि जब तक स्वतन्त्रता नहीं मिलती, तब तक राष्ट्रीय शिक्षा भी किसी काम की नहीं, इसलिए उन्हें "अपनी पुस्तकें बन्द करके" संघर्ष में शामिल हो जाना चाहिए। उसने यह नहीं बताया कि उन्हें मुक्ति कितनी देर से या कितनी जल्दी मिलेगी और क्या विद्यार्थियों द्वारा स्कूल और कालेज खाली कर देने से एक सुदृढ़ मूल विदेशी शक्ति उखड़ जाएगी और देश से बाहर चली जाएगी।

इसके विपरीत, जब विद्यार्थी जयकर से मिलने आए तो उन्होंने चेतावनी दी कि वे बिना विचारे जल्दबाजी में कोई काम न करें। अपनी योजना के बारे में उनका भ्रम शीघ्र ही दूर हो गया। 29 जनवरी, 1921 को, एक प्रमुख कांग्रेसी उनके पास आए और बोले कि गांधीजी से प्रतिज्ञात वित्तीय सहायता तभी मिलेगी जब आप निम्नांकित शर्तें पूरी करेंगे : विद्यार्थियों को कुर्सियों और बेंचों का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए, बल्कि उन्हें टाट के फर्शों पर बैठना चाहिए ; उन्ह प्रतिदिन दो या तीन घंटे चरखा कातना चाहिए तथा उन्हें असहयोग का प्रचार करने के लिए प्रति सप्ताहान्त गावों में जाना चाहिए। ये शर्तें सुन कर जयकर को आश्चर्य हुआ, अतः उन्होंने बार-बार आगन्तुक से पूछा कि क्या ये शर्तें गांधीजी ने रखी हैं। उन्होंने उस कांग्रेसी से कहा : "आप कहते हैं कि ये गांधीजी के विचार हैं, परंतु उनके साथ मेरी जो बातचीत हुई है, उससे मुझे इसमें सन्देह है।"

उन्होंने यह कहकर शर्तों को अस्वीकार कर दिया कि ये गंभीर विचार योग्य नहीं हैं। उन्हें यह स्पष्ट विदित था कि कालेज या विश्वविद्यालय का काम क्या है। विश्वविद्यालय राष्ट्रीय शिक्षा के महल की सबसे ऊपरी मंजिल है। उसका कर्तव्य राष्ट्र के लिए राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी कार्य-क्षेत्रों में दक्ष नेताओं की सुनिश्चित आपूर्ति की व्यवस्था करना है। उच्च शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाएं वस्तुतः योग्यता की बीजभूमि होनी चाहिए। उनमें अपने विद्यार्थियों को जीवन और जीविका के लिए तैयार करने की क्षमता होनी चाहिए। जयकर का विश्वास था कि ये आदर्श झक्कीपन से नहीं बल्कि सही दिशा में सख्त परिश्रम से प्राप्त किए जा सकते हैं।

उन्होंने इस कांग्रेसी से कहा कि मेरी कल्पना का कालेज ऐसा होगा जो बम्बई के अच्छे से अच्छे कालेज का मुकाबला कर सकेगा। उन्होंने बताया कि विद्यार्थियों से बैंचों को छोड़ कर खुरदरी चटाइयों पर बैठने के लिए कहना मूर्खता

है। नई पद्धति इसलिए लोकप्रिय नहीं हो सकती, क्योंकि बहुत से गैर-हिन्दू विद्यार्थी भी नए कालेज में भर्ती होना चाहेंगे। ऐसे विद्यार्थी कम ही थे, जिनके माता-पिता गांधीजी के सिद्धान्तों के प्रशंसक थे। यह सुझाव कि विद्यार्थियों को अनिवार्य रूप से गाँवों में जाकर काम करना चाहिए, इसलिए अव्यवहार्य था क्योंकि बंबई में केवल उपनगर थे, गांव कोई न था।

जयकर अपने टाइम-टेबिल में तो 'चरखा कातना' शामिल करने को तैयार थे, परन्तु उसे पाठ्यक्रम में प्रमुखता देने के विरुद्ध थे। उन्होंने घोषणा की : "यह कालेज है, चरखा विद्यालय नहीं है।" उनकी सबसे बड़ी आपत्ति इस शर्त पर थी कि विद्यार्थियों को राजनीतिक कार्य करना चाहिए। उन्होंने पूछा : "आप अबोध बच्चों को राजनीतिक कार्य में क्यों झोंकते हैं ? वे एक ही पखवाड़े में जेल में डाल दिए जाएंगे। माता-पिता अपने बच्चों को इसलिए कालेज नहीं भेजते कि वे राजनीतिक भाषण दें और जेल भेज दिए जाएं। अनुभवहीन बच्चों को इसके लिए बाध्य करने के बजाए आप राजनीतिक नेता स्वयं ही इसे क्यों नहीं कर लेते ?"[5]

इस प्रकार यह योजना ठप्प हो गई। जयकर ने प्रस्तावित कालेज के लिए जिन अध्यापकों को इकठ्ठा किया था वे, अपने अपने घरों को चले गए और जिन्होंने मित्र के नाते उन्हें चेतावनी दी थी, वे खुश थे कि अधिक बुरा नतीजा नहीं हुआ। अनेक कांग्रेसियों के अस्पष्ट विचारों के विपरीत जयकर ने दिसम्बर, 1920 में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन के तुरन्त बाद, राष्ट्रीय शिक्षा के लिए एक योजना बनाई थी जो भारतीय स्थिति की यथार्थता पर आधारित थी। योजना इस मौलिक सिद्धान्त को लेकर चली थी कि देश के प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के अधिक से अधिक विकास के लिए पूरा अवसर मिलना चाहिए। सभी प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य इसी लक्ष्य की प्राप्ति होना चाहिए। स्वतन्त्र भारत का समाज कैसा होना चाहिए, इसकी कल्पना पहले ही कर लेनी चाहिए। यदि वर्तमान व्यक्तिगत लाभ वाली प्रणाली को, जिसके अनुसार एक व्यक्ति की हानि दूसरे का लाभ बन जाती है, कायम रखना गलत है, तो यह आवश्यक है कि सहयोगवादी समाज के लिए प्रयत्न किया जाए जिसमें सभी का कल्याण सुनिश्चित है। जयकर ने लिखा, "मैंने महसूस किया कि इसे राजनीतिज्ञों के हाथों में छोड़ना गलत होगा।

5. वही, पृ० 427-30

यह मुख्य रूप से हमारी शिक्षा पद्धति से सम्बन्धित विचारकों और राष्ट्र के शिक्षाविदों का काम है।'' यह भी उतना ही आवश्यक है कि सुधरी शिक्षा राष्ट्रीय एकता की वृद्धि पर केन्द्रित रहे तथा उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यावहारिक कदम उठाए जाएं। जयकर का कहना है कि अपनी योजना की विफलता से वे अनुचित रूप से निराश नहीं हुए थे तथा बाद के वर्षों में भी वे भारतीय शिक्षा पर अपने विचारों और आदर्शों का प्रचार करने के लिए यथा-शक्ति कोशिश करते रहे।

अब तक जयकर सच्ची शिक्षा के पक्षधर के रूप में विख्यात हो चुके थे तथा जो लोग इसमें लगे हुए थे, उनके सच्चे मित्र बन गए थे। विद्यार्थियों में उनकी लोकप्रियता सन्देहरहित थी। इसका कारण था उनकी वाक्पटुता और उनके भविष्य में उनकी सच्ची रुचि। इसलिए 1923 में वे बड़े विश्वास के साथ बम्बई विधान-मंडल में विश्वविद्यालय की सीट के लिए चुनाव में खड़े हुए। उनके प्रमुख प्रति-द्वन्द्वी डा० आर० पी० परांजपे थे, जो प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री थे और इसलिए दुर्जेय प्रतिस्पर्धी थे। फिर भी जयकर की विजय हुई, उन्हें 1,561 मत मिले जबकि डा० परांजपे को कुल 1,186 मत ही मिले। तीसरे प्रत्याशी की जमानत जब्त हो गई। इस चुनाव की उल्लेखनीय विशेषता जयकर की पूरी तैयारी थी, जिसके साथ जयकर ने अभियान चलाया था। उन्होंने सारे प्रान्त, जिसमें सिन्ध शामिल था, जो अब पाकिस्तान में है तथा गुजरात और महाराष्ट्र, जिनमें से प्रत्येक अब राज्य बन गया है, तथा कर्नाटक के चार उत्तरी जिले जो उन दिनों बम्बई प्रान्त में थे, का दौरा किया था।

उनके चुनाव दौरे में बम्बई के भावी मुख्य मन्त्री बी० जी० खेर उनके साथ रहे। खेर ने उनके सचिव के रूप में काम किया और अपना खर्चा खुद ही किया। दोनों की मित्रता का बाद के वर्षों में, विशेष रूप से शिक्षा के क्षेत्र में, अच्छा नतीजा निकला। महाराष्ट्र के लिए एक विश्वविद्यालय स्थापित करने की जयकर की चिर-संचित अभिलाषा को पूरा करने में खेर ने प्रमुख भूमिका अदा की। यह विश्वविद्यालय 1948 में एक दूसरे ही नाम से अर्थात् पूना विश्वविद्यालय के रूप में अस्तित्व में आया। जयकर उसके प्रथम अवैतनिक उपकुलपति बने और अप्रैल 1956 में अपनी सेवानिवृत्ति तक उस पद पर रहे।

महाराष्ट्र के लिए एक पृथक विश्वविद्यालय की आवश्यकता बहुत दिनों से महसूस की जा रही थी। सर नारायण चन्दावरकर ने 1917 में बम्बई प्रेसीडेंसी

शिक्षा-सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में इस आशय की अभिव्यक्ति की थी। प्रान्त की प्रत्येक भाषायी इकाई की शैक्षिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए सम्मेलन ने पांच पृथक विश्वविद्यालयों की स्थापना की सिफारिश की थी। 1913 में ही, भारत सरकार यह कह चुकी थी की देश के प्रत्येक बड़े प्रान्त का अपना विश्वविद्यालय होना चाहिए। उस समय समस्त ब्रिटिश भारत में केवल पांच विश्वविद्यालय थे। उसने "शैक्षिक कुशलता के लिए सीधे मार्ग के रूप में प्रत्येक प्रान्त में अच्छे से अच्छे आधुनिक विचार के अनुरूप नए स्थानीय शैक्षणिक और आवासीय विश्वविद्यालय" स्थापित करने का भी विचार किया था। कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन ने, जो अपने अध्यक्ष सर माइकेल सडलर के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिक क्षेत्रीय विश्वविद्यालय स्थापित करने के विचार का सच्चे मन से समर्थन किया।

बम्बई का गवर्नर सर लेसली विल्सन महाराष्ट्र वालों से प्रसन्न था। पद छोड़ने से पहले उसने जयकर से पूछा कि मैं उनकी क्या सहायता कर सकता हूँ। जयकर ने उत्तर दिया कि महाराष्ट्र के लिए जो सबसे बड़ी सेवा आप कर सकते हैं, वह यह है कि आप उसे पृथक विश्वविद्यालय दें। बम्बई विश्वविद्यालय के सिनेट के सदस्य के रूप में प्राप्त अपने अनुभव से उन्हें विश्वास हो गया था कि यह विश्वविद्यालय "सिन्ध, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक और बम्बई जैसे सुदूरवर्ती और असमान क्षेत्रों की विशिष्ट शैक्षिक समस्याओं पर प्रभावशाली ढंग से ध्यान नहीं दे सकता था, जिसका नतीजा यह हुआ कि प्रेसीडेंसी के इन दूरवर्ती भागों के शैक्षिक हितों को भारी धक्का पहुंचा"। वे समझते थे कि बम्बई विश्वविद्यालय पर "भार बहुत अधिक है" और वह "किसी भी कीमत पर" कम होना चाहिए। इसलिए उन्होंने गवर्नर को सलाह दी कि वह प्रान्त में अभीष्ट संख्या में क्षेत्रीय विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिए कदम उठाएं।

तदनुसार, बम्बई सरकार ने विश्वविद्यालय सुधार की समस्या का अध्ययन करने तथा उस पर रिपोर्ट देने के लिए सर चिमनलाल सीतलवाड की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। जयकर को भी समिति में काम करने के किए आमंत्रित किया गया। इस विशेषज्ञ समिति से प्रार्थना की गई कि वह बम्बई विश्वविद्यालय के काम की जांच करे, केवल उसके संविधान को अधिक विस्तृत एवं उदार बनाने के बारे में ही नहीं, बल्कि उसे एक शैक्षणिक विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित करने के बारे में भी सिफारिश करे। उससे यह भी कहा गया कि वहां विश्वविद्यालय

और बम्बई शहर एवं मुफस्सिल दोनों में स्थित उससे सम्बद्ध कालेजों के मध्य सम्बन्धों की जाँच करे तथा इस पर विचार करे कि क्या मुफस्सिल केन्द्रों में अन्य विश्वविद्यालय स्थापित करना वांछनीय एवं साध्य है या नहीं।'' उसे और भी कार्य सौंपे गए, जिनसे हमारा यहां कोई सम्बन्ध नहीं है।

सीतलवाड समिति ने इस प्रश्न का वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया कि क्या बम्बई प्रान्त में और भी विश्वविद्यालय होने चाहिए। उसने महसूस किया कि एकमात्र प्रान्तीय विश्वविद्यालय दूरवर्ती जिलों की शैक्षिक आवश्यकताओं को पूरी तरह पूरा नहीं कर सकता। बम्बई शहर के ''अनेकानेक हित'' थे जिनमें मुख्य वाणिज्य एवं उद्योग व्यवसाय थे। अत: वह दूरवर्ती क्षेत्रों की शैक्षिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं का आदर्श चिन्तन नहीं हो सकता था। समिति ने विचार व्यक्त किया कि ''स्थानीय विश्वविद्यालय जीवन और विचारधारा की भूतकालिक और वर्तमान स्थानीय परिस्थितियों से उत्प्राणित भी होगा और उनमें उत्साहपूर्ण रुचि भी जागृत करेगा। समिति ने अन्य अनेक लाभों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया, जैसे शिक्षा के माध्यम के रूप में क्षेत्रीय भाषा अपनाना और स्नातकोत्तर शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों के लिए अधिक अच्छी और सस्ती सुविधाएं उपलब्ध करना आदि।

साथ ही समिति ने क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों के मार्ग में आने वाले खतरों के विरुद्ध भी चेतावनी दी। सबसे बड़ा खतरा यह था कि वे निकृष्टतम रूप में 'प्रांतीय' हो सकते थे। राष्ट्रीय संस्कृति और राष्ट्रीय एकता के 'गढ़' होने के बजाए वे 'पृथकतावादी ताकतों के केन्द्र' बन सकते थे। समिति को यह भी भय था कि अवांछनीय स्थानीय प्रभाव ''स्तर को गिरा भी सकता था तथा दान और उपहार के बदले विश्वविद्यालय में सम्मान (मानद डिग्रियाँ या केवल सिनेट में स्थान) दिला सकता था।''

परन्तु समिति ने देखा कि क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों की स्थापना से हानियों की अपेक्षा लाभ बहुत अधिक हैं, अत: उसने उनकी स्थापना की सिफारिश कर दी, बशर्ते कि संबंधित क्षेत्र जिम्मेदारी उठाने के लिए 'तैयार' हों। जयकर ने एक नोट में लिखा कि महाराष्ट्र के साथ-साथ गुजरात में भी एक विश्वविद्यालय होना चाहिए। उन्होंने लिखा— ''मैं सोचता हूँ कि यदि गुजरात में वैसी परिस्थितियाँ न भी

विद्यमान हों, जैसी कि पुणे में हैं, फिर भी वहां आसानी से विश्वविद्यालय की शुरुआत की जा सकती है।"

समिति ने मत व्यक्त किया कि महाराष्ट्र के वास्ते नया विश्वविद्यालय शुरू करने के लिए पुणे आदर्श स्थान है। शहर में अनेक शिक्षा संस्थाएं थीं तथा नए उपक्रम की सफलता सुनिश्चित करने के लिए "काफी सक्रिय, प्रभावशाली एवं योग्य व्यक्ति" भी विद्यमान थे। इसके अलावा, पुणे में, "अध्ययन एवं अनुसंधान" के लिए पर्याप्त क्षेत्र उपलब्ध था। समिति ने देखा कि महाराष्ट्र के लिए पृथक विश्वविद्यालय के समर्थकों में इस प्रश्न पर मतभेद है कि क्या यह एकात्मक और शैक्षणिक विश्वविद्यालय हो अथवा देश के अन्य अनेक विश्वविद्यालयों की भांति सम्बद्ध विश्वविद्यालय होना चाहिए।

समिति ने अपनी सिफारिशों में दोनों ही बातें शामिल कर दीं। उसने कहा कि यह विद्यालय प्रस्तावित पुणे विश्वविद्यालय में सम्बद्ध होना चाहिए, जहां पढ़ाने का भी काम होगा। "महाराष्ट्र के समस्त मौजूदा कालेज उससे सम्बद्ध होने चाहिए। यह सुनिश्चित करने के लिए कि वह प्रान्तीयता के प्रवाह में न बह जाए, समिति ने यह सिफारिश की कि महाराष्ट्र के सम्बद्ध कालेजों और मान्यता प्राप्त हाई स्कूलों को विश्वविद्यालय के प्रशासन में कानून द्वारा पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए।"[6]

इन सिफारिशों के बारे में जयकर ने तीन नोट लिखे। उन्होंने कहा कि डेक्कन कालेज को, जो पुणे में उच्च शिक्षा की सबसे पुरानी संस्था है, समाप्त नहीं किया जाना चाहिए अपितु स्नातकोत्तर संस्था के रूप में बदल देना चाहिए और प्रस्तावित विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कर देना चाहिए। उन्होंने कहा कि शिक्षा के माध्यम का निर्णय नए विश्वविद्यालय पर छोड़ देना चाहिए। उन्होंने तर्क दिया कि भाषा का चुनाव अध्यापकों और विद्यार्थियों की 'सुविधा' पर निर्भर है। उन्होंने स्वीकार किया कि बम्बई जैसे महानगर में अंग्रेजी सबसे अधिक उपयुक्त भाषा है जिसके माध्यम से उच्च शिक्षा दी जा सकती है, परन्तु अन्य क्षेत्रों में सबसे अच्छा माध्यम "भारत की देशी भाषाएं" हैं। उन्हें यह डर नहीं था कि मराठी को पढ़ने और समझने के माध्यम के रूप में इस्तेमाल करने से नया विश्वविद्यालय स्वरूपतः

6. "रिपोर्ट आफ द कमेटी आन यूनिवर्सिटी रिफार्म, अप्वाइंटेड बाई गवर्नमेंट," 1924-25, पृ० 43-52

'प्रान्तीय' हो जाएगा, क्योंकि ऐसे दोष से बचने के लिए उसके संविधान में पर्याप्त संरक्षण लिख दिए जाएंगे ।

जयकर ने अपने नोट में यह भी लिखा : "निश्चय ही पुणे को इस समस्या का सामना करना पड़ेगा कि उन विद्यार्थियों को, जो विधि, इंजीनियरी, चिकित्सा-विज्ञान आदि के व्यावसायिक कालेजों में जाएंगे, उन्हें बम्बई के अंग्रेजी भाषा के स्तर तक कैसे लाया जाए, और मुझे आशा है कि यही बात पुणे विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी में घटिया स्तर अपनाए जाने के विरुद्ध मजबूत रुकावट का काम करेगी।" ये विचार आज भी संगत हैं, क्योंकि विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा की भाषा से संबन्धित विवाद भारतीय शिक्षा को अब भी भूल-भूलैंया में डाल रहा है । वित्त-व्यवस्था के प्रश्न पर जयकर ने ऐसी कोई भी शर्त लगाने का विरोध किया, जिससे योजना विलम्बित अथवा रद्द होती हो ।[7]

बम्बई सरकार ने सीतलवाड समिति की सिफारिश पर कोई कारवाई नहीं की । परन्तु महाराष्ट्र के शिक्षाविद् अपने क्षेत्र के लिए पृथक विश्वविद्यालय के प्रश्न को उठाकर ताक में रख दिए जाने के लिए तैयार न थे । 1926 में मराठी साहित्य सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पास करके ऐसा विश्वविद्यालय स्थापित करने की मांग की ताकि उसके क्रियाकलाप से मराठी भाषा और साहित्य को पूरा प्रोत्साहन मिल सके । बाद के समस्त वार्षिक अधिवेशनों में भी सम्मेलन ने ऐसे ही प्रस्ताव पास किए । इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जुलाई 1928 में, महाराष्ट्र विश्वविद्यालय समिति नाम की एक संस्था बनाई गई । 1932 में, जयकर के नेतृत्व में महाराष्ट्र विश्वविद्यालय समिति बनाई गई ।

उसी वर्ष जून में, प्रस्तावित विश्वविद्यालय के लिए एक योजना तैयार करने के लिए जयकर की अध्यक्षता में शिक्षाशास्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें और लोगों के साथ-साथ एन० सी० केलकर, डा० आर० पी० परांजपे, डा० जी० एस० महाजनी, महामहोपाध्याय दत्तो वामन पोद्दार, प्रिंसिपल आर० पी० सबनीस, श्रीमती इरावती कर्वे, प्रो० एम० आर० परांजपे, प्रो० बी० एस० कामथ और प्रो० वी० बी० नायक ने भाग लिया । सम्मेलन में निश्चय किया गया कि महाराष्ट्र विश्वविद्यालय एक शैक्षणिक एवं आवासीय विश्व-विद्यालय होगा । पुणे के समस्त कालेज तथा नासिक, सांगली, कोल्हापुर,

---

7. वही, पृ० 58, 59

आदि स्थानों के कालेज, उसके नियंत्रण में रहेंगे। इन सभी से कहा जाएगा कि वे नए विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हो जाएं। समस्त महाराष्ट्र के तथा अन्य प्रान्तों के भी मराठी के माध्यमिक विद्यालयों से विश्वविद्यालय में शामिल होने को कहा जाएगा। सम्मेलन में शिक्षाशास्त्रियों ने यह भी निश्चय किया कि महाराष्ट्र में शिक्षा के सभी स्तरों पर शिक्षण का माध्यम मराठी होगा। योजना को सफल बनाने तथा धन एकत्र करने की दिशा में आगे कदम उठाने के लिए एक समिति बना दी गई।[8]

बम्बई सरकार के पुणे के प्रतिष्ठित डेक्कन कालेज को बन्द करने के निर्णय से महाराष्ट्र के शिक्षाशास्त्रियों को अपने क्षेत्र के लिए पृथक विश्वविद्यालय की मांग पर जोर देने के लिए जयकर के नेतृत्व में एक शिष्टमंडल बम्बई के गवर्नर सर फ्रेडरिक साइक्स के पास ले जाने का अवसर मिल गया। शिष्टमंडल 3 अप्रैल, 1933 को गवर्नर से मिला। उन्होंने उसे याद दिलाया कि उनकी मांग बहुत पुरानी है और जब यह पहली बार की गई थी तब से अब तक के वर्षों में पुणे में शैक्षिक गतिविधियां बहुत बढ़ गई हैं। विश्वविद्यालय के स्वरूप के विषय में शिक्षाशास्त्रियों में जो मतभेद था, अब वह दूर हो गया था। वे सभी इस सम्बन्ध में सीतलवाड समिति की सिफारिशों से सहमत थे। गवर्नर से कहा गया, "प्रस्तावित विश्वविद्यालय की सर्वोत्तम निधि कदाचित आत्मत्याग और धैर्य के साथ किए गए शैक्षिक कार्य की वे स्मरणीय परम्पराएं होंगी, जो गत कुछ दशाब्दियों में महाराष्ट्र में पड़ी हैं।[9]

बम्बई शिक्षा मन्त्री, जो जयकर के अनुसार, साम्प्रदायिक विचारों से प्रभावित था, ने तथा कुछ अन्य लोगों ने इस योजना का विरोध किया। गवर्नर का दृष्टिकोण भी ऐसा ही था। उसने शिष्टमंडल से कहा कि क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों की स्थापना से एकता की उस भावना को ठेस पहुंचेगी जो प्रान्त की जनता में विद्यमान है।[10] परन्तु मामला यहीं समाप्त नहीं हुआ। उसी वर्ष जुलाई में, क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक दो-दिवसीय सम्मेलन

---

8. "जयकर पेपर्स" (अप्रकाशित), पृ० 280–81
9. "रिपोर्ट आफ द महाराष्ट्र यूनिवर्सिटी कमेटी अप्वाइंटेड बाई गवर्नमेंट," 1942–43' अपेन्डिक्स 44, पृ० 97–99
10. "जयकर पेपर्स" (अप्रकाशित), पृ० 285, 294

बुलाया गया जिसकी अध्यक्षता गवर्नर ने की, परन्तु उसका कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। गवर्नर और उसकी सरकार ने महाराष्ट्र के शिक्षाशास्त्रियों की मांग के विरुद्ध जो रवैया अख्त्यार किया था, वह पूर्णतया केन्द्रीय सरकार के 1913 के नीति सम्बन्धी वक्तव्य के विरुद्ध था। परन्तु उनकी हठधर्मिता को दूर करने के लिए कुछ नहीं किया जा सकता था।

1937 में, कांग्रेस के सत्ता में आने से यह प्रश्न पुनः महत्वपूर्ण बन गया। जयकर के मित्र बी० जी० खेर बम्बई के प्रधान मंत्री बने। महाराष्ट्र की शैक्षिक महत्वाकांक्षा के साथ उनकी पूरी सहानुभूति थी। उनके सहयोगी, वित्त मंत्री ए० बी० लट्ठे ने घोषणा की कि सरकार क्षेत्रीय विश्वविद्यालय की आवश्यकता समझती है। उन्होंने आशा व्यक्त की कि प्रस्तावित पूना विश्वविद्यालय "उन चार विश्वविद्यालयों में दूसरा होगा, जो ज्ञान के विस्तार के लिए मिलकर काम करेंगे, ताकि प्रान्त के सभी भागों को बौद्धिक व्यवसायों का उच्चतम प्रशिक्षण उपलब्ध हो सके तथा कोई भाग उससे वंचित न रहे।" 1939 में ब्रिटेन के युद्ध और शान्ति के उद्देश्यों के प्रश्न पर कांग्रेस-सरकारों द्वारा त्यागपत्र दे देने के बाद आंदोलन को एक और धक्का लगा।

बम्बई सरकार ने अन्त में यह महसूस किया कि क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों के प्रश्न को अनिश्चित काल तक टालते रहने से कोई लाभ न होगा। 7 फरवरी, 1942 के एक प्रस्ताव में उसने संक्षेप में ऐसे विश्वविद्यालयों के लिए किए जाने वाले आन्दोलन के इतिहास पर प्रकाश डाला। विशेष रूप से उसने डा० जी० एस० महाजनी के उस प्रस्ताव की ओर ध्यान आकर्षित किया, जो उन्होंने 20 सितम्बर, 1937 को बम्बई विधान परिषद् में प्रस्तुत किया था। प्रस्ताव में कहा गया कि उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान-सम्बन्धी सुविधाओं की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए सरकार को प्रान्त में अतिरिक्त विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिए कदम उठाने चाहिए। सदन को बताया गया कि ऐसी संस्थाएं बनाने में सिद्धान्ततः सरकार को कोई आपत्ति नहीं है, "परन्तु आवश्यक संरक्षण और शर्तें मौजूद रहनी चाहिए।" यह महसूस किया गया कि समस्या के पूर्ण अध्ययन की आवश्यकता है। तदनुसार, सरकार ने जयकर की अध्यक्षता में सात प्रतिष्ठित व्यक्तियों की एक समिति बनाई। समिति से कहा गया कि वह इस बारे में अपनी रिपोर्ट दे कि क्या महाराष्ट्र के लिए एक पृथक

19—262 M. of I & B/ND/82

विश्वविद्यालय स्थापित करना आवश्यक है और यह सिफारिश करे कि नए विश्वविद्यालय का संविधान और क्षेत्राधिकार कैसा होना चाहिए ।

महाराष्ट्र को अपना अलग विश्वविद्यालय दिए जाने की वांछनीयता या अवांछनीयता के बारे में समिति ने जो निष्कर्ष निकाले थे, उनके विषय में कभी कोई सन्देह नहीं था । उसने सिफारिश की कि प्रस्तावित विश्वविद्यालय का नाम पूना विश्वविद्यालय होना चाहिए । नई शिक्षा संस्था का उद्देश्य और कार्य "स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के समस्त अध्यापन के प्रत्यक्ष संचालन के लिए तथा कला, विज्ञान, औद्योगिक, विधि और चिकित्साविज्ञान संकायों में तथा अन्य ऐसे संकायों में, जो समय-समय पर आवश्यक हों, अनुसंधान की व्यवस्था करने और उसे चलाने के लिए, पूना में एक केन्द्रीय संगठन बना कर एक मजबूत शिक्षण विश्वविद्यालय का शिलान्यास करना" होना चाहिए । विश्वविद्यालय को निश्चय ही "विश्व के अध्ययन के स्थान" के रूप में अपनी भूमिका के प्रति पूरी तरह सजग रहना चाहिए । साथ ही उसे महाराष्ट्र और उसकी जनता की विशिष्ट आवश्यकताओं, हितों और परम्पराओं को भी ध्यान में रखना चाहिए ।"

समिति ने सुझाव दिया— "पूना में स्नातक स्तर की शिक्षा देने वाली समस्त संस्थाएं नए विश्वविद्यालय के अंग बन जाएंगी ।" उसने यह भी सिफारिश की कि "इन्टरमीडिएट स्तर तक की शिक्षा वह पूना में चाहे कहीं भी दी जा रही हो, स्वयं अंगभूत इकाइयों के लिए छोड़ देनी चाहिए ।" समिति की एक और महत्वपूर्ण सिफारिश यह थी कि "पूना में कला सम्बन्धी और व्यावसायिक, दोनों प्रकार के कालेजों में स्नातक कक्षा से लेकर ऊपर की कक्षाओं में शिक्षा की व्यवस्था सीधी विश्वविद्यालय के हाथ में रहेगी । प्रत्येक अंगभूत कालेज और अनुसंधान संस्थान से कहा जाएगा कि वह विषय-विशेष के लिए अध्यापकों की एक निश्चित संख्या रखे तथा स्नातक और स्नातकोत्तर शिक्षण कार्य के लिए उनकी सेवाएं विश्वविद्यालय को अर्पण करे । विश्वविद्यालय में स्नातक एवं स्नातकोत्तर शिक्षण कार्य के लिए प्रत्येक विषय के व्याख्याताओं की एक सूची रहेगी, जो इन "मान्य" अध्यापकों तथा विश्वविद्यालय के प्रोफेसरों और रीडरों को मिला कर बनाई जाएगी ।"[11]

---

11. "रिपोर्ट आफ द महाराष्ट्र यूनिवर्सिटी कमेटी अप्वाइंटेड बाई गवर्नमेंट", 1942-43, पृ० 79, 80

महाराष्ट्र के लिए पृथक विश्वविद्यालय का सपना भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता मिलने के बाद साकार हुआ, वह भी एक भिन्न नाम अर्थात पूना विश्व-विद्यालय के नाम से। जयकर उसके प्रथम अवैतनिक उपकुलपति बने। वे 1948 से अप्रैल 1956 में अपनी सेवानिवृत्ति तक इस पद पर रहे। विशेषज्ञों की जांच पड़ताल के बाद, 1949 में एक नया विश्वविद्यालय बम्बई प्रान्त के कन्नड़ जिलों की शैक्षिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अस्तित्व में आया। इसका नाम कर्नाटक विश्वविद्यालय है और यह धारवाड़ में स्थित है। दूसरे ही वर्ष, गुजरात का भी अपना विश्वविद्यालय हो गया। उस समय तीनों विश्वविद्यालय एक ही प्रान्त में स्थित थे, परन्तु भाषा के आधार पर देश की प्रशासनिक व्यवस्था के पुनर्गठन के बाद अब ये तीनों अलग-अलग राज्यों—महाराष्ट्र, कर्नाटक और गुजरात में हैं।

जयकर ने अपनी समस्त क्रिया-शक्ति नई जिम्मेदारियों को पूरा करने में लगा दी। एक शिशु विश्वविद्यालय का पालन-पोषण करने तथा उसे एक सर्वांगपूर्ण विद्यापीठ के रूप में विकसित करने का भार अधिकांशतः उन्हीं के कन्धों पर आया। शिक्षा में एकरूपता लाने तथा ऊंचा स्तर बनाए रखने के लिए अध्यापन का समन्वय, उनका एक प्रमुख कार्य था। नगर के तीनों कालेजों से अध्यापक लेकर उनका प्रत्येक संकाय के लिए एक पूल बनाया गया। इस प्रकार, स्नातक स्तर से स्नातकोत्तर स्तर तक, समस्त अध्यापन को केन्द्रित कर दिया गया, प्रत्येक कालेज को केवल स्नातक-स्तर से पूर्व के विद्यार्थियों की कक्षाएं लेनी पड़ती थीं। यद्यपि विश्वविद्यालय वैधानिक रूप से अध्यापन की सीधी जिम्मेदारी लेने के लिए बाध्य था, फिर भी पूना के कुछ शिक्षाशास्त्री यह महसूस करते थे कि उन्होंने ऐसी व्यवस्था के लिए सौदा नहीं किया था।

तीन कालेजों में से दो के प्रिंसिपल अप्रसन्न हो गए। उदाहरणार्थ, फर्ग्युसन कालेज का प्रिंसिपल नई व्यवस्था से बहुत असन्तुष्ट था। इस कालेज की स्थापना पर साम्राज्यवादी दरबों में काफी फड़फड़ाहट हुई थी। इसने समस्त महाराष्ट्र में और पश्चिमी भारत के अधिकांश भागों में अतिश्रेष्ठ शिक्षा-संस्था के रूप में ख्याति प्राप्त की थी। इसके अनेक प्रोफेसर अपनी विद्वत्ता के ही लिए नहीं, अपने व्यवसाय में निष्ठा और उत्साह के लिए भी प्रसिद्ध थे। ऐसी महान संस्था से, नई व्यवस्था के अन्तर्गत, केवल अन्डर-ग्रेजुएट कक्षाएं लेने के लिए कहना, उसके लिए एक प्रकार का अपमान था।

सुधार के सम्बन्ध में आलोचकों का कहना था कि वे समन्वित अध्यापन के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं थे अपितु अनावश्यक केन्द्रीकरण के विरुद्ध थे। सभी संकायों में समन्वित अध्यापन के लिए मुख्य स्थल के रूप में एक कालेज चुना गया तथा अन्य दो कालेजों के पूल से सम्बन्धित प्रोफेसरों और लेक्चररों को अपनी स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं को पढ़ाने के लिए अध्यापन-केन्द्र में जाना पड़ता था। यह व्यवस्था अन्य दो कालेजों के लिए लोकप्रिय सिद्ध नहीं हुई। उन्हें महसूस हुआ कि उन्हें उपेक्षित किया जा रहा है। उनके एक प्रतिष्ठित प्रिंसिपल ने, जो अब सेवानिवृत हैं, मुझसे कहा था कि उन्होंने विभिन्न विश्वविद्यालयीय संस्थाओं में प्रस्ताव प्रस्तुत करके योजना में उचित संशोधन कराने के लिए बार-बार प्रयत्न किए परन्तु सफलता नहीं मिली। एक के बाद एक आने वाले दो कुलपतियों तथा बम्बई के गवर्नरों से भी अपीलें की गईं, परन्तु वे भी निरर्थक सिद्ध हुईं।

अप्रैल, 1956 में जयकर के उपकुलपति-पद से सेवानिवृत होने के बाद, केन्द्रीयकृत अध्यापन की योजना के कार्यान्वियन की जांच करने के लिए डा० पी० बी० गजेन्द्रगदकर की अध्यक्षता में, जो बाद में भारत के मुख्य न्यायाधीश बने, एक विशेषज्ञ समिति बनाई गई। समिति ने योजना में कई संशोधन सुझाए, उसे भली भांति सुधारा भी गया परन्तु नई परिस्थितियों में उसका चलना असंभव हो गया। विश्वविद्यालय की स्थापना के बाद, देश के अन्य भागों की भांति, पुणे में भी उच्च शिक्षा के इच्छुक विद्यार्थियों की संख्या तेजी से बढ़ने लगी। इसके कारण अधिक कालेजों का खोलना आवश्यक हो गया जिससे केन्द्रीकृत अध्यापन की योजना, एकरूपता और कुशलता की दृष्टि से वांछनीय होते हुए भी अव्यवहार्य हो गई। तदनुसार, जयकर के उत्तराधिकारी सर रघुनाथ परांजपे ने उसे छोड़ दिया। इससे जयकर को कुछ दुःख हुआ और इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने भाव अपनी आत्मकथा में खुल कर प्रकट किए।[12]

पूना विश्वविद्यालय ने अपने अस्तित्व के 27 वर्ष पूरे कर लिए हैं। जिन आशाओं और आकांक्षाओं को लेकर इसकी स्थापना की गई थी, उनका औचित्य इसके इतिहास से पूरी तरह सिद्ध हो जाता है। इसके अनेक विद्यार्थी विद्वानों और वैज्ञानिकों के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं तथा अन्य व्यवसायों में भी

12. "द स्टोरी आफ माई लाइफ" भाग 2, पृ० 346

खूब चमके हैं। विश्वविद्यालय की स्थापना के तुरन्त बाद, सामान्य जनता के लाभ के लिए विविध विषयों पर भाषणों की एक शृंखला आयोजित करने के लिए "बहिशाला शिक्षण मंडल" नामक एक संस्था बनाई गई। महाराष्ट्र के विभिन्न भागों में, जो पूना विश्वविद्यालय के अधिकार-क्षेत्र में हैं, ऐसे भाषण देने के लिए विशेषज्ञ बुलाए जाते हैं, यह आवश्यक नहीं कि वे विशेषज्ञ कालेज या विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ही हों। मंडल उपयोगी साहित्य भी प्रकाशित करता है। भाषण और साहित्य, दोनों ही मराठी में होते हैं, जो जनता की भाषा है।

विश्वविद्यालय ने बाह्य विद्यार्थियों की परीक्षा लेने और उन्हें डिग्री प्रदान करने की पद्धति भी शुरू कर दी है। उसके वर्तमान उपकुलपति डा० जी० एस० महाजनी ने मुझे विश्वास दिलाया है कि इस नई पद्धति से विश्व-विद्यालय की ख्याति अथवा उसके द्वारा दी जाने वाली डिग्रियों के महत्व पर कोई असर नहीं पड़ा है। जो अभ्यर्थी बाह्य विद्यार्थियों के रूप में डिग्री लेते हैं, वे अधिकतर बड़ी उम्र के व्यक्ति होते हैं, जिनकी जीविका का साधन नौकरी या और कोई धन्धा होता है। वे अपेक्षाकृत परिपक्व बुद्धि के होते हैं और धन के मूल्य को जानते हैं, इसलिए अधिक परिश्रम और जिम्मेदारी से पढ़ते हैं। परीक्षाओं के परिणामों से ये विशेषताएं स्पष्ट हो जाती हैं।[13]

विश्वविद्यालय संस्कृत, अर्थशास्त्र और भाषा विज्ञान आदि विषयों में उच्च अध्ययन के लिए पर्याप्त सुविधाएं प्रदान करता है। यह उन तेरह भारतीय विश्वविद्यालयों में से है, जिन्हें केन्द्र ने वर्तमान परीक्षा-प्रणाली का पूर्ण अध्ययन करने तथा उसके सुधार के सम्बन्ध में सिफारिश करने का अधिकार दिया है। विश्वविद्यालय ने जो तेजी से प्रगति की है, उसका अधिकांश श्रेय जयकर को जाना चाहिए जिन्होंने उपकुलपति के रूप में आठ वर्ष तक अपूर्व बुद्धिमता एवं लगन के साथ उसके कार्य का संचालन किया।

---

13. पूना विश्वविद्यालय में 21 नवम्बर, 1973 को डॉ० जी० एस० महाजनी के साथ एक साक्षात्कार।

अध्याय 16

मानव

जयकर उस पीढ़ी के थे जो उन समस्त ठोस मूल्यों में विश्वास करती थी, जिन्होंने भारत को गौरव और महानता के शिखर पर पहुंचा दिया था। सत्य, ईमानदारी और अनुशासन के मूल्य में उनकी दृढ़ आस्था थी और वे चाहते थे कि उनके देशवासी अपनी विरासत की महानता तथा अपने समय के साथ उसकी संगति को समझते हुए उसके प्रति सच्चा प्रेम विकसित करें। संस्कृत के प्रख्यात विद्वान होने के कारण उन्होंने हिन्दू कानून का अध्ययन और उसकी जो व्याख्या की, उससे उन्हें बड़ी ख्याति मिली। जैसा कि इस पुस्तक के आरंभिक भाग में बताया गया है, उन्होंने अपने नाना कीर्तिकर की वेदान्त संबंधी पुस्तक का संपादन बड़ी योग्यता के साथ किया। कीर्तिकर ने दार्शनिक विषयों पर काफी लिखा था और जयकर को इस बात का खेद था कि वे उसका अधिक भाग प्रकाशित न कर सके।

जयकर अपने नाना को अपना आदर्श मानते थे और उनकी स्मृति को स्थायी बनाने के लिए अनेक प्रकार से प्रयत्नशील रहे। उन्होंने अपनी दुर्लभ कानूनी पुस्तकों का संग्रह बम्बई उच्च न्यायालय के अधिवक्ता संघ को दान कर दिया तथा समुचित वार्षिक अनुदान देकर उसका उपयुक्त रख-रखाव सुनिश्चित कर दिया। जयकर उदार प्रकृति के दाता थे और जहां विद्या एवं ज्ञान की उन्नति का प्रश्न आता था, वहां उनकी दानशीलता की कोई सीमा नहीं रहती थी। 'महाभारत' के एक समालोचनात्मक संस्करण के प्रकाशनार्थ, पुणे के प्रसिद्ध भंडारकर अनुसंधान के लिए धन एकत्र करने और स्वयं दान करने में उन्होंने प्रमुख भूमिका अदा की। उनके दान की राशि, जो मुख्यतः समाज-सुधार और शिक्षा की उन्नति के लिए दी गई थी, दो लाख रुपये से ऊपर पहुंच गई थी। उन दिनों के रुपयें के मूल्य को देखते हुए यह राशि निश्चय ही बहुत अधिक थी।

जयकर अपने समय के सर्वाधिक सुसंस्कृत व्यक्तियों में से थे तथा उनके भाव अत्यंत परिष्कृत थे। उन्हें साहित्य, कला, संगीत और वस्तुतः जीवन की समस्त श्रेष्ठ वस्तुओं से प्रेम था, इसीलिए वे विशिष्ट सुसंस्कृत व्यक्ति माने जाते थे। संस्कृत के बाद, शायद अपनी मातृभाषा मराठी से उन्हें अधिक मोह था। उन्होंने

मराठी के प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन बड़े परिश्रम से किया तथा उनकी श्रेष्ठता का बयान करने में आनन्द का अनुभव किया। वे जानते थे कि रानडे 'ज्ञानेश्वरी' का धार्मिक ग्रन्थ के रूप में तथा श्रेष्ठ साहित्यिक कृति के रूप में भी कितना आदर करते थे। मराठी को राजनीतिक विचार लेखन का अधिक उपयुक्त माध्यम बनाने के लिए तिलक ने जो अथक परिश्रम किया, उसकी भी उन्होंने बड़ी प्रशंसा की भाषा के प्रति उनके उत्साह से जयकर को प्रेरणा मिली और उन्होंने स्वयं भी मराठी में विभिन्न विषयों पर काफी -कुछ लिखा। 1937-38 में उन्हें महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन की स्वागत-समिति का अध्यक्ष चुना गया, जो ठीक ही था।

अपने धर्म में जयकर की पूर्ण निष्ठा थी, परन्तु अन्य धर्मों के प्रति भी उनकी सहिष्णुता असीमित थी। प्रत्येक धर्म का गहराई से अध्ययन करने के बाद वे सभी धर्मों की एकता के बारे में आश्वस्त हो गए थे। वे धर्मान्धता और संकीर्ण साम्प्रदायिकता से घृणा करते थे, भले ही वह कहीं भी हो। अपने लम्बे जीवन में उन्होंने हिन्दू विश्वासों और प्रथाओं को, सदियों से उन पर जमी समस्त अवांछनीय मैल को हटाकर शुद्ध करने तथा प्राचीन धर्म को पुनः सरल एवं पवित्र बनाने के प्रयत्न किए। उनके निन्दक उन्हें हिन्दू-सम्प्रदायवादी कहते कभी नहीं थके, परन्तु उनका आरोप निराधार था। वे तो साम्प्रदायिकता को, वस्तुतः एक दुर्गन्धित दलदल समझते थे और यह चाहते थे कि उनका देश शीघ्र ही उससे बाहर निकल आए।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, जब तक जिन्ना ने अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को तिलांजलि नहीं दी, तब तक उनके साथ जयकर के संबंध बहुत अच्छे थे। एक घनिष्ठ मित्र के अनुसार, यदि मुस्लिम लीग के नेता जिन्ना के राजनीतिक विश्वासों में कोई परिवर्तन न होता, तो जयकर उनके साथ, उनकी राजनीतिक वृत्ति के अंत तक प्रसन्नतापूर्वक काम कर सकते थे।[1] दोनों में अलगाव तब हुआ, जब जयकर को पता चला कि उनके मित्र ने अपनी व्यक्तिगत महत्वकांक्षाओं को पूरा करने के लिए मानव-नातेदारी और ईमानदारी के समस्त चिह्नों को अपने हृदयसे मिटाना शुरू कर दिया है।

इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि जयकर में मुस्लिम सम्प्रदाय के प्रति मित्रता की सच्ची भावना थी। उन्हें मुस्लिम शिक्षा सम्मेलनों को सम्बोधित करने के लिए अक्सर आमंत्रित किया जाता था। इसके अलावा,

1. 31 मार्च, 1973 को श्री ए० जी० मूलगांवकर के साथ मेरी भेंटवार्ता।

उनका गहन संगीत-प्रेम योग्य से योग्य मुस्लिम संगीततज्ञों को उनके निकट खींच लाता था । अधिकांश महाराष्ट्रवासियों की भांति उन्हें भी हिन्दुस्तानी संगीत बहुत प्रिय था । इस विशिष्ट कला के वे अच्छे जानकार थे और इसका नित्य अभ्यास किया करते थे । वे निपुण वाद्यवादक माने जाते थे और मार्च 1918 में बंबई में गान्धर्व महाविद्यालय के तत्वावधान में आयोजित हिन्दुस्तानी संगीत सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए आमंत्रित किए गए थे । यह एक दुर्लभ सम्मान था और केवल संगीत विशेषज्ञों को ही मिलता था ।

जयकर ने अपनी आत्मकथा में बताया है कि उनके समय में संगीत किस प्रकार हिन्दुओं और मुसलमानों को जोड़ने वाली कड़ी बन गया था । एक बार, एक मुस्लिम गायक ने भगवान् कृष्ण की स्तुति में भावविभोर होकर गाना गाया जिसका जयकर पर बहुत प्रभाव पड़ा । वे लिखते हैं, "जब गाना समाप्त हो गया, तो मैंने उससे पूछा—'खां साहब, जब आप आंखें बन्द करके गाना गा रहे थे, तो आपके चेहरे पर भक्ति का भाव झलक रहा था तथा आंखों से आंसू टपक रहे थे, उस समय आप क्या देख रहे थे ?" उसने उत्तर दिया, "मैं अपने सामने कृष्ण को देख रहा था जो मेरे गाने का विषय था ।"

जयकर ने हंसी में गायक से पूछा कि आपने हिन्दू देवता को कैसे देखा ? इस प्रश्न से खीझते हुए मुस्लिम गायक ने उत्तर दिया, "जनाब, आप कृष्ण को हिन्दुओं का देवता क्यों कहते हैं? ..... वे तो उन सबके देवता हैं, जो भक्तिभाव से उनका गुणगान करते हैं और मेरे परिवार में तो यह कई पीढ़ियों से होता चला आ रहा है ।" जयकर ने यह घटना सी० आर० दास को सुनाई । सी० आर० दास उन थोड़े से कांग्रसियों में थे, जो संगीत से प्रेम करते थे । उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रचार के लिए इसे उत्तर साधन के रूप में इस्तेमाल किया ।[2] जयकर का यह सुविचारित मत था कि हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों में संगीतविशेषज्ञ अधिक होते हैं, कारण, वे इस कला में विशेष रुचि रखते हैं और इसे सीखने के लिए अधिक परिश्रम करते हैं । वे उनमें से बहुतों को जानते थे । उन्होंने अल्लादिया खां और रहमत खां के नामों का उल्लेख किया है और उन्हें "गायक सिरमौर" बताया है । उनके बाद मियां जान, फयाज खां और अब्दुल करीम खां हुए ।

2. "द स्टोरी आफ माई लाइफ" भाग-1, पृ० 184-85

निश्चय ही बहुत सारे हिन्दू ऐसे थे, जिन्होंने हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की अपनी विशेषज्ञता के कारण देशव्यापी ख्याति अर्जित की थी। जयकर ने उनमें से कुछ की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जो महाराष्ट्र के रहने वाले थे। वे थे—बालकृष्ण बुवा, भास्कर बुवा, रामकृष्ण बुवा वजे, विष्णु दिगम्बर और विष्णु पंत भातखंडे। भातखंडे इस कला में पारंगत थे। उन्होंने उत्तर भारत में और विशेष रूप से पंजाब में अनेक युवकों को शास्त्रीय संगीत में प्रशिक्षित किया। उन्होंने अपना समस्त जीवन इस महान कला की साधना में लगा दिया। उन्होंने 6 ग्रंथ प्रकाशित किए जिनमें "हिन्दुस्तानी संगीत के अनेक रागों को एक योजना के अनुसार क्रमबद्ध किया गया जिससे उनका अध्ययन आसान और प्रगतिशील हो गया।" यद्यपि अब इस विषय पर अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, फिर भी भातखंडे के ग्रंथ अब भी मानक ग्रन्थ माने जाते हैं।[3]

1918 के संगीत सम्मेलन में जयकर का अध्यक्षीय भाषण उनकी संगीत विषयक जानकारी के लिए भी उतना ही उल्लेखनीय था जितना उन रचनात्मक सुझावों के लिए, जो उन्होंने देश में भारतीय संगीत को वस्तुतः लोकप्रिय बनाने के लिए दिए थे। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि संगीत एकता के सूत्र में बांधने वाले एक विशिष्ट तत्व की भूमिका निभा सकता है। उन्होंने कहा, "संगीत एक ऐसा हथियार है जिससे आप भारत में एकता पैदा कर सकते हैं। हम समझौतों की बात करते हैं, संयुक्त निर्वाचन की बात करते हैं, विधानमंडलों में सीटों के आरक्षण की बात करते हैं परन्तु यह एक ऐसा संयुक्त निर्वाचन क्षेत्र है, जहां हिन्दू और मुसलमान सदियों से साथ-साथ काम कर रहे हैं। मैं समझता हूं, भावी भारत में.....संगीत सांस्कृतिक एकता पैदा करने में अति महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगा।" उन्होंने भारतीय संगीत के इतिहास के व्यापक अध्ययन की राय दी और उन भारतीयों की प्रवृत्ति की भर्त्सना की जो राष्ट्रीय शास्त्रीय संगीत की सच्ची महानता को अनदेखा कर पाश्चात्य संगीत की प्रशंसा करते थे। उनका भाषण "आधुनिक संगीत के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट और मौलिक अंशदान" माना गया और उसकी प्रशंसा की गई।

जयकर रंगमंच का समर्थन भी उतने ही उत्साह से करते थे। उन्होंने बम्बई और पुणे में, जो कि महाराष्ट्र के सबसे अधिक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र थे,

3. वही, भाग-2, पृ० 568-69

मराठी रंगमंच और उसके भविष्य का गंभीर अध्ययन किया था। साहित्य के मर्मज्ञ होने के कारण वे जानते थे कि नाटक किसी राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। रंगमंच में उनकी रुचि बाल्यावस्था से ही शुरू हो गई थी और विद्यार्थी के रूप में उन्होंने एक नाटक में भाग लिया था। वे एक कुशल रंगमंच-आलोचक माने जाते थे तथा विभिन्न नाट्य-अभिनयों एवं अभिनेताओं पर उनकी टिप्पणियां व्यापक रूप से पढ़ी जाती थीं। वे नारायण-राव राजहंस, जो बालगन्धर्व नाम से भी जाने जाते थे, के अभिनय-कौशल की प्रशंसा करते-करते कभी नहीं थकते थे। बालगन्धर्व एक प्रतिभाशाली अभिनेता थे तथा उनकी स्त्री-भूमिकाओं और अलौकिक स्वरमाधुर्य ने मराठी रंगमंच को महाराष्ट्र में ही नहीं, अनेक अन्य सीमावर्ती भाषायी क्षेत्रों में सर्वाधिक लोकप्रिय बना दिया था।

बम्बई के इस वकील-राजनीतिज्ञ की बहुमुखी प्रतिभा के लिए यह कम प्रशंसा की बात न थी कि मई 1918 में उन्हें नाट्य-सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए बुलाया गया। मराठी रंगमंच को अधिक लोकप्रिय बनने तथा रंगमंच-अभिनेताओं के विरुद्ध जनता की गलत धारणाओं को दूर करने के लिए उन्होंने कई सुझाव दिए। उन्होंने अभिनेताओं को सलाह दी कि वे अपनी अलौकिकताओं को छोड़ दें और जनता के जीवन की मुख्य धारा में शामिल हो जाएं। संस्कृत के नाटकों की उच्च परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें अधिक कौशल एवं बहुज्ञता अर्जित करनी चाहिए। रंगमंच को, भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी अच्छा और महान है, उस सबकी रक्षा और व्याख्या भी करनी चाहिए। उनका मत था कि "आधुनिक नाटकों को केवल मनोरंजन के लिए ही मंचित नहीं करना चाहिए अपितु उनके द्वारा भारतीय विरासत का प्रदर्शन भी होना चाहिए।"

उन्होंने सुझाव दिया कि युवा एवं प्रतिभाशाली अभिनेताओं के प्रशिक्षण के लिए एक संगठन बनाना चाहिए। एक पुस्तकालय ऐसा होना चाहिए जिसमें संस्कृत तथा अन्य भाषाओं में नाट्य-साहित्य के प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों का संग्रह हो। रंगमंच में रुचि रखने वाले सभी लोगों की पुस्तकालय तक पहुंच होनी चाहिए। वे चाहते थे कि एक ऐसी डाइरेक्टरी बनाई जाए जिसमें अभि-नेताओं के नाम, पते तथा अन्य ब्यौरे हों। वे यह भी चाहते थे कि निधन अभि-नेताओं को वित्तीय सहायता दी जाए। उन्होंने जनता से अपील की कि वह

पेशेवर अभिनेताओं के बारे में अपनी गलत धारणा को छोड़ दें तथा समाज के सम्मानित सदस्यों के रूप में उनका स्वागत करें।

जयकर को जीवन की सभी अच्छी चीजों से प्यार था तथा बम्बई में मालाबार-हिल पर उनका मकान कलात्मक सजावट का एक नमूना था। वे एक प्रशस्त मेजबान थे तथा भारत की अधिकांश विभूतियां, जिनमें सी० आर० दास, मोतीलाल नेहरू और सर तेज बहादुर सप्रू भी थे, उनका आतिथ्य ग्रहण करती थीं। अन्य राजनीतिक विचारधाराओं और राष्ट्रीयता के लोगों का भी उनकी हवेली में वैसा ही सत्कार होता था। उदाहरणार्थ, भारत के मुख्य न्यायाधीश सर मारिस ग्वेयर उन्हीं के यहां ठहरा करते थे। जयकर का रहन-सहन बहुत अच्छा था और वे अपने अतिथियों के साथ राजसी ढंग से व्यवहार करते थे। उनका खानपान भी श्रेष्ठ था, उन्होंने केवल वे ही वस्तुएं छोड़ रखी थीं, जो उनके धर्म में निषिद्ध थीं। वे सुन्दर पोशाक पहनते थे, परन्तु दुर्बल बनाने वाली विलासिता से दूर रहते थे। एक दार्शनिक का कहना है कि किसी भी चीज की अति आत्मा को मसोस देती है। जयकर इस ज्ञानप्रद चेतावनी से अवगत थे और उन चीजों से दूर रहते थे जो उनके नैतिक तथा शारीरिक बल को क्षीण कर सकती थीं।

उनका घरेलू जीवन पूरी तरह सुखी नहीं था। उनकी पत्नी सुशीला बाई, जिनके साथ उनका विवाह मई 1899 में हुआ था, उनसे बहुत प्रेम करती थीं। उनके चार संतानें थीं, जिनमें तीन लड़कियां थीं। 10 दिसम्बर, 1924 को जब वे केवल 51 वर्ष के थे, उनकी पत्नी की मृत्यु हो गई जिससे उन्हें बहुत धक्का लगा। वे उनके वियोग से बहुत दुःखी थे परन्तु वियोग के दुःख को धैर्य के साथ सहन करते रहते थे क्योंकि अपनी वृद्धा माता सोनाबाई तथा अपने बच्चों के दुःख को कम करने का एकमात्र यही तरीका था। इस कमी को पूरा करना उनके लिए कठिन था। दो वर्ष बाद, इसी महीने में, उन्हें दिल का दौरा पड़ा, जिसके कारण स्वास्थ्य-सुधार के लिए कुछ दिन उन्हें जुहू में रहना पड़ा। जुहू बम्बई के निकट एक उत्तम समुद्र तटवर्ती स्वास्थ्य केन्द्र है। इस दौरे के बाद वे अपने स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान देने लगे, परन्तु इसका उनकी कार्यक्षमता अथवा विविध प्रकार की गतिविधियों पर कोई प्रभाव न पड़ा।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, जयकर अपनी माता का बहुत आदर करते थे। वह भी, बदले में, उन्हें अपने जीवन का एकमात्र आधार समझती थीं। कम उम्र में ही विधवा हो जाने के कारण तथा 1911 में अपने पिता कीर्तिकर की मृत्यु

होने के कारण वे अपने पुत्र के अति निकट आ गईं। जब वे ऊपर बढ़ने लगे तो वह कुछ डरीं परन्तु उन्होंने अपनी इच्छा उन पर लादने की कोशिश कभी नहीं की। उन पर उनका प्रभाव इतना सुखद था कि यद्यपि वे समृद्धि के शिखर पर पहुंच गए, फिर भी उस नसीहत को कभी नहीं भूले, जो उन्होंने उन्हें उनके बचपन में दी थी। उस समय उन्होंने उन्हें याद दिलाया था कि वे अपने नाना की सम्पत्ति को अपनी नहीं कह सकते। उस समय उन्होंने जो नसीहत सीखी थी, वह उनमें अपनी निजी विशाल सम्पत्ति के प्रति विरक्ति की उदात्त भावना पैदा करने में सहायक सिद्ध हुई।

अपने पुत्र के अध्ययन-कक्ष में बैठना और चुपचाप उन्हें काम करते देखना सोनाबाई का स्वभाव सा हो गया था। जयकर उन्हें उदारता से धन देते थे। वे बड़ी दानशील थीं और गरीबों तथा जरूरतमन्दों को उदारता के साथ धन बांटती थीं। वे प्रायः अकेलापन अनुभव करती थीं और चाहती थीं कि घर में एक रेडियो सेट लग जाए परन्तु उनका पुत्र इसके विरुद्ध था। उसे रेडियो संगीत पसन्द न था।

जयकर मिलनसार और मानव प्रेमी व्यक्ति थे। वे विविध प्रकार के लोगों और राष्ट्रीय जीवन की प्रत्येक धारा के सम्पर्क में आते रहते थे। वे अपने ही परिश्रम से विधि व्यवसाय के उच्चतम शिखर पर पहुंचे थे। वे युवकों को सलाह दिया करते थे कि वे ऊंची-ऊंची आकांक्षाएं रखें और उन्हें पूरा करने की सच्चाई से कोशिश करें। एक बार, बम्बई के विधि विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा, "आप सीढ़ी के बीच में नहीं रह सकते। शीघ्र ही या तो आप सदा के लिए ऊपर चले जाएंगे या नीचे उतर आएंगे।" निश्चय ही न्यायालय का काम उन्हें आकर्षित करता था, केवल इसलिए नहीं कि उससे धन की प्राप्ति होती थी, बल्कि इसलिए भी कि इससे उन्हें अपनी अलौकिक व्याख्यान कुशलता एवं अदालती निपुणता प्रदर्शित करने का अवसर मिलता था। परन्तु धन के लोभ ने उन्हें न्यायालय में बन्दी बनाकर कभी नहीं रखा। विधान भवन के कक्ष और राजनीतिक मंच के आकर्षण भी कम न थे।

जयकर अग्रिम पंक्ति के विधायक थे। 1923 से 1926 तक वे बम्बई विधान सभा में स्वराज्य पार्टी के नेता थे। 1926 में वे केन्द्रीय विधान मंडल में चले गए जहां उन्होंने, 1930 तक, नेशनलिस्ट पार्टी के उपनेता के रूप में काम किया। उनके भाषण सदा ही गंभीर ज्ञान से परिपूर्ण होते थे तथा उन पर अध्ययन

एवं मनन की छाप रहती थी । सभी विधानों पर उनके सुझाव रचनात्मक होते थे, जो अवसर के अनुसार ओजस्वी अथवा मृदुल भाषा में दिए जाते थे ।

अपनी मातृभूमि के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता उनके धर्म का अंग बन गई थी । इस प्रश्न पर वे किसी समझौते के लिए तैयार न थे परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति का तरीका उनके लिए विशेष महत्व रखता था । वे भारत के द्रुत औद्योगीकरण तथा अपनी प्रतिरक्षा के लिए अधिक जिम्मेदारी लेने के उसके अधिकार के प्रबल समर्थक थे । वे अत्यंत सत्यनिष्ठ व्यक्ति थे और उन्हें सभी प्रगतिशील दलों का विश्वास प्राप्त था । जयकर के भाषण प्रायः श्रोताओं के गंभीर भावों को जागृत कर देते थे तथा अनेक अवसरों पर विधान सभाओं में उनकी हार्दिक प्रशंसा होती थी । उनकी व्याख्यान कुशलता तथा उनके विचारों की सत्यता एवं परिपक्वता से अत्यंत सुसंस्कृत श्रोतागण भी चकित रह जाते थे ।

जयकर आमूल परिवर्तनवादी राजनीतिज्ञ नहीं थे, परन्तु उनके उदारवाद का आत्मोन्नति के विचारों से कोई संबंध न था । अनुक्रियावादी सहयोग में उनकी निष्ठा ने उनके सरकारी पद स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं डाली । 1937 में उन्होंने भारत के संघीय न्यायालय में न्यायाधीश का पद तथा बाद में लन्दन में प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति के सदस्य का पद स्वीकार किया । जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, 1942 में उन्होंने यह पद छोड़ा था । परन्तु उन्होंने दृढ़ता के साथ के० सी० एस० आई० जैसी उपाधियां लेने से इंकार कर दिया । सरकार के साथ सहयोग की उनकी नीति का एकमात्र उद्देश्य राष्ट्रीय स्वाधीनता के हित को अग्रसर करना था; अतः ऐसे निरर्थक सम्मानों का उनके लिए कोई उपयोग न था । राष्ट्रीय स्वाधीनता के अतिरिक्त और किसी चीज में उनकी कोई रुचि न थी ।

सप्रू और जयकर जैसे व्यक्तियों द्वारा अपनायी गई उदारवादी राजनीति अप्रासंगिक हो चुकी थी । 1885 में कांग्रेस की स्थापना के समय से 1920 में महात्मा गांधी के राष्ट्रीय राजनीति में प्रवेश के समय तक इसे अजमाया गया, परन्तु यह अकिंचित्कर सिद्ध हुई । यह स्पष्ट था कि अंग्रेज तब तक देश छोड़ने को तैयार न थे जब तक कि उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य न किया जाता । इस लक्ष्य की प्राप्ति हिंसक उपायों से होनी असंभव थी, इसलिए गांधीजी का अहिंसक असहयोग का तरीका स्वीकार करना आवश्यक हो गया ।

जयकर गांधीजी के अनेक श्रेष्ठ गुणों की, विशेष रूप से जनता पर उनके प्रभाव की प्रशंसा करते थे, परन्तु उनकी सीधी कार्रवाई का तरीका उन्हें पसंद नहीं

था। वे जानते थे कि भारतीय परस्पर विभक्त हैं और अनुशासनहीनता के लिए कुख्यात हैं। उन्हें यह सिखाना कि विधि एवं व्यवस्था को चुनौती देना एक गुण है, केवल, वर्तमान और भविष्य दोनों में अस्थिरता और अव्यवस्था को न्यौता देना था। जयकर के भाषणों और लेखों से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता की मांग करने में वे भी उतने ही मुखर थे जितना और कोई कांग्रेसी हो सकता था। यह भी एक कारण था जिससे गांधीजी उनसे अलग होना कभी पसंद नहीं करते थे। लन्दन में प्रथम गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस की अनुपस्थिति के कारण उसकी कार्यवाही निश्चय ही प्रतिनिधिमूलक स्वरूप धारण न कर सकी। फिर भी, जैसा कि कुछ जानकार लोगों ने बताया जयकर की वहां उपस्थिति से कांग्रेस के दृष्टिकोण का पूरी तरह प्रस्तुत किया जाना सुनिश्चित हो गया। उनमें और कांग्रेस के नियमित सदस्य में केवल इतना अन्तर था कि वे कानून को तोड़कर जेल जाना पसन्द नहीं करते थे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सप्रू और जयकर जैसे लोगों के कोई राजनीतिक अनुयायी नहीं थे, परन्तु राष्ट्रीय राजनीति पर उनका प्रभाव कम नहीं था। 2 जनवरी, 1942 को सप्रू द्वारा ब्रिटिश प्रधान मंत्री चर्चिल को भेजे गए तार ने, जिस पर जयकर तथा कई अन्यों के हस्ताक्षर थे, ब्रिटिश मंत्रिमण्डल में तहलका मचा दिया था। इस तार में, जो 'सप्रू स्मारक' कहा जाता था, यह मांग की गई थी कि भारत के साथ ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के स्वशासी सदस्य के रूप में व्यवहार होना चाहिए। जैसा कि इस पुस्तक में पीछे बताया गया है, तार का समुचित उत्तर देना चर्चिल सरकार के लिए अति कठिन हो गया था तथा उसे जानबूझकर विलम्बित किया गया था। यद्यपि व्हाइटहाल ने भारतीय उदारवादियों के महत्व को कम करने की यथाशक्ति कोशिश की, फिर भी उसके लिए भी उनकी उपेक्षा करना असंभव हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध ने भारतीय उदारवाद को एक अत्यंत प्रासंगिक और तात्विक सिद्धांत के रूप में बदल दिया। युद्ध के बाद, भारतीय स्वतंत्रता का प्रश्न जब विश्व-व्यवस्था सुधार की बड़ी समस्या का अंग बन गया तो उसके संबंध में ब्रिटिश इच्छा या अनिच्छा की कोई बात ही न रही। मित्र राष्ट्रों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा में चर्चिल की सहायता करने के लिए युद्ध में शामिल नहीं हुए थे। इन परिस्थितियों में भारतीय उदारवादी नेता यह समझते थे कि कांग्रेस का कर्तव्य स्पष्ट हो गया है। वे चाहते थे कि संकट के उन वर्षों में वे ब्रिटिश सरकार को परेशानी में डालने के लिए कुछ भी न करें।

जयकर और सप्रू दोनों ने महात्मा गांधी से अनुरोध किया कि उस समय वे अधिकारियों से संघर्ष मोल न लें परन्तु उनके अनुरोध पर कोई ध्यान न दिया गया। इन नेताओं को अपने विश्वास पर दृढ़ रहने के लिए बहुत नैतिक साहस की आवश्यकता थी। दोनों को ग़लत समझा गया और बदनाम किया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के आरंभ से कई साल पहले के जयकर के इरादों और उद्देश्यों के बारे में भी असत्य कथन किया जाने लगा। उन्होंने बाध्य होकर इस ओर जनता का ध्यान इस प्रकार आकृष्ट किया, "जब मैं पूना जाता हूं तो कहा जाता है कि प्रबंध-परिषद का सदस्य बनने की कोशिश कर रहा हूं और जब नई दिल्ली जाता हूं तो कहा जाता है कि मैं वाइसराय के मंत्रिमंडल का सदस्य बनने की कोशिश कर रहा हूं। जब बम्बई के न्यायाधीश पद पर और बाद में मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्ति का प्रस्ताव किया गया तो उसके समाचार को मेरे दिमाग की उपज बताया गया। मैं क्या करूं?" परंतु जयकर ने अपने लिए जो मार्ग निर्धारित किया था उससे उन्हें कोई विचलित न कर सका। साहस को सबसे बड़ा गुण बताया गया है क्योंकि अन्य सभी गुण उसके पीछे-पीछे चलते हैं। जयकर निश्चय ही साहसी व्यक्ति थे।

उनमें और भी महान गुण थे। वे बहुत ऊंचे उठ गए थे परन्तु उन्होंने अशिष्टता या अभिमान को अपने जीवन संबंधी विचार को कभी विकृत नहीं करने दिया। सच्ची महानता के बावजूद उनमें वास्तविक मानवता रही। यहां तक कि वे सदा विनम्र रहे। पहले मैंने महात्मा गांधी के प्रति उनकी प्रंशसा की भावना का विस्तार से वर्णन किया है। यह उल्लेखनीय है कि जब उनका पुत्र देहरादून में पढ़ रहा था तो उन्होंने आबोटाबाद के सलामुद्दीन नामक एक मुस्लिम पठान को उसके लिए नौकर रखा था। यह आदमी जयकर के परिवार से बहुत मुहब्बत करता था और परिवार भी उसके साथ अपने एक सदस्य की भांति ही व्यवहार करता था। बम्बई में साम्प्रदायिक उपद्रवों के दौरान जयकर को चेतावनी दी गई कि वे उसे अपने मकान में न रखें। जिन उपद्रवकारियों ने उन्हें गंभीर परिणामों की धमकी दी थी, उनसे उन्होंने कहा कि आपसे जो कुछ हो सके कर लीजिए। मेरे पास मेरी रिवाल्वर तैयार है।[4] इससे सिद्ध होता है कि जयकर को साम्प्रदायवादी कहना कोरी कल्पना है।

और भी ऐसे कई उदाहरण हैं जिनसे यह जाहिर होता है कि वे अपने नौकरों का बहुत ख्याल रखते थे। मूलगांवकर ने लिखा है कि जब जयकर का नौकर

4. ए० जी० मूलगांवकर के साथ भेंटवार्ता।

गनपत पुणे में बीमार पड़ा तो उसे बम्बई लाने के लिए एक एम्बुलैंस गाड़ी विशेष रूप से भेजी गई। गनपत को इलाज के लिए एक प्रथम श्रेणी के नर्सिंग होम में भर्ती किया गया और वह तब तक वहां रहा जब तक स्वस्थ नहीं हुआ। निश्चय ही सारा खर्चा जयकर ने किया। वे अपने क्लर्क को अपने कार ड्राइवर के पास कभी नहीं बैठने देते थे। वे आग्रह करके सदा उसे अपने पास ही बिठाते थे।

यदि भारत को विभाजन के बिना ही और द्वितीय विश्वयुद्ध से बहुत पहले स्वतंत्रता मिलती तो जयकर को प्रसन्नता होती। उस स्थिति में भारत के समस्त लोगों को सत्ता हस्तांतरित होती। ऐसे भारत में जयकर जैसे बुद्धिमान और अनुभवी लोगों की मांग बढ़ जाती।

राष्ट्रीय मामलों ने जैसा मोड़ लिया था उससे जयकर स्वभावतः निराश हुए परंतु क्षुब्ध नहीं हुए। यद्यपि राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति के साथ ही उनका राजनीतिक जीवन समाप्त हो गया, फिर भी वे पूर्ववत् प्रसन्नचित रहने लगे। अब भी ऐसे अनेक विषय थे जिन पर उन्हें ध्यान देने की जरूरत थी। शिक्षा से भी उन्हें उतना ही प्रेम था, जितना कानून और राजनीति से। इसलिए वे उनकी ओर आकृष्ट हुए। 1948 में वे पूना विश्वविद्यालय के उप-कुलपति नियुक्त हुए और अप्रैल 1956 में अपनी सेवानिवृत्ति तक उसे विश्वविद्यालयों में एक सम्मानित स्थान दिलाने के लिए कठिन परिश्रम करते रहे।

उसके बाद वे अपना जीवन चरित्र लिखने लग गए। उसके वे केवल दो ही भाग निकाल पाए जिनमें 1873 से 1925 तक की घटनाओं का वर्णन था। तीसरा भाग, जो प्रेस में भेजे जाने के लिए तैयार था, प्रकाशित न हो सका। उन्होंने अपने लम्बे जीवन के समकालीन और ऐतिहासिक महत्व की पर्याप्त सामग्री एकत्र कर ली थी। इस संग्रह में रुचि रखने वाले विद्यार्थी इसे सर्वांश में भारत के राष्ट्रीय अभिलेखागार में देख सकते हैं। लम्बी बीमारी के बाद 10 मार्च, 1959 को बम्बई में जयकर का देहावसान हुआ। वे मृत्यु से कभी नहीं डरते थे; वे उसे एक ऐसी स्वाभाविक आवश्यक प्रक्रिया समझते थे, जो मनुष्य को शांत विस्मृति के गर्भ में ले जाती है। इस प्रकार उस महापुरुष का जीवन समाप्त हुआ जो एक सत्य-निष्ठ उदारवादी ही नहीं था बल्कि महान् सज्जन पुरुष भी था।

तिथिक्रम

पूरा नाम	.	मुकन्द राव रामराव जयकर
जन्म	.	13 नवम्बर, 1873
जन्म स्थान	.	बम्बई (महाराष्ट्र)
परिवार	.	पठारे प्रभुओं का मध्यवर्गीय परिवार ।
पिता का नाम	.	श्री रामराव जयकर
माता का नाम	.	श्रीमती सोनाबाई

बाल्यावस्था में ही पिता का देहान्त, माता व नाना श्री कीर्तिकर द्वारा पालन-पोषण ।

प्राइमरी शिक्षा के बाद एल्फिंस्टन हाई स्कूल, बम्बई से मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास की ।

मैट्रिक पास करने के बाद बम्बई के प्रसिद्ध सैंट जेवियर्स कालेज में भर्ती हुए । वहीं से सन् 1895 में बी० ए० की डिग्री प्राप्त की ।

1895 ई० में ही बम्बई के एल्फिंस्टन कालेज म भर्ती हुए और 1897 में एम० ए० की परीक्षा पास की ।

मई 1899 में श्री जयकर का विवाह सुशीलाबाई से हुआ ।

कानून (एल०एल०बी०) की प्रथम परीक्षा पास करने के बाद 20 अप्रैल, 1901 को इंग्लैंड रवाना । उद्देश्य था कानून की उच्च शिक्षा प्राप्त करना ।

स्वास्थ्य खराब हो जानें के कारण बम्बई वापस आ गए और 1902 में एल०एल०बी० की परीक्षा पास की ।

अप्रैल 1903 में कानून की उच्च शिक्षा के लिए फिर इंग्लैंड रवाना ।

आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से "डाक्टर ऑफ सिविल लाज" की डिग्री प्राप्त की ।

शीघ्र ही श्री जयकर नें उन दिनों के इंग्लैंड के प्रसिद्ध विधि वेत्ता मि० मार्क एल० रोमर से कानून की प्रैक्टिकल ट्रेनिंग प्राप्त की । इंग्लैंड में प्रवास के दौरान ही श्री जयकर नें प्रसिद्ध देशभक्त श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा से भेंट की ।

17 अप्रैल, 1905 को बम्बई वापस आकर आपनें एडवोकेट के रूप में शपथ ग्रहण की ।

इसी दौरान आपने भारतीय दर्शन एवं धर्म शास्त्रों का गंभीर अध्ययन किया।

23 मई, 1905 को आप प्रसिद्ध नेता श्री गोपाल कृष्ण गोखले से मिले ।

1906 में आप गवर्नमेंट लॉ स्कूल बम्बई के प्राध्यापक बने और 1912 तक इस पद पर रहे। जून 1920 में श्री जयकर ने ग्वालियर के महाराजा श्री माधवराव सिंधिया से "ब्रिटिश राज" के संबंध में चर्चा की।

मई 1917 में डॉ० जयकर ने नासिक में "महाराष्ट्र सामाजिक कान्फ्रेंस" की अध्यक्षता की जिसमें लोकमान्य तिलक जैसे महान नेताओं ने भाग लिया।

मार्च 1918--डॉ. जयकर ने बम्बई में हिन्दुस्तानी संगीत कान्फ्रेंस की अध्यक्षता की ।

26 जनवरी, 1918--डॉ० जयकर नें लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के आग्रह पर लोनावला में हुई "पूना जिला कान्फ्रेन्स" की अध्यक्षता की ।

डॉ० जयकर 1919 में बम्बई में महात्मा गांधी से मिले ।

19 नवम्बर, 1919 को बम्बई में प्रिंस ऑफ वेल्स के भारत आगमन का विरोध करने पर डॉ० जयकर को निर्दयता पूर्वक पीटा गया--इतना कि वे बेहोश हो गए ।

अगस्त 1920 को लोकमान्य तिलक का देहान्त हुआ जिन्हें डॉ० जयकर एक प्रकार से अपना नेता मानते थे। उनके देहान्त को जयकर ने अपनी "व्यक्तिगत हानि" बताया ।

1919 में ही डॉ० जयकर ने कांग्रेस द्वारा नियुक्त जाँच समिति की सदस्यता स्वीकार की जिसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार द्वारा पंजाब में किए गए अत्याचारों की जाँच करना था। डॉ० जयकर ने जाँच कार्य में पूरे मनोयोग से कार्य किया। उनके इस कार्य से देश के महान नेताओं के साथ उनकी गाढ़ी मित्रता हो गई। इनमें महात्मा गांधी, पंडित मोतीलाल नेहरू, पं० मदन मोहन मालवीय, सी०आर०दास, मोहम्मद अली जिन्ना तथा लाला लाजपतराय सरीखे नेता थे।

20 अक्तूबर, 1920--श्री जयकर ने होमरूल लीग (स्वराज्य सभा) की सदस्यता से विरोध स्वरूप त्यागपत्र दे दिया।

1920 में डॉ० जयकर ने नागपुर में हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लिया जिसकी अध्यक्षता श्री विजय राघवाचार्य ने की।

24 मार्च, 1922 को एक पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा--चाहे महात्मा गांधी और कोई भी कार्य करने में सफल हुए हों या न हुए हों उन्होंने निश्चय ही हमारी राजनीति को आध्यात्मिक बना दिया है।

24 जनवरी, 1921 को उन्होंने महात्मा गांधी के आह्वान पर बम्बई में चल रही अपनी शानदार कानूनी प्रैक्टिस छोड़ दी। इस प्रैक्टिस से उन्हें बहुत अच्छी आय होती थी। उन्होंने अपने और अपने परिवार के कीमती विदेशी कपड़ों की भी होली जला दी।

श्री जयकर ने अन्य नेताओं के साथ मिलकर एक प्रतिनिधि सम्मेलन का आयोजन किया। यह आयोजन 15 जनवरी, 1922 को बम्बई में हुआ और इसकी अध्यक्षता पं० मदन मोहन मालवीय ने की। इसमें महात्मा गांधी सहित लगभग 300 नेताओं नें भाग लिया। इसका उद्देश्य सरकार से यह आग्रह करना था कि वह गांधीजी व सरकार को मान्य शर्तों पर एक गोलमेज कान्फ्रेंस का आयोजन करें जिसमें देश की समस्याओं पर विचार किया जाए।

1923 में डॉ० जयकर नवगठित "स्वराज्य पार्टी" के सदस्य बन गए। स्वराज्यवादियों ने देश की विभिन्न धारा सभाओं में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

10 दिसम्बर, 1924 को डॉ० जयकर की पत्नी श्रीमती सुशीलाबाई का देहान्त हो गया।

18 अक्तूबर, 1924 को मुस्लिम शिक्षा शास्त्रियों की एक बैठक को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा--"मुस्लिम धर्म की पवित्र पुस्तक कुरान में लिखा है कि मेरी प्रार्थनाएँ, मेरे बलिदान, मेरा जीवन और मेरी मृत्यु "अल्लाह" के लिए है।" फिर अपने धर्मग्रंथ भगवद्गीता से उद्धरण देते हुए उन्होंने कहा-- "भगवान कृष्ण घोषणा करते हैं कि तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ बलिदान करते हो, जो कुछ खाते हो और जो कुछ दान करते हो सब मुझे समर्पित कर दो।"

1923 से 1926 तक डॉ० जयकर बम्बई धारा सभा के सदस्य रहे और उन्होंनें स्वराज्य पार्टी का नेंतृत्व किया ।

6 दिसम्बर, 1923—डा० जयकर ने श्री सी० आर० दास को लिखा कि "असहयोग कार्यक्रम" में खिलाफत के मुद्दे को सम्मिलित करना बड़ी भारी भुल होगी । कांग्रस पार्टी और राष्ट्रीय आंदोलन को मुस्लिम सम्प्रदायवाद से दूर ही रहना चाहिए ।

17 जून, 1926 को बम्बई के मुख्य न्यायाधीश ने उन्हें स्थायी न्यायाधीश बनाने का प्रस्ताव रखा लेकिन उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया ।

26 दिसम्बर, 1926 को एक धर्मांध मुसलमान ने स्वामी श्रद्धानंद की हत्या कर दी । इस पर डा० जयकर ने कहा "मैं लाला लाजपतराय द्वारा दिए गए संदेश से सहमत हूँ और हिन्दुओं से निवेदन करता हूं कि वे इस कार्य से उत्तेजित न हों बल्कि उस कार्य (हिन्दू–मुस्लिम एकता) के विषय में सोंचे जिसके लिए स्वामी जी नें बलिदान किया है । इस प्रकार की घटनाओं के बावजूद हमें एकता के कार्य को करते रहना चाहिए ।

19 मई, 1928—डॉ० जयकर पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में गठित समिति के सदस्य बने । इस समिति का कार्य स्वतंत्र भारत के संविधान के सिद्धांतों का निर्माण करना था और इसके सदस्य नेताजी सुभाष चन्द्र बोस, सर तेज बहादुर सप्रू, सर अली इमाम, श्री एन० एम० जोशी, एम० एस० अणे, जी० आर० प्रधान और सरदार मंगल सिंह सरीखे नेता थे ।

28 दिसम्बर, 1928—डॉ० जयकर ने सर्वदलीय कन्वेंशन में भाषण दिया और कहा कि सभी दलों और नेताओं को नेहरू रिपोर्ट का समर्थन करना चाहिए ।

1926 से 1930 तक डॉ० जयकर केन्द्रीय धारा सभा के सदस्य रहे और उन्होंनें नेशनलिस्ट पार्टी की उपाध्यक्षता की ।

23 फरवरी, 1928—डॉ० जयकर ने केन्द्रीय धारा सभा में सिफारिश की कि सरकार को सभी प्रान्तीय सरकारों और स्थानीय निकायों को आदेश दे देने चाहिए कि वे तथाकथित "अछूत" व अन्य पिछड़ी जातियों की शिक्षा का विशेष प्रबंध करें । डॉ० जयकर छुआ-छूत व जातिवाद के कट्टर विरोधी थे और मानव मात्र की एकता व समानता में विश्वास करते थे ।

1925 में "हिन्दू महासभा" की बम्बई शाखा की स्वागत समिति के अध्यक्ष के रूप में डॉ. जयकर ने घोषणा की कि इस संस्था को हिन्दू जाति के सामाजिक व सांस्कृतिक विकास का स्रोत बनना चाहिए। वे चाहते थे कि हिन्दू महासभा सभी हिन्दूओं में समानता, एकता व भ्रातृ-भाव उत्पन्न करने और छुआ-छूत व ऊँच-नीच के भेद-भाव को समाप्त करने के लिए कार्य करे। इस संबंध में वे डॉ० भीमराव आम्बेडकर के विचारों से पूरी तरह सहमत थे।

फरवरी 1924 में डॉ० जयकर बम्बई विधान परिषद के सदस्य बने और विरोधी स्वराज्यवादी नेता के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

नवम्बर 1926 में वे केन्द्रीय धारा सभा (नई दिल्ली) के लिए चुने गए।

सितम्बर, 1927 में डॉ० जयकर ने रायसाहिब हरबिलास शारदा द्वारा पेश किए गए बिल का दृढ़ता से समर्थन किया। इसका उद्देश्य हिन्दुओं में होने वाले बाल-विवाहों का विरोध करना था। वास्तव में वे प्रत्येक प्रगतिशील और अच्छे कार्य का समर्थन करते थे।

5 नवम्बर, 1927 को डॉ० जयकर ने साइमन कमीशन के संबंध में वाइसराय से भेंट की। उन्होंने स्पष्ट कहा कि हमारे लिए कमीशन का समर्थन करना असंभव है। ऐसा हम केवल सम्मानजनक शर्तों पर ही कर सकते हैं।

जुलाई 1930 में डॉ० जयकर ने पं० मोती लाल नेहरू की सलाह पर सर तेज बहादुर सप्रू के साथ मिलकर कार्य करना आरंभ किया।

23 व 24 जुलाई, 1930 को श्री जयकर व सर तेज बहादुर सप्रू ने राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए गांधीजी से जेल में भेंट की।

27 व 28 जुलाई, 1930--डॉ० जयकर व सर तेज बहादुर सप्रू ने नैनी (इलाहाबाद) जेल में पं० मोती लाल नेहरू व पं० जवाहरलाल नेहरू से भेंट की।

14 व 15 अगस्त, 1930 को डॉ० जयकर तथा सर सप्रू नें महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरू तथा मोतीलाल नेहरू, सरदार पटेल आदि नेताओं से राष्ट्रीय समस्या के समाधान के लिए चर्चा की।

21 अगस्त, 1930 को डॉ० जयकर तथा सर सप्रू ने वाइसराय लार्ड इर्विन से भेंट की और उन्हें राष्ट्रीय नेताओं के विचारों से अवगत कराया।

3 व 5 सितम्बर, 1930 को फिर डॉ० जयकर ने महात्मा गांधी व अन्य राष्ट्रीय नेताओं से भेंट की।

16 फरवरी, 1931 को उन्होंने फिर सर सप्रू व श्रीनिवास शास्त्री के साथ वाइसराय लार्ड इर्विन से भेंट की।

17 फरवरी, 1931 को फिर डॉ० जयकर ने दिल्ली में महात्मा गांधी से लार्ड इर्विन का संदेश लेकर भेंट की।

5 मार्च, 1931 को श्री जयकर के प्रयत्न स्वरूप गांधी—इर्विन पैक्ट हुआ।

20 जून, 1932 को डॉ० जयकर को वाइसराय लार्ड विलिंगडन से एक अपमान जनक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें उन पर वाइसराय से हुई अपनी बातचीत को प्रकाशित करा देने का आरोप लगाया गया था?

19 जुलाई, 1932 को डॉ० जयकर ने बम्बई के पुलिस कमिश्नर को बड़ा कड़ा पत्र लिखा और कहा कि भारत के हर नागरिक का अधिकार है कि वह अपने देश की स्वतंत्रता के लिए कार्य करे।

12 नवम्बर, 1930—डॉ० जयकर ने अन्य भारतीय नेताओं के साथ लंदन में प्रथम गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया।

10 सितम्बर, 1931 को डॉ० जयकर ने वाइसराय लार्ड इर्विन से लंदन में भेंट की।

25 नवम्बर, 1931 को डॉ० जयकर ने फेडरल स्ट्रक्चर कमेटी के सम्मुख बहुत सुन्दर भाषण दिया।

17 नवम्बर, 1932 को डॉ० जयकर ने तीसरी गोलमेज कान्फ्रेंस में भाग लिया। यह कान्फ्रेंस 17 नवम्बर, 1932 से 24 दिसम्बर, 1932 तक लंदन में हुई।

15 सितम्बर 1928—डॉ० जयकर को भारत सरकार की ओर से एक पत्र प्राप्त हुआ। इसमें उन्हें दक्षिणी अफ्रीका में भारत का एजेन्ट नियुक्त करने का प्रस्ताव था। लेकिन उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया।

अक्तूबर 1937 में डॉ० जयकर नें भारतीय फेडरल कोर्ट के जज का पद स्वीकार किया।

27 दिसम्बर, 1932--डॉ० जयकर ने सर सप्रू के साथ मिलकर प्रस्तावित संविधान पर ज्ञापन प्रस्तुत किया जो कि बहुत महत्वपूर्ण था।

अप्रैल 1933--डॉ० जयकर और सर सप्रू को ब्रिटिश संसद की दोनों सदनों को समिति का सदस्य बनाया गया जिसका उद्देश्य भारत की संवैधानिक आवश्यकताओं पर विचार करना था।

अक्तूबर 1937 में डॉ० जयकर ने "फेडरल कोर्ट ऑफ इंडिया" के न्यायाधीश का पद स्वीकार किया।

1937 व 1938--डॉ० जयकर महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन की स्वागत समितियों के अध्यक्ष बने।

जनवरी 1939--डॉ० जयकर प्रीवी कौंसिल की जुडिशियल कमेटी के सदस्य बने।

2 जनवरी, 1942--डॉ० जयकर और सर तेज बहादुर सप्रू ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल को तार दिया जिससे उनकी मंत्रिपरिषद में खलबली मच गई।

मार्च 1942 को डॉ० जयकर ने प्रीवी कौंसिल की जुडिशियल कमेटी से त्याग पत्र दे दिया।

3 अगस्त, 1941 को डॉ० जयकर ने पुणे में बोलते हुए गांधीजी व कांग्रेस से सत्याग्रह आंदोलन को वापिस लेने तथा प्रान्तों में लोकप्रिय सरकारों के गठन की अपील की।

14 अगस्त, 1941 के अपने भाषण में डॉ० जयकर ने ब्रिटिश सरकार के पाकिस्तान में गठन की योजना का तथा देश के बटवारे का विरोध किया।

जनवरी 1942--डॉ० जयकर ने मुस्लिम लीग व अंग्रेजों की देश-विभाजन की नीति का विरोध किया। उन्होंने हिन्दू महासभा के तत्कालीन हिन्दू अध्यक्ष श्री वी० डी० सावरकर को इस आशय का पत्र लिखा।

16 मार्च, 1942--डॉ० जयकर ने भारत के एडवोकेट जनरल सर बी० एल० मित्तर को क्रिप्स मिशन के संबंध में पत्र लिखा।

5 अप्रैल, 1942--डॉ० जयकर ने सर तेज बहादुर सप्रू के साथ मिलकर एक ज्ञापन तैयार किया जिसे सर स्टेफर्ड क्रिप्स को प्रस्तुत किया। क्रिप्स स ज्ञापन से बहुत प्रभावित हुए।

नवम्बर-दिसम्बर, 1944 --डॉ० जयकर ने सर तेज बहादुर सप्रू द्वारा स्थापित संविधान समिति के लिए "संविधान का मसौदा" तैयार किया जिसमें स्वतंत्र भारत के लिए गणतंत्रीय संविधान का सुझाव दिया गया था।

दिसम्बर, 1946--डॉ० जयकर कांग्रेस के टिकट पर धारा सभा के सदस्य चुने गए। 10 दिसम्बर को धारा सभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा कि संविधान निर्माताओं को कोई ऐसा निर्णय नहीं लेना चाहिए जिससे दो महत्वपूर्ण पार्टियों का एक साथ कार्य करना कठिन व असम्भव हो जाए।

1938--डॉ० जयकर महाराष्ट्र के लिए एक अलग विश्वविद्यालय की स्थापना कराने में सफल हुए। इसका नाम पूना विश्वविद्यालय रखा गया। और डॉ० जयकर इसके प्रथम अवैतनिक उपकुलपति बने। वे इस पद पर 1956 अप्रैल, तक रहे।

10 मार्च, 1959 को लम्बी बीमारी के बाद महान देशभक्त और स्वतंत्रता के अनथक योद्धा डॉ० जयकर का बम्बई में देहान्त हो गया।

GIPN—S. 2—262 M. of I. & B./ND/82—23-2-84—2000.

आधुनिक भारत के निर्माता

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार